आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

॥ अष्टपदी ॥



सातवाँ सोपान : **अष्टपदी**

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के संस्मरण-आत्मकथात्मक-सृजन का सातवाँ सोपान है – **अष्टपदी**। वस्तुतः, लेखक की जो संस्मरण-यात्रा 1968 में 'स्मृति के वातायन' से आरम्भ हुई थी, 'अष्टपदी' उसका एक और, सबसे ज्यादा ख़ूबसूरत, पड़ाव है – मृत्यु की परछाईयों, शारीरिक एवं मानसिक यातनाओं के बावजूद सर्वाधिक सुन्दर ! **अष्टपदी** में एक ऐसे उदात्त की अवतारणा हुई है जिसे नभ की बुलन्दियों से ज़मींन पर उतारा गया है। अन्धकार का सीना चाक कर शुभ्र धवल प्रकाश का सन्धान है **अष्टपदी**। किसी सिद्ध योगी की-सी तन्मयता के अभाव में यह सृष्टि सम्भव नहीं। **समाधिगत जन ही ऐसा लिख सकते हैं**। – निराला ने शास्त्री जी की **'गाथा'** के सम्बन्ध में यह टिप्पणी की थी जो **अष्टपदी** पर भी अक्षरशः चरितार्थ होती है। अनुभव की विराट्ता, बहुपठितता, शास्त्रज्ञता, गहन मनन-चिन्तन, हृदय की पारदर्शिनी स्वच्छता, अभूतपूर्व विदग्धता और ऋषिकल्प व्यक्तित्व के अभाव में सरस्वती को इस रूप में सिद्ध नहीं ही किया जा सकता।

इन संस्मरणों का प्रसार अनन्त है, जैसे सब कुछ को समेट लेने का प्रयास ! कहीं कुछ अनदेखा न रह जाए, कुछ अनकहा न रह जाए, अनानुभूत न रह जाए। वह जो सम्पूर्ण है, सब का सब प्राणों के भुजपाश में सिमट आए।

पढ़ना शुरू करते ही मनोयोग खुद-ब-खुद जुट जाता है और पाठक अनुभूति के एक के बाद एक नए दौर से गुज़रता है – उत्सुक-सा, चकित-विस्मित-सा, काव्य-शास्त्र-विनोद से आनन्दित होता-सा, झुंझलाया-सा ... और रस के छलकते हुए प्रवाह में ऊभ-चूभ होता हुआ-सा !

सम्प्रेषण की प्रक्रिया में मन-प्राण-बुद्धि की गहराइयों तक घर करती यह कृति; निस्सन्देहः; आत्मकथात्मक-संस्मरण-साहित्य का नवीनतम प्रतिमान गढ़ सकी है।

–पाल भसीन

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

अष्टपदी

प्रीति मन्दिर प्रकाशन

अष्टपदी

प्रीति मंदिर प्रकाशन

अष्टपदी

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

□ **प्रकाशक** : प्रीति-मंदिर-प्रकाशन
1/6816, पूर्वी रोहतास नगर
शाहदरा, दिल्ली-110032

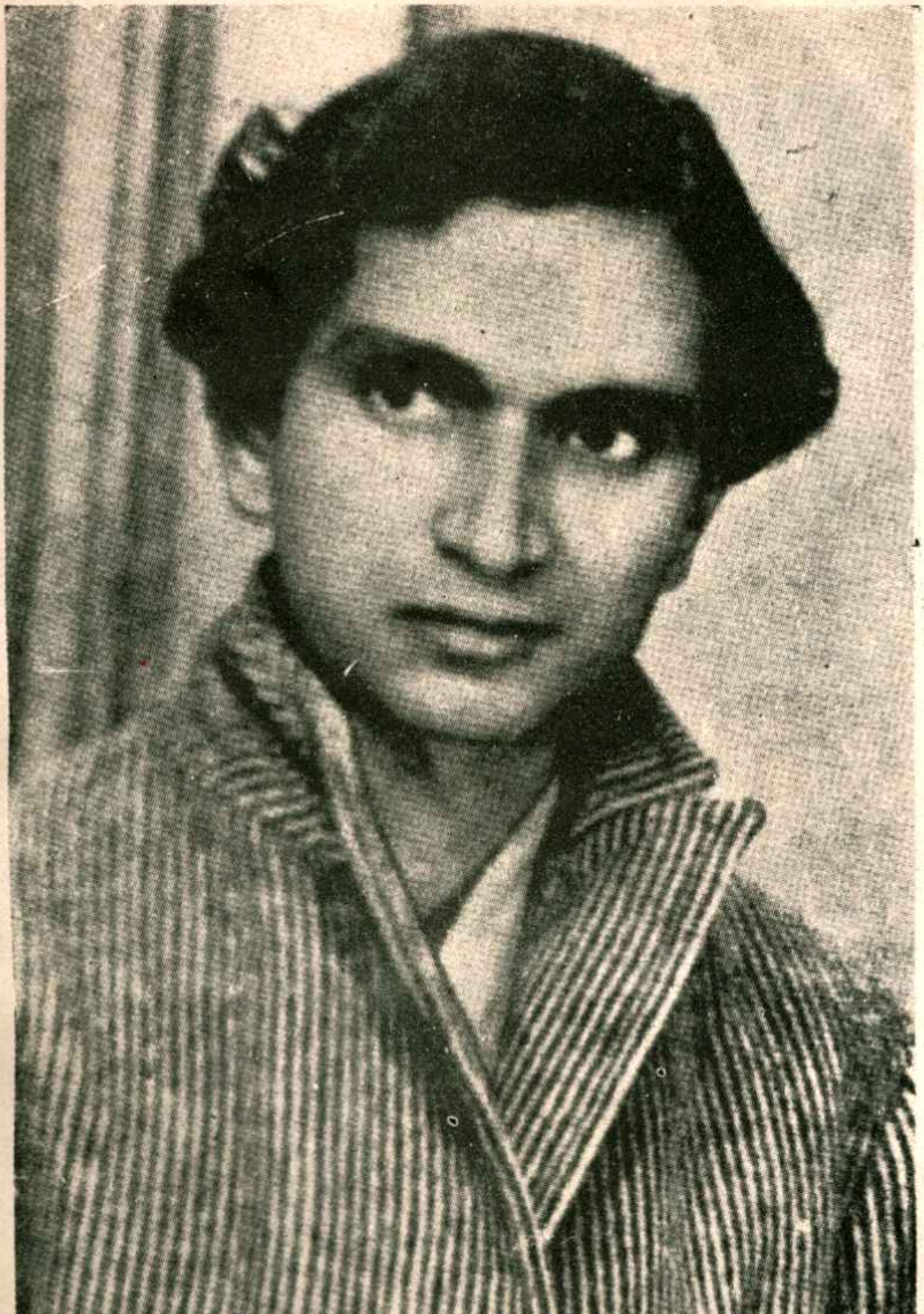
□ **प्रथम संस्करण** : फरवरी 1992

□ **मूल्य** : एक सौ पचास रुपये मात्र

□ **आवरण** : जे० मार्टिन

□ **मुद्रक** : पङ्कज प्रिण्टर्स
मौजपुर, दिल्ली-110053

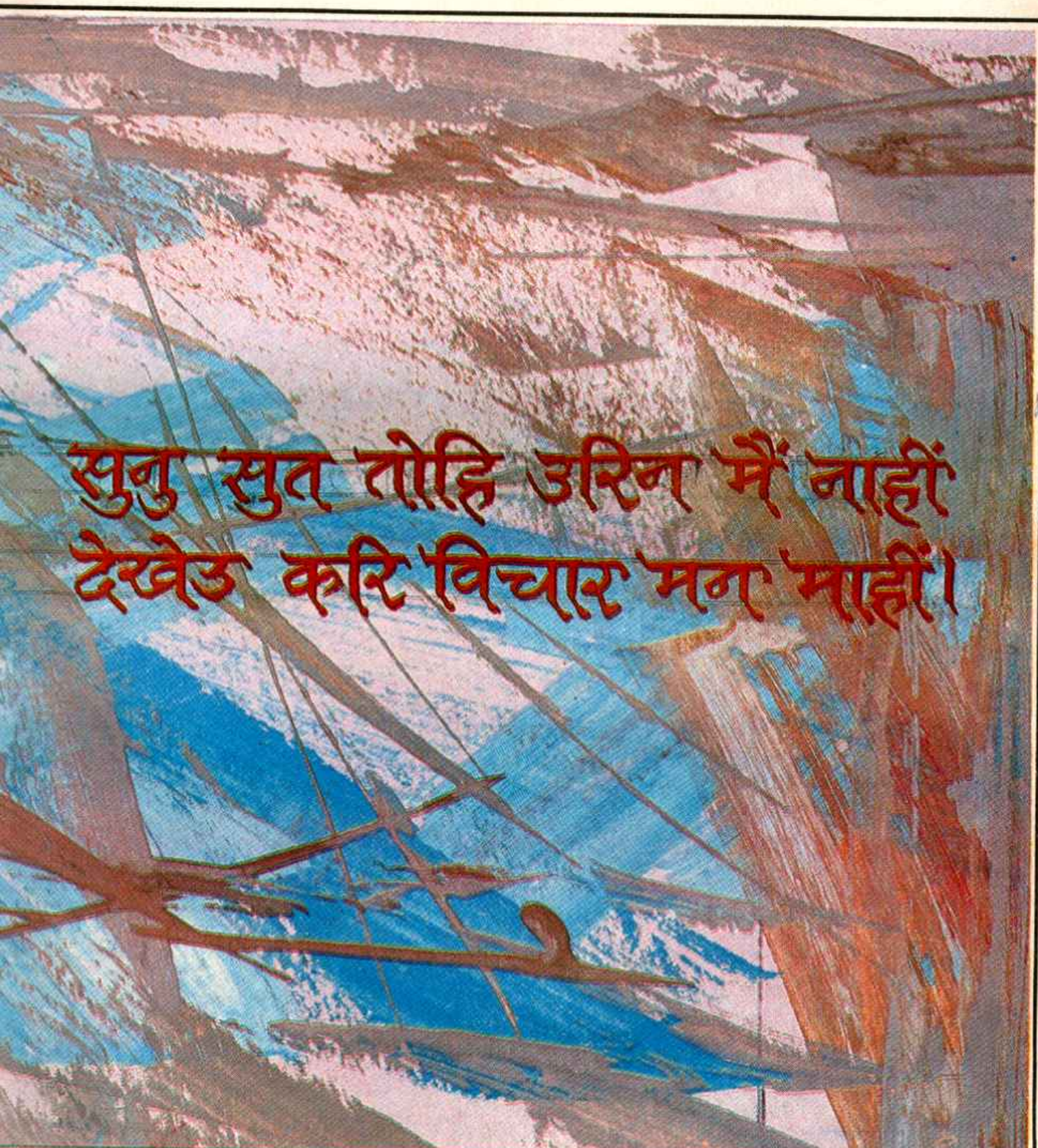
ASHTAPADI : *by* Acharya Janki Vallabh Shastri
Rs 150/-



आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री
{जबलपुर (1941) में}



श्री संजीव कुमार



अष्टपदी

आठ डग और

ईश्वर का रूप मनुष्य ने निरूपित किया है। उसे नाम लेकर पुकारा भी उसी ने है।

इतने पर भी वह इसका ठीक-ठीक दावा नहीं कर सकता कि उसने जिस रूप की परिकल्पना की है, एकमात्र वही ईश्वर का सही रूप है या कि जिस नाम से उसे पुकारा है, वही उसका वास्तविक नाम है।

कभी सोचा भी न था कि मुझे जो जीवन जीने की बाध्यता रही, उसे हू-ब-हू लिख डालने की दुहरी यन्त्रणा भी मुझे ही झेलनी होगी।

यों जीवनी का नाम देकर कोई मेरी एक कल्पित कहानी लिख मारता उससे तो शायद यह भी बुरा न हुआ कि मेरा जीवन निखूट सत्य से कतरा कर मनगढ़ंत बातों के चंगुल में न फँसा।

नज़र पर चढ़ जाने वाला ऐसा कोई फेर-बदल या उतार-चढ़ाव मेरे जीवन में नहीं है। पढ़ने-पढ़ाने में ही उमर सिराई।

एक तरह से कच्ची सड़क पर बैलगाड़ी चल ही रही थी कि १८-७-'८५ को मुँह अँधेरे वह दल-दल में फँस गई। मज़ा आ गया।

दबाव मानना स्वभाव में नहीं है। अँगूठा नचा कर यारों ने मना किया : कुत्ते-बिल्लियों के साथ रहना छोड़ो, चैन उड़ाओ। सारी कमाई गौओं पर लुटा देते हो, और जब देखो तब चेहरा उतरा रहता है।

वाकई चालीस साल मेरे ऐसे ही बीते हैं। संख्या में अधिक साँढ़ और बछड़े हैं। बेचना तो दूर, मैं उनमें और गायों में कतई भेद-भाव नहीं बरतता। गाएँ मेरी माएँ हैं। सौतेली नहीं, सगी। तो वे कौन हुए? बैल यहाँ कोई नहीं।

कभी-कभी महीनों दूध के दर्शन नहीं होते, कभी एक-साथ कई-कई नन्हे-मुन्ने आ जाते हैं। अपनी छोटी-सी गृहस्थी में दो-चार लिटर से ज्यादा दूध की जरूरत नहीं होती। बाकी का दूध बछड़े पीते हैं। छुट्टे घूमते हैं। मेरे लिए दूध बेचना गाली या शाप-जैसा है।

आदतन सवेरे चार बजे तैयार हो पिताजी का मन्दिर खोलकर, गउओं को अपने हाथ से घास का पहला ग्रास देता रहा था। नौकर तो दिन भर खिलाता ही है।

उस रोज कुछ जल्दी जग कर तैयार हो गया था और लाइन कटी होने से **कृष्णायतन** (गोशाला) में गिन-गिन कर पैर रख रहा था कि छुट्टे घूमते बछड़ों के साथ चार महीने की उमा पूँछ उठाए आई और थूथनी फुला कर बादल में थिगली लगा दी। औचक के हुत्थे से बाएँ कूल्हे की हड्डी टूट गई। पाँच महीने पटना के पी० एम० सी० एच० और तीन महीने दिल्ली के ऑल इण्डिया मेडिकल रिचर्स इन्स्टीच्यूट में रहने के बाद किसी प्रकार बाकी की ज़िन्दगी छड़ी टेक कर चलने के लायक बच गई।

'अष्टपदी' में अस्पताल के बिस्तर पर पड़ा-पड़ा सन् '४० से '४८ तक के आठ वर्षों के संघर्षों को दुबारा जीता रहा था। उन्हीं दिनों मुजफ्फरपुर आया था। सोच का भूगोल छोटा होने से बात रमना (मुजफ्फरपुर) में ही घूमती-फिरती रह गई है। कोई ऐसी खास बात भी नहीं, बस, एक आसक्ति-हीन निर्ममता की-सी बात, जो वेदना की पैनी सान पर चढ़ कर भी भोंडी ही रह गई। यों वहाँ की फूलों की ज़मीन ऐसी थी जहाँ छाले पड़े पाँवों को भी काँटा लगना सम्भव न था।

ग्यारह की उमर में घर छोड़ दिया था। पन्द्रह पार करते-करते बनारस पहुँच गया था। B.H.U. के छह साल (सन् '३२ से '३८ तक) के अन्दर ही कुछ दिन लाहोर और कुछ महीने रायगढ़ रह आया था। तेईसवें वर्ष में मुजफ्फरपुर आया। यहाँ लगातार आठ वर्ष नगर-पिता राय बहादुर बाबू उमाशंकर प्रसाद मेहरोत्रा की छत्रछाया में बिताए। यों चौरस्ते की ज़िन्दगी मुझे झुग्गी-झोंपड़ियों की ओर ही खींचे लिए जाती थी, मगर संयोग ऐसा कि रायगढ़ के राज प्रासाद से छूटा तो रमना के बंगले पर आ गिरा। आठ बरस धूल झाड़ता रहा, पर रायगढ़ की रज राजस थी, तन से झड़ी, मन में इकट्ठी होती गई।

'हंसबलाका', 'कर्मक्षेत्रे : मरुक्षेत्रे' और 'एक असाहित्यिक की डायरी' में मौजें बिफर-बिफर कर उठीं और डूबी हैं। हवा के झक्कड़ उन्हें छाती से उठा कर दूर-दूर तक रेत पर भी फैलाते रहे हैं। मौजों का पानी कुछ रेत में सूखा, कुछ पानी-पानी होकर रह गया।

'अष्टपदी' उन्हीं मौजों की अगली मेखला है। इसमें मैंने अपने अंधेरे की तपिश चिराग को भी दिखा दी है, चाँद को भी। यह मेरे जीवन की समीक्षा भी है, जीवन-दर्शन भी।

आँसू टपका कर ज़मीन को आसमान नहीं करार दिया जा सकता। ज़िन्दगी की हर साँस का एक अपना ब्यौरा है; हर लम्हे की अपनी भाग दौड़। हर मटमैली शाम सुनहले सवेरे के किस्से सुनाती है।

एक तंग कोठरी में पड़ा-पड़ा खिड़की की राह सड़क की चहल-पहल देखता रहा हूँ। कुछ सहल हुआ कि गाँठ और ऐंठ गई, नहीं जानता। दिल का घाव बेशक खुल गया है। वाही-तबाही बकी है या कि फिर जिसका चाहा हुआ, उसी की नीयत पर सिर टेका है! रात भूखी सोई या सवेरा प्यासा जगा?

बिना जले काठ अंगारा हो गया या अंगारा कठुआ कर राख?

मन ने क्या-क्या सोच डाला, प्राणों ने क्या-क्या अनुभव किया,—गाछ की छाल पर सूनेपन ने क्या खोदा!

अन्धेरे के सैलाब में धुँधलाई स्मृतियों के शबाब-सा यह क्या बह आया?

× × ×

दुख के दिन अपने-परायों को गड्ड-मड्ड कर देते हैं। एक लम्बे अरसे से जिन्हें सगा और अपना समझने का व्यामोह पाला जाता है, गाढ़े वक्त में उनकी तोताचश्मी, और ठीक इसके उल्टे मन जिनसे अलग-थलग रहने का अभ्यासी होता है ऐन मौके पर हालात से उनकी गहरी दिलचस्पी एक अजब-सी उथल-पुथल मचा देती है। जैसे ढेर सारे गुब्बारों को एक पिन ने थोड़ा हटकर आड़े-तिरछे छू लेने की गुस्ताखी की हो।

अपनापन टटोलने में मुझे मजा नहीं आता। चौंकाने वाले नतीजों का इन्तजार भी मुझे नहीं रहता। खूब बातें उड़ाने वाले जब चुप्पी साध लेते हैं तो उसके फौरन बाद मेरी रीढ़ भी पिलपिली नहीं होती। सच तो यह कि हवा बाँधने वालों से मेरी नियति की डोर कभी न बँधी।

पाँच महीने पटना मेडिकल कॉलेज हास्पिटल के वी०आइ०पी० वार्ड

के एक स्वतन्त्र कमरे में मैं जिनकी बदौलत रहा—वह मुजफ्फरपुर के कम्युनिस्ट नेता कामरेड रामदेव शर्मा केवल मानवता से प्रतिबद्ध होने के कारण ही मुझ विजनवादी, दुर्गतिशील के लिए इतना सब कर सके। और दिल्ली के आयुर्विज्ञान संस्थान तक मुझे पहुँचानेवाले पाल भसीन ने तो विश्वविख्यात नेता श्री अटलबिहारी वाजपेयी और अभिनेता अमिताभ बच्चन तक दौड़ लगाई थी। मेरी थकान कृतज्ञता के परों उड़ती है कि जैसे घोंसलों में दुबके पंछियों को चहकाने के लिए ही सूरज सुदूर से चल कर आ गया हो !

यों भी समर शेष है। अगले युद्ध के लिए कवच उतार कर सुस्ताना ज़रूरी था। नेज़े की अनी पर दर्शकों के दिल पिरोने को तमन्ना तो कभी न थी। मेरे झूम-झूम कर चलने का अन्दाज़ भी समरभूमि में उतरने का-सा हर्गिज न था। जूझना अपने आपसे था। सूरज को तरफ पीठ जो कर ली थी; अपनी ही छाया दिखती थी।

जो भले-चंगे हैं; विषाद ने जिन चेहरों को उदास नहीं किया है, वह पटना में श्री कर्पूरी ठाकुर और दिल्ली में श्री अटलबिहारी वाजपेयी जी की मानवीय आन्तरिकता को हाट-बाट में बिकनेवाली भद्रता भर समझ सकते हैं, अवश्य मेरे लिए वह सुख दुर्लभ मनुष्यता थी जिसने मेरी अन्तर्दग्ध अपात्रता को नज़र-अन्दाज कर अपनी ही शीतल उदात्तता से मेरी छटपटाती तनहाइयों को भरोसे का स्वर दिया।

पटना में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्कालीन निदेशक कविवर श्री रामदयाल पाण्डेय और दिल्ली में जनसत्ता के श्री सुरेश शर्मा प्रतिदिन पधारनेवालों में थे।

और दिल्ली में नवगीत के सुमेरुमणि श्री देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', चर्चित कवि-आलोचक डॉ॰ राजेन्द्र गौतम और यशस्वी कवि-कथाकार श्री पाल भसीन ने जो मेरी झूलती हड्डियों को मिट्टी की सख्ती दी, पीले होंठों को आकाश की ललाई और जिनकी बेपनाह मुस्तैदी की बदौलत मेरी पिछली रात अगली सुबह देख पाती थी, उनके प्रति निर्जल सङ्कल्प से काँपती कृतज्ञता के अतिरिक्त और क्या कुछ ज्ञापित कर अन्तर की निस्पन्द यन्त्रणा को निर्निमेष आनन्द में रूपान्तरित किया जा सकता है—'या देखेछि, या पेयेछि, तुलना तार नाइ।

जीवन के अपराह्ण में, जब हृदय पर पत्थर रखकर रेत-रेत चलने

की विवशता होती है, उदासियों की परतें हटाकर नई तरह से ज़िन्दगी तराशने का हौसला बढ़ाने आनेवालों में सर्वश्री डॉ० प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, डॉ० माहेश्वर तिवारी और डॉ० कुँअर बेचैन जैसे साहित्य के शृङ्गार-हारों ने अर्थहीनता में असह्य मेरी छाती की सीलन को थोड़ी धूप दी; दिल में हौल नहीं बैठने दिया, उन्हें इस जनम में कैसे भूल सकता हूँ ?

चुप्पी की चीख, जलते होंठों से फिसलते स्वर। ज़िन्दगी की आवाज़ जब निजात को आवाज़ दे रही थी; मेरी हल्की-से-हल्की पुकार की प्रतिध्वनि भी निर्जन अँधेरे में भटक जाती थी,—ये और ऐसे ही कितने दूसरे आए थे; आते थे। बहुत बड़े दुःख का यही छोटा-सा सत्य है।

जिनकी खूब चढ़ बनी है उनके गुण छाँटना मुमकिन नहीं; किसी के भी बूते के बाहर है; किन्तु जब-तब उन्होंने भी मेरी सुध ली। कील-काँटों से दुरुस्त होकर आए: 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'; 'इस उम्र में सँभलना सम्भव नहीं', 'कीर्तिर्यस्य स जीवति।' बल निकालने का मौका न मिलने पर भी बात रख ली।

लहरें गाती हैं या किनारे पर सर फोड़ती हैं, कोई अनकही सुनने-वाला ही सही फैसला दे सकता है।

तड़के चार बजे विस्मय की जड़ता में नए कल पर आज को टाल देने के अभिप्राय से आँखें खुल जाती थीं। इन आँखों में कितनी दूरियाँ और कितनी यादों का बसेरा होता था। सुनाई में आ सकने भर स्वर में बोलते-बतराते दिन ढलने को होता, [एयरकण्डिशण्ड कमरे में धूप कभी छूने को तो नहीं मिलती थी, खिड़कियों के काँच से उसके कुछ करिश्मे दिख जाते थे] और जब शाम के साए धुएँ की तरह आहिस्ता-आहिस्ता ढलान की तरफ मन की पगडंडी पर उतर रहे होते, मुजफ्फरपुर के भी कोई न कोई आ जाते थे।

श्री अवन्ती लाल जी तो आते ही आते थे। कैसी भी व्यस्तता हो, मेरी सुधि उनके हृदय के ओने-कोने भटकती रहती थी।

सर्वश्री ब्रह्मदेव शास्त्री, शास्त्री बलदेव राज 'शान्त', डॉ० रामस्वरूप अग्रवाल, डॉ० पद्माशा, आभा रानी, मुन्नी, डॉ० रामकृपाल सिंह, मृदुला सिंह, डॉ० रेवतीरमण, अचल जी आदि

कितने ही संवेदनशील आदरणीयों और स्नेहियों ने समय-समय पर पधार कर मेरे सपनों को जगाया था।

दिल्ली जाते समय प्रो० उदय शङ्कर सिंह और प्रो० ब्रह्मनारायण सिंह ने मेरे लिए एम्बुलेंस और सहयात्रियों के लिए कारों की लाइन लगा दी थी, यहाँ आँखें उन्हें सब दिन ढूँढ़ती रहीं।

मैं अपने वृहत्तर परिवार (गउओं, कुत्ते, बिल्लयों, नेवलों, पंछियों, पेड़-पौदों) को छोड़ कर अस्पताल क्या, सदेह स्वर्ग भी नहीं जा सकता था। छाया जी के दोनों भाइयों ने बारी-बारी से उत्तरदायित्व सँभाल कर अस्पताल के योग्य मेरा मन बनाया। बड़े भाई श्री रामपदार्थ मिश्र अपनी छोटी बेटी पूनम के साथ पाँच महीने यहाँ रहे जब मैं पटना प्रवास में था। उनका बड़ा बेटा प्रो० उदय शङ्कर देव मेरे साथ ही अस्पताल में रहा।

छोटे भाई जयमङ्गल मिश्र अपनी पत्नी के साथ तीन महीने यहाँ रहे जब मैं दिल्ली हास्पिटल में था। और जिनसे बिलग होने की कभी इच्छा ही न हुई, उन्हें धन्यवाद क्या दूँ?

दिल्ली से पटना आए पाल भसीन, बम्बई से पधारे श्री हरिश्चन्द्र, गया से डॉ० मारुति नन्दन पाठक, मुजफ्फरपुर से सपरिवार परमेश्वर लाल जी केजड़ीवाल, अमिताभ मेहरोत्रा, और हाँ, इसी क्रम में कनाडा से पधारे बैरिस्टर श्री वीरेन्द्र कुमार झा को कैसे भुलाया जा सकता है?

पटना के अस्पताल से जब लौटा, कविवर अचल, नागदंश और नन्दू बाबू के सहयोग से सरैयागंज के गाँधी चौक पर मेरे नाम का विशाल गेट बना हुआ था; पंकज मार्केट में मेरी आरती उतारी गई और मुझे फूलमालाओं से लाद दिया गया था। नगरपालिका के तत्कालीन अध्यक्ष कविवर श्री शिवदास पाण्डेय ने निरालानिकेतन के कैम्पस में शामियाना खड़ा करवाया था; कुर्सियाँ सजवाई थीं; चाय-नाश्ते का इन्तजाम किया था। फोटोग्रैफी प्रो० उदयशङ्कर सिंह के लड़के ने की थी। उसका फ्रेम कराया हुआ मेरा एक चित्र आज भी 'छाया-तप' के बराम्दे में टँगा हुआ है।

इस बार दिल्ली से लौटने का ढंग कुछ और था। अवन्ती लाल जी ने एयर-कण्डिशण्ड कम्पार्टमेंट में सीटें रिजर्व करवाई थीं और स्वयं फ़्लाइट से पटना पहुँच गए थे। वहाँ उनके अनुज हृदय जी ने हमें गाड़ी

पर बहुत जतन-जुगुत से बिठलाया। ब्रह्मदेव शास्त्री, कल्याणीया प्रीति (रानी) और पाल भसीन, बाबुल (सुपबित्र) तथा आदरणीय इन्द्र जी, गौतम जी आदि स्नेही-बन्धुओं के दल ने सजल बिदा दी और जब तड़के सुबह हम मुजफ्फरपुर पहुँचे, अवन्तीलाल जी स-दल-बल मालाएँ लिए प्लैटफार्म पर हँस रहे थे।

अब संगिनी छाया, पुत्री शैलबाला, नन्दिनी रश्मि और कवि-कलाकार जामाता प्रभात चन्द्र मिश्र ने मेरे लिए कितना सहा, क्या-क्या किया, इसका लेखा-जोखा लेना मेरी अनगढ़-अनपढ़ कृतज्ञता के लिए कठिन है।

निराला-निकेतन **जानकी वल्लभ शास्त्री**

१.१.'६२

अन्धड़ में उड़ आए पत्ते-सा मैं जहाँ गिरा, वह जगह मिट्टी-मिट्टी न रह कर, ईंट-पत्थर हो गई थी। आजू-बाजू जो भी वृक्ष खड़े थे उनके स्वच्छ वक्ष से रंगीन कोंपलें फूट निकलती दीखती थीं। फूली-फूली हवाएँ रह-रह कर बह रही थीं कि जिनके अशरीरी स्पर्श से निष्फल थकी-पड़ी छाँहें करवट बदलने लगती थीं।

मैं जहाँ गिरा वहाँ से अपने आप उठना संभव न हुआ। यों किसी पागलपन-भरी दौड़ में हाँफ-हाँफ कर मैं नहीं गिरा था। रुपया, चाहे जैसे भी हो, बटोर कर, ऐशोआराम की जिन्दगी गुजारना सपने में भी नहीं सोचा था। तो भी जाने क्यों, पशुता मेरे मन को वन बनाए हुए थी, निर्भय और स्वच्छन्द विचरने, दबने, बिखरने और चीखने के लिए। मैंने पीछे उसे पशुओं से मैत्री करना यूँ ही नहीं सिखाया था, काँटे से काँटा निकालना चाहा था। किसी खास अभ्यास का वशवर्ती होना मेरा स्वभाव न था। खाया, खाया; जब चाहा तब पान खाना छोड़ दिया। पी, क्या रात, क्या दिन, छक कर पी; जब ठान ली, एक ही झटके में चाय छोड़ दी। जैसे विज्ञान को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लड़ना ही लड़ना है, अन्ततोगत्वा प्रकृति से ही सही, मुझे लड़ाकू ज्ञान कभी न भाया। प्रकृति मेरी माँ है, पालन-पोषण करनेवाली जगद्धात्री, उस पर क्या विजय पाना ! उससे क्या हार मानना !!

अपनी पशु-प्रकृति जिससे परवरिश पाती, मैं उस पैसे को ही पशुओं की सेवा में चुका देता था। सोचता था :

'न रहेगा बाँस, न बजेगी बंसरी !'

मगर ऐसे, न पैसे पर काबू पाया जा सकता है, न पशु-प्रकृति पर। सच तो यह कि मन का मार्जन अभाव से संभव ही नहीं है। संस्कार निषेध से नहीं, त्याग से बनता है। यह अजब ही होगा, अगर निषेध और त्याग को एक समझने का अविवेक प्रकट किया जाए। निषेध 'मानना' पड़ता है, त्याग 'करना' होता है। मानने में विवशता का-सा

भाव प्रच्छन्न है। त्याग में स्वच्छन्द उल्लास है।

हाँफ-हाँफ कर, पसीना बहा-बहा कर, काफी अर्से तक मैंने कोशिश की थी। ठंडी साँस भर कर, लड़खड़ा कर रह-रह गया था—हवा में गिरह न लगी तो न लगी।

एक-न-एक नियम अवश्य चाहिए जीवन को गतिशील बनाए रखने के लिए। अचला कहलाने के लिए धरती को निरन्तर चलते रहने का नियम निभाना पड़ता है। चलने के नियम में ही अचलता है।

नियति द्वारा निर्मित नियम गले का फंदा लगता है। फंदा वह है नहीं, बस, लगता-ही-लगता है। संकल्प-शक्ति की प्रखरता और प्रभ-विष्णुता सर्वविदित है। फंदे की काट देखना गवारा न हो तो फंदे को काट फेंको। मेरे गुरुदेव श्री महादेव शास्त्री जी (स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज) ने छात्र-जीवन में ही बताया था: किसी एक नियम का पालन करना शुरू करो, क्रमशः सारा जीवन नियमित हो जायगा। मेरा ब्राह्ममुहूर्त में जगना तभी से चालू है। जीवन बेशक व्यवस्थित न हुआ इससे। नियम को कारगर बनाने की खटपट फिर भी जारी है। बीज जला नहीं है, धरती भी बंजर नहीं है। बीज के अँकुरने, बड़े बिरवे की शक्ल लेने का एक लम्बे अरसे से इन्तजार है। यह कोई तूल पकड़ने वाला मामला नहीं है। इसमें न ले-दे की नौबत आने वाली है, न भगदड़ मचने की।

बदबदाने का वाकया भी यह नहीं, सो खामोशी की हद लाँघ कर अंग्रेजी में बुदबुदाया:

I do not suppose that this can be dismissed as an accidental coincidence.

आवेग में अक्सर मातभाषा मुँह नहीं लगती, सुर-असुर भाषाएँ आगे आकर ताल ठोकने लग जाती हैं। स्तब्धता में दबे पाँव, एक अजब-से आतङ्क-सा, मौलसिरी का साया चोट खाई हड्डियों पर से सरक गया। विस्मृति की हद तक अटपटी स्मृतियाँ साँसों के आरपार हिम-पात करने लगीं। किसीने जैसे तभी परे इमली-तले खनकती बारीक पत्तियों को तहा कर खर्र से माचिस की एक सीली तीली जलाई। बर्फ से आग फिर भी न निकली। ··

काई-सी फिसलन-भरी एक सचाई ! कहानी पानी भरे जिसके आगे !

अकहानी वालों का अनकहा दावा था, कहानी की रीढ़ झुठाई हुआ करती है। एक हसीन कहानो अनदेखे सपनों में रंगा रंग झुठाइयों की ताना-भरनी को पूरी ईमानदारी से बुनती है। इधर सचाई की निकाई है जो हरी काई की तरह पीले पत्थरों पर जम-जम जाती है।

पिछले पैंतीस साल गउओं और बछड़े-बछरुओं के साथ बिताए हैं। उनके हर सुख-दुख में बढ़कर हाथ बटाया है; ऐसे में यह क्या हो गया कि अट्ठारह जुलाई, पचासो की सुबह-सुबह, साल-सवा साल की कुङ्कुमी उमी ने अपने बिना सींघ के चन्द्र चारु माथे से मुझे मारा और ऐसा मारा कि मैं बिलाव के जबड़े से मोटे चूहे की तरह उछला और पास ही बँधे साँढ़ की गोद में औचक जा गिरा। और साँढ़ भी ऐसा कैसा औढरदानी निकला कि मुझे सख्ती से कुचल देने के बजाय दर्दीले प्यार के चटखारे ले-लेकर चाटने लगा। चाँद पर छितरा अँधेरा हो या उघड़े टखनों की रुखड़ी त्वचा, उसकी खुरदुरी जीभ यहाँ-वहाँ खर-भराती रही। खरहरा चारा देने की नाँद पर नूर का तड़का खरादता रहा।

यों भोर के कुहासे का सपना अभी बिखरा न था। चुहचुही चुहल-बाजी के दौर में घुँघची से चिपट रही थी। पौ फटने में थोड़ी देर थी। मैंने बहुत हाथ-पाँव मारे कि किसी को कानोकान खबर न हो और मैं अपनी पूजा पूरी कर लूँ।

पूजा पूरी न हुई। बहुत देर तक धड़कते दिल को बहला न सका। हुई है किसी की पूजा पूरी ? रघु जैसे दिग्विजयी पुत्र इन्द्र से लोहा लेते रह गए, दिलीप की पूजा पूरी न हुई। कैकेयी के आगे लाख सिर टेके, दशरथ की पूजा पूरी न हुई। कहीं महत्वाकाङ्क्षा आड़े आ गई, कहीं अभिशाप मनोरथ के नीचे बिछ गया। आग उगलता हुआ ज्वालामुखी हो या ठंडी सुइयाँ चुभोता हुआ हिमपात, दु:ख अपना, निज का अर्जन है। प्रत्येक प्रतिकूल संवेदना अनुकूल संवेदना के सूर्योदय से पहले का मेघाडम्बर है। मेघ-मण्डल को काटता-छाँटता हुआ सूरज निकलता है तो उसकी चमक और बढ़ जाती है। पूजा पूरी न हुई तो इसलिए कि वह

आधी-अधूरी रहने की कायल नहीं है। मैं क्या वाकई मरना चाहता था ?

यह तो एक सुविधा थी। ब्राह्ममुहूर्त था। शीतल, मन्द, सुगन्ध बयार डोल रही थी। मैं गउओं के बीच निढाल पड़ा था। हिलने-डोलने की शक्ति खो चुका था। कीट्स की पंक्तियाँ गुनगुना रहा था :

Now more than ever seems it rich to die
While thou art pouring forth thy soul
abroad in such an ecstasy.

x x x x

Was it a vision, or a waking dream?
Fled is that music:—do I wake or sleep?

घड़ी की सुइयाँ पीछे क्यों लौटतीं ? इमली की हरी फुनगी सुनहरी होने लगी। पास ही खड़े उदास अशोक और छरहरी टहनियों वाली मौलसिरी पर मौसम उतरने लगा। डालें डोलतीं तो जिन्दगी और मौत के हिंडोले आमने-सामने पेंग-चढ़े दिखाई देते। हँसी के पग में पायल-सी बँध गई। क्या पार्थिव सुख ही सब कुछ है ? आध्यात्मिक वेदना कुछ भी नहीं ? अँधेरी धरती और धुँधले बादलों में उषा उदित हो रही थी। ढलती रात के निर्बन्ध अन्धकार को यह कैसा देदीप्यमान उपहार !

सूरज की गर्मी : कोई बिरवा फूला, कोई मुरझा। भूरी-चमकीली आँखें, नशे में बेतरतीब उभरती यादों की झिलमिल परछाइयाँ। वक्त की पीठ पर लदी बेगुनाह लापरवाहियाँ :

अलका (बिल्ली) ने बच्चे दिए थे। एक बहुत चीख रहा था। हमने उसे नेट की अलमारी में बन्द कर दिया था। तभी कहीं से घूम-फिर कर अलका आई। मुझे किसी काम से बगल के कमरे में घुसते ही एक और नन्ही-मुन्नी अलका (सतरंगिनी) के रूप में अजूबा-सा दिखलाई दिया। यह अलका की कार्बन कॉपी थी, दूसरी की बिटिया नहीं हो सकती थी। मगर इसकी तो नीली-नीली आँखें खुली थीं जब कि इसके साथी बच्चों की आँखें खुलने में अभी कई दिनों की देर थी। मैं आनन्द का आवेग न सँभाल सका। मुन्नी को चूमता-पुचकारता छाया को दिखाने ले आया। वह अनमनी-सी सोई पड़ी थीं। कोई खास दिलचस्पी

नहीं ली। इस काम-काजी दुनिया में कुत्ते-बिल्लियों को लेकर फालतू माथा-पच्ची करने की किसे फ़ुर्सत है ? आदमी ने अपने लिए धर्मग्रन्थ रचकर ऊँचे स्वर से उद्घोषित कर दिया है—वही सबसे श्रेष्ठ है। सब पशु-पक्षी उसी के पेट के आखेट हैं, उसी की जीभ को तरोताजा बनाए रखने की खाद हैं। फिर इन कीड़े-मकोड़ों के लिए क्या करने को बच जाता है ? जिसे और कुछ करना-धरना न हो, वही निठल्ला कुत्ते-बिल्लियों की तकदीर का लेखा-जोखा ले !

मेरे करुण-मधुर सुर पर जैसे विवादी सुर चढ़ गया (In that sweet mood when pleasant thoughts; Bring sad thoughts to the mind.) मैं निष्प्रभ हो गया। जीभ दाबकर पूछा : क्या चीखते बच्चे के साथ इसे भी दूध पिलाने के लिए दे दूँ ?

छाया मेरा माया-जाल झटककर ज्ञान के आलोक में दिप उठीं : पूछना क्या है, दे दीजिए।

और मैंने अपने हाथों बच्चों की बलि दे दी। अलका अभी चुमकार ही रही थी कि दूध में मुँह लगाए शिशुओं को किधर से भी औचक आकर शशाङ्क ने दबोच लिया। शशाङ्क अलका का सगा भाई था।

तब तक मैं यह भी नहीं जानता था कि बिलाव कलाकार की तरह 'राइवल' नहीं बर्दाश्त कर सकता; कि वह क्रूर कंस की तरह नवजात मादा-शिशु को भी मार डालता है !

अरी ओ हर घड़ी याद आनेवाली, मुझ मन्दमति की वन्दनीय सुन्दरता, मैं अभी-अभी तुमसे मिलने आ रहा हूँ। मेरा मासूम गुनाह चाहे माफ न करना, मोरमुकुट-सी अपनी इन्द्रधनुषी छवि-छटा जरूर निहारने देना !

Have I not reason to lament.
What man has made of man ?

× × ×

खीर खा रहा था। एक पिल्ला सटकर खड़ा हो गया। मैंने उसे दो एक-चम्मच खीर दे दी। हरारत-भरा आया था, खीर खाकर कुछ ताजा-सा हो गया और कृतज्ञता से मेरी आँखों में आँखें डाल दीं। तभी

मेरी भरी आँखों पर पड़े हुए दुनियावी मायाजाल को झटक दे; शुभ-अशुभ कर्मों के चक्कर से आनन-फानन छुटकारा दिलाए और अब फिर से देह, इन्द्रिय, बुद्धि, मन और वेदना से जुड़ा हुआ जन्म न लेने दे।

'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल !'

बँसवाड़ी की ओर से यह कैसा स्वन सुनाई दिया ? मन में नील-कुसुम क्यों कर फूल उठा ? मेरा हृदय होगा तो शैलसार (लोहा) होगा। कड़ा तो हीरा भी होता है, मगर हीरा काला नहीं होता। उदयनाचार्य्य मलिन मन के लिए काले लोहे तक नजर फैला पाए हैं, काला हीरा प्रोलेतेरियत शब्द है। कोयले का उस युग में भरसक आविष्कार भी न हुआ होगा।

मृत्यु के पूर्व क्षण में स्मृति कैसी पैनी हो गई है, मैं वाल्मीकि के—'अश्मसारमिदं नूनम्' की सोच रहा था जब उदयनाचार्य्य का शैलसार याद आ गया। मीमांसक हों कि सौगत कि दिगम्बर—सभी अनीश्वरवादियों को तर्क द्वारा (वेद-वाक्यों द्वारा नहीं) प्रकृतिस्थ करने के अपने महत् प्रयास को भी विफल कर देने वाले रूढ़ नास्तिकों को लक्ष्य कर उदयनाचार्य्य ने कहा था :

इत्येवं श्रुति-नीति-संप्लव-जलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः।

कि श्रुति (वेद) और नीति (न्याय, तर्क) के मिलने से जो ज्ञान का सैलाब उमड़ा, उससे जिनके दिल का मैल न धुला, वह दिल दिल नहीं, लोहा है, लोहा। ईश्वर-विषयक सारी शङ्काओं का निराकरण कर देने पर भी जिनका हृदय शुद्ध न हुआ उनके लोहे-जैसे कठिन और काले दिल में, हे ईश्वर, तुम्हारे लिए बेशक कोई गुंजाइश नहीं, फिर भी 'नास्ति' रूप में हरदम तुम्हारी ही चर्चा और चिन्ता करने वाले उन नादानों को, गाढ़े वक्त में, तुम न भूल जाना !

× × ×

हाथ-पाँव कठुआ रहे हैं। आग की दहकन कलेजे में छुप-सी गई है। धुँधवा कर आँच भीच ली है गँसीली साँस ने। मैं कड़क नहीं सकता। कैसे धधकूँ? हड्डियाँ चिटख रही हैं। अरमानों की चिरायँध फैल रही हैं। कवि की जिन्दगी जीने की हौंसवाले की, हौंस पर, कैसी मुर्दा पकड़ थी! क्या नतीजा निकला ऐसे बौड़म ढंग से जीने का? तोड़ने पर लगे थे लोगबाग, उन्हीं की मर्जी के मुताबिक टूट गया होता तो क्या फर्क पड़ता! कम उमर वाले तालियाँ पीट कर प्रमोद प्रकट करते : कहता था न, खिलौना था! टूट गया!! अरुण नयनों में नमी अँजती : असन्तुलित और अव्यावहारिक होने का दुष्परिणाम है यह!

लचीलापन जरूरी है, मैं सब दिन तना-तना रहा। काफी अरसा पहले एक दफा रमना में ऐसे ही गिरा पड़ा था, बेशक खाट पर; आज की तरह जमीन पर नहीं। उमाशङ्कर बाबू की निगाह में मैं एक जहीन-शहीन था, भीतर कोई आग दबाए, बाहर बुझा-बुझा। उन्होंने उस बार मुझे कालाजार की सख्त पकड़ से, आगे बढ़ कर, छुड़ा लिया था। बचा लिया था मौत के खौफनाक चंगुल से। अब इस घड़ी मेरे हर उल्टे-सीधे कामों में हाथ बटाने वाले और बोलती-सी आँखों और मासूम चेहरे वाले परमेश्वर जी अपने गोरखधन्धों को नजरअन्दाज कर मुझे इस विकट संकट से बचाने आगे आ सकेंगे? अब तो तब की दबी चिनगारी शोला बन चुकी है। और जिन्हें मेरी तलाश थी, वह उमाशङ्कर बाबू कब के स्वर्ग सिधार चुके हैं! उन्हें मेरी जिन्दगी और मसलसल स्ट्रगल की कहानी मालूम थी। एक हद तक उसकी जिम्मेदारी भी उन्हीं पर थी। परमेश्वर जी तो एक शर्मीले और खामोश किस्म के इन्सान हैं, पेच-दरपेच खुलने से रहे। बड़बोलों की तरह, नाटकीय अन्दाज से बड़े वायदे करनेवाले नहीं कि कुछ अता-पता मालूम हो!

मैं ठंडी साँस भरता हुआ करवट बदलने की कोशिश करने लगा हूँ। पीछे ताड़ के पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। मन धुन्ध में डूबा-डूबा-सा है। मस्तिष्क रमना की रामकहानी दुहरा रहा है। तीन में, न तेरह में, मैं भला क्या था! शेखी चाहे जितनी बघारूँ, छोटी-छोटी बातों में नमक-मिर्च लगाने के अलावा क्या जानता था! जहाँ नित-नया गुल खिलता हो, वहाँ नक्कारखाने में तूती की आवाज जैसी ही तो मेरी अदना-सी

बात की हैसियत हो सकती थी ! धनी के काँटा लगे तो हजार लोग भागकर आएँ, निर्धन पहाड़ से भी गिरे तो उसके ढीले अंजर-पंजर पर हाथ फेरने कौन धाए ?

बाबू साहब के पुण्डरीक-नयन किन्तु गरीबी के पपड़ियाए कीचड़ से घिनाते न थे। जितने मुँह उतनी बातें होती थीं, उनके लिए जैसे नाग नाथ, वैसे साँप नाथ, सबकी सुन भर लेते थे, करते अपने मन की थे।

मेरा हाल बेहाल था। जैसे मियाँ काठ, वैसी सन की दाढ़ी। ताहम टके के वास्ते मस्जिद ढानेवाला मैं न था। तिनके की ओट पहाड़ की सोचता गुमसुम पड़ा रहता था। तेली के बैल को घर ही कोस पचास। 'देना थोड़ा, दिलासा बहुत' वाली नीति बाबू साहब की न थी। ताड़ जाते थे मेरे अँधेरे-उजाले को।

आज अँधेरे-अँधेरे उनकी याद क्यों चमक रही है !

× × ×

चाँद ने आसमान बुहार दिया है, दो-चार तारे बादल-बिजली के खेल के तमाशबीन की तरह यहाँ-वहाँ टकटकी लगाए रह गए हैं। मैं धड़कते दिल से माथा खुरच रहा हूँ : अट्ठारह जुलाई !

अपनी जख्मी मेहनत का दर्द झेलता हुआ हाँफने लगा हूँ : सन् उनतालीस के जुलाई महीने की वह अट्ठारह तारीख ही तो थी, जब मैं अज्ञातवास करने मुजफ्फरपुर आया था पहले-पहल। और लो, आज यहाँ से कूच करने की भी वही तारीख है— अट्ठारह जुलाई, उन्नीस सौ पचासी !

रोशनी की तलाश में ठोकरें खाईं; संचय के नाम पर ढेर-सा कूड़ा इकट्ठा किया; उम्मीदें खपाईं जिन्दगी को खरोंच कर कड़वाहट मेटने की गरज से, जहरीली गन्ध हटाने जिस्म की परतें उधेड़ीं, सुकून के लिए चीखा, नींद के चंगुल से बेबाक बची घड़ियों ने साँसों की अटूट हिम्मत की बलाएँ लीं– कैसे पार हुए ये झुलसाते-फुफकारते छियालीस बरस !

कैसे ऐसे सूखे समय की फटी दरारों पर, उमाशङ्कर बाबू, निर्मल जल भरे बादलों-से झुके-झुके आसमान की तरह उतर आए थे ! मेरी गूँगी-बहरी आँखों में अपनी मेघ-मन्द्र स्वर-रेखाएँ खींच दी थीं ! मैं

उनसे कैसे कहता : कोई खोई-बिसरी, भूली-भटकी-सी याद मेरे अस्तित्व को झकझोर रही है, आसमान की यह परछाई अपनी नहीं है···

× × ×

मोना है न अपनी— इन दिनों की एक सब से छोटी बिल्ली, आया की तरह मैं उसे कलेजे से चिमटा कर पालता रहा हूँ। वह मगर, जब देखो तब, गेट पर बैठी रहती है।

गेट के बाहर सड़क है, दिन भर गाड़ियाँ दौड़ती रहती हैं। इस-उस गली के कुत्ते गलियारे की गन्दगी सूँघते चलते हैं। पर वह अभी इतनी नासमझ है कि खौफ खाना तो दूर, उन्हें आते-जाते देख तनिक चौंकती भी नहीं है। मुझसे लिपट कर खा-पी लेती है फिर गोद से कूद कर एक ही छलाँग में गेट पर पहुँच जाती है। मेरे खुले दिल से गेट का पलड़ा भारी हो जाता है। दरअसल उसका मिजाज उसी माहौल से मेल खाता है।

यहाँ मेरा अपार प्यार, और वहाँ भय, कलह-कोलाहल, संत्रास है, फिर भी वह भाग-भाग कर वहीं क्यों पहुँच जाती है, (मेरे प्यार की परिधियाँ लाँघने में उसके मुन्ने-मुन्ने पाँव भले ही क्षत-विक्षत हो जाते हों) कोई नहीं बता सकता। मैं बताता हूँ।

वह Reckless या भगोड़ी नहीं है, मुँह उदास किए चुप बैठी रहना भी उसका स्वभाव नहीं है। यों कहीं गालिब की मायूसी उसकी खामोशी से सुर मिलाती हो तो ताज्जुब नहीं :

'है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ
वर्ना क्या बात कर नहीं आती !

कोई दो महीने का एक अर्सा गुजरा होगा जब किसी दूसरे मुहल्ले के कुछ नटखट लड़के गहराती शाम के छुटपुटे में उसे इसी गेट पर चुप-चाप छोड़ कर उड़नछू हो गए थे। उगना और सुगना—मेरे दो कुत्ते भौंक-भौंक कर उस मासूम की हिफाजत करने में जुट गए थे जिससे बाहर का और कोई कुत्ता उस पर झपट न सका था; दूसरे नटखट लड़के उसे हाथ न लगा सके थे। छाया जी बिलौटे की चीख से खिंची चली गईं और उठा कर दुलारती हुई अपने यहाँ की संस्कृति के अनुरूप उसे झटपट नाम-रूप भी दे डाले। बरजोरी माँ का दूध छुड़ा कर कहाँ-

से-कहाँ फेंके बच्चे के मन को, किन्तु, इस आवभगत से वह तृप्ति नहीं मिल रही, जो उसे माँ से मिलती। मैं उसे थपकता हूँ तो इसी सजल आश्वासन के साथ कि मोना, मैं भी तो ऐसे ही पला हूँ। बेबसी और वेदना से ही मेरा मटका लबालब रहा है!

दान्ते ने लिखा है: There is no greater sorrow than to recall in misery, the time when we were happy.

मोना को याद आता है, सूरज की सोनहरी रोशनी से आँख बचा-कर किसी भूरे-धुँधले कोने में माँ का इशारे से बुलाना, चटखारे ले-ले कर चाटना, चाट-चाट कर दूध पिलाना और फिर अपनी पहचान के किसी सुरक्षित ठौर पर टिका कर अगली मुलाकात तक के लिए इन्तजार करना सिखाना!

बिल्ली का बच्चा माँ पर निर्भर होता है। अब वह उसे गर्दन से पकड़ कर चाहे जहाँ ले जाए, जहाँ अगली मुलाकात तक के लिए ठहरा दे, वह वहीं बैठा माँ की पहचानी पगध्वनि की अपलक प्रतीक्षा करता रहेगा।

मोना दुधमुँही होने के सबब शायद छुअन की पहचान भूल गई है। वह समझती है, माँ ही उसे यहाँ रुक कर इन्तजार करने को कह गई है। सो वह किसी के रोके नहीं रुकती। गेट के एक कोने में गुम-सुम बैठी माँ की पगध्वनि सुनने कान खड़े किए रहती है: कहाँ हो माँ? कैसी निठुर हो गई हो तुम! कितने दिन बीत गए तुम्हारा पथ निहारते! तुमने मुझे जहाँ छोड़ा था, वहीं बैठी हूँ, तुम्हारे ही ध्यान में डूबी-खोई—

जब-जब अहाते के ताकों में कोई मैना चोंच से रोएँ खुजलाती या नीचे के सब्ज खेत से उड़ते भुनगे पकड़ने के लिए गर्दन निकालती है तब-तब उसकी आँखों में चमक-सी पैदा हो जाती है कि लो, आखिर-कार टोह लेती-लेती मेरी माँ यहाँ आ ही गई!

गेट के ग्रिल पर हवा के तेज-तेज झोंके और पानी की बौछारें पड़ते ही सहिजन की डालें झूमने लगती हैं, बेरी, इमली और अमड़े के दरख्त मगन हो टहनियाँ फैला-फैला कर नहाने लगते हैं, और केले-पपीते धरती तक झुक कर गिरने-गिरने को हो जाते हैं, जब मोना गिलहरी की तरह गेट से सटी-खड़ी नीम के खोखल में दुबकी हुई, हर बौछार पर

यों चौक जाती है जैसे उसे ढूँढ़ने आई हुई माँ कहीं फँस गई है जो अभी-अभी, बस बारिश के थमने भर की देर है, उसे चाट-पोंछ कर दूध पिलाने सामने आ जायगी !···

मन कैसा भगोड़ा है ! जनम से ही पलायनवादी ! प्रत्यक्ष का साक्षात्कार करते झिझकता है। कभी बीती बातें सोचता है, कभी आनेवाले की सुधि में डूब-खो जाता है। आमने-सामने नहीं बना रहना चाहता। अतीत गीत-सा मधुर हो या धोखेबाज मौत-सा कड़ुवा; आनेवाला मनचीता हो या अनचीता, वह वहीं-वहीं मंड-लाएगा।···

Life is vain; a little love, a little hate, and then
—Good day !
Life is short; a little hoping, a little dreaming
and then]
—Good night !

× × ×

बिजली की गोद ही में बना लूँ मैं आशियाँ,
कब तक चमन को रोज बचाया करे कोई !

शब्दों से सब कुछ तो नहीं कहा जा सकता। कोई वस्तु हो, सत् या असत्, शब्द उसे कहते हैं। उसे ही कहते हैं। वही शब्द का विषय हो सकती है। सपने में देखे हुए दृश्य की तरह यह सारा दिखाई देने वाला विश्व-प्रपञ्च प्रबोध होने पर उसी तरह नहीं दिखाई देता, जैसे नींद खुलने पर, प्रबुद्ध व्यक्ति को, सपने के दृश्य नहीं दिखाई देते। इसी कारण संसार को 'सत्' नहीं कहा जा सकता। 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रबोध के पूर्व, अज्ञान की स्थिति में, उसकी अनुक्षण प्रतीति होती रहती है। और फिर एक ही वस्तु सत् भी कहलाए, असत् भी—ऐसा नहीं हो सकता। यह परस्पर-विरोधी बात है। इसीलिए इसे 'अनिर्वचनीय' कह कर छुट्टी पा ली जाती है। यह शब्दों की सामर्थ्य के बाहर है कि वह इसे सही ढंग से समझा सकें।

क्या कयामत है कि न ब्रह्म को शब्दों से बताया जा सकता है, न माया को। न आनन्द की शाब्दिक अभिव्यक्ति संभव है, न मर्मान्तक

यन्त्रणा की। मरते समय मौन, जीवनभर 'नेति-नेति' (यह नहीं; इतना ही नहीं) !

पंछी के डेनों की तरह बोध और वैराग्य हैं। दोनों डैने साथ-साथ जोर लगाएँ, तभी मुक्ति की ऊँचाई तक पहुँचा जा सकता है।

डैने तो क्या, अभी रोएँ पंख भी नहीं बन पाए थे, जब मैंने उड़ने की कोशिश में टाँग तोड़ ली। दम लेने की फिर भी गुंजाइश रह गई।

होमर बेगर बने, मिल्टन अन्धे हुए; माइकेल मुफलिसी में मरे। यह अन्तिम क्षण भी अतीत हुआ चाहता है। मैं अब साद्यन्त व्यतीत और विस्मृत हो जाऊँगा। असमर्पित अस्तित्व का क्यों इतना व्यामोह होता है? पीपल-बरगद-सा हरहरा रहा है अहङ्कार अँधेरे घेरे में। शिशिर-शिविर में बन्दी-सा छटपट कर रहा है तुड़ा-मुड़ा, अचिह्नित, अप्रमाणित मेरा अस्तित्व।

उमर एक दुःख से दूसरे दुःख का जायजा लेते गुजरी, फिर इस दुःखान्त को शाप का अन्त न समझ कर छोटी-मोटी उम्मीदों की रस्सी बटने की क्या वजह है? सपनों के महल-मुँडेरे कबके ढह गए, कामनाओं के खण्डहर और ढूह में निर्जन मन भटकता रह गया है। जो अब तक न हुआ उसके लिए बाँस की सीढ़ियाँ बनेंगी या आसमान औंधे मुँह गिरेगा?

मेरी हँसी अक्सर अँसुआई होती थी। कितना कम हँसा! जब देखो तब रोना-धोना, आँखें आँसुओं से धुल कर ही चमकती थीं। अविता-कविता के चक्कर में बाहर भरसक हरा-भरा होता था, भीतर बेशक सूखा, खोखलों में ढब-ढब करता।

सियासी जिरह में कि मेरा दुख राष्ट्रवादी है या समाजवादी, (व्यक्तिवादी को तो कोई तरजीह देनेवाला है ही नहीं) विशुद्ध भारतीय संस्कृति के गमले में फूला-फैला हुआ या सुदूर अन्तर्राष्ट्रीय जन-जंगलों को शोषणमुक्त बनाने के क्रम में काँटों में घिसटा हुआ, तो दुःख की जात बताते वक्त बात रसमयी मुस्कराहट बन जाती थी।

× × ×

कालाजार से बच निकलने पर मैं जब-तब बाबू साहब के पास बंगले में बैठने लगा था। एक रात कुछ तान्त्रिक विद्वानों की टोली

इकट्ठी हुई थी। वामाचार का प्रसंग छिड़ा था। 'श्रीसुन्दरीसेवन-तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एवं' पर प्रवचन चल रहा था। मैंने कहा : "भुक्ति और मुक्ति प्रदान करने की बात किस देवी-देवता के साथ नहीं जुड़ी है? केवल मुक्ति के लिए तो कोई राम-कृष्ण परमहंस ही 'सेवन-तत्पर' होते हैं। जैसे ज्योतिषी अतीत की बात बता कर, विश्वास में ले आकर, भविष्य बताता है, ऐसे ही राग-भोग के योग्य साधन पर ही मुक्ति की आस बँधती है; विश्वास बढ़ता है, केवल मुक्ति तो कोरा संन्यास-धर्म है। अन्न-वस्त्र के लिए बिललाते घर-परिवारवाले को कैवल्य और मुक्ति की इच्छा कभी नहीं हो सकती। जिन जरूरतमन्दों ने हिन्दू धर्म छोड़कर धर्म-परिवर्तन द्वारा अपने नाम-रूप बदल लिए, उनमें आध्यात्मिक भूख न थी; आध्यात्मिक उन्नयन के लिए उन्होंने यह चुनाव हर्गिज नहीं किया था।

किन्तु इस युग में भी शक्ति-साधना में आध्यात्मिक क्षुधा की उत्कटता रामकृष्ण-विवेकानन्द द्वारा प्रमाणित हुई है।

वामे वामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्र
मध्ये न्यस्तं मरिचसहित सूकरस्योष्णमांसं
स्कन्धे वीणा ललितसुभगा सद्गुरूणां प्रपञ्चः
कौलो धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

—ऐसे पद्यों का वास्तविक अर्थ वह नहीं है जो आपाततः प्रतीत होता है। काली-कर्पूर के पद्यों में भी प्रतीकार्थ ही ठीक है। अपने यहाँ ऐसी रहस्यात्मक रचनाओं की एक लम्बी परम्परा रही है।

यहाँ वाम भाग में रमण-निपुण कोई और वामा नहीं, स्वयम् इड़ा है। दक्षिण भाग में ब्रह्म साक्षात्कार के लिए मतवाला चित्त ही पान-पात्र है।

यह बहुत कुछ त्रिवेणी (गङ्गा, यमुना, सरस्वती के संगम)-स्नान के वैदिक रूपक के ही समान है। वहाँ इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा ही गङ्गा-यमुना-सरस्वती हैं। षटचक्रों को भेद कर योगी—

'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि।' का साक्षात्कार कर मुक्त होता है।

सामान्य जन तो पण्डों से घिरी प्रयाग की त्रिवेणी में डुबकियाँ

लगाकर ही भुक्ति-मुक्ति की अभिलाषा रखते हैं।

तभी एक पण्डित ने क्रूर हँसी हँस कर बाबू साहब की ओर अङ्गुल्या निर्देश किया कि इनके विषय में मेरा क्या विचार है? ये आध्यात्मिक पुरुष हैं या नहीं? कहना न होगा कि यह एक तीर से दो शिकार करना था।

स्थिति सहसा नाजुक हो गई। फिर भी मैंने दुस्साहस का सहारा लिया :

'अपने जी ही ने न चाहा कि पिएँ आबे हयात
यूँ तो हम 'मीर' उसी चश्मे पे बेजान हुए !'

बाबू साहब तो पूर्व जन्म में भी योगी ही रहे होंगे, इसमें दो मत नहीं हैं; किन्तु इस बार कुल-क्रमागत वैष्णव धर्म से हट कर जो इन्होंने शाक्त धर्म अपना लिया है, इसका कारण आध्यात्मिक नहीं है। आध्यात्मिक उन्नयन के सप्तम सोपान पर झटपट पहुँच जाने के लिए इन्होंने यह 'शार्टकट' नहीं चुना है।

सुनते ही बाबू साहब ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से भरपूर मेरा मुँहफट छुटपन निहारा; धुन्ध भरे मन की खोजबीन की। और फिर दिव्य हँसी में फूट पड़े; I appreciate your indifferent openion. No doubt, your hold is marvellous. फिर क्या, मुँह बनाने वालों का मुँह बन गया।

× × ×

'मुसीबत और लम्बी जिन्दगानी
बुजुर्गों की दुआ ने मार डाला !'

मैं ठंडी राख को कंबल उढ़ाए रहता था। औकात बसर करने की गरज से ही जब-तब बंगले में बैठ जाता था।

अर्थहीन परछांइयाँ बूढ़े बरगद की जटाओं की तरह फैली हुई थीं। कोहरे-भरे आकाश के तारों की तरह पैसे जब-तब ही चमकते थे। खाली जेब घोंसला-भूली चिड़िया की तरह साँझ-सकारे बाहर निकल कर शून्य में कुछ तलाशती न थी, मुँह दबाए रहती थी या फिर बंगले में आने वालों के माथों के ढीले-कसे पुर्जों का मुआयना करती रहती थी। उस दिन चन्दा ने जिन्दगी की लम्बी राहों की दुर्गमता कम कर

दी थी। बंगला गर्म था, गलीचा नर्म। सुदीर्घ यात्रा की यातनाएँ भूल कर, उत्सवहीन जीवन की लघुता झुठलाकर बाबू साहब के बड़प्पन के आमने-सामने बैठ गया था।

भैया (अमिताभ) को खवास खिलाने ले आया था। बाबू साहब उस डेढ़-दो साल के बालक से अपना सयानापन भुना रहे थे। दो दँतुलियों की हँसती-सी रोशनी में शिशु की दृष्टि ही सही लगती थी, जैसे सिर्फ उसीने सहज-सहज अपना लक्ष्य पहचान लिया हो, बाकी दर्शकों की आँखें अभी अधबीच में ही भटक रही हों !

तभी किधर से भी काले रंग की एक चींटी गद्दे से चलकर भैया के बर्फ-से साफ बदन पर चढ़ गई। भैया ने बगैर किसी की मदद के होठों पर अनूठा आह्लाद लिए उसे बार-बार झाड़ा, वह हमीर-हठी बार-बार चढ़ी।

बाबू साहब मुँह में गिलौरियाँ भरे हुए थे। उगालदान को रंग-भरी पिचकारी बनाते हुए मुझ पर नजर टिकाए-ही-टिकाए भैया से बोले :

'इसे मार ही दो ! बहुत तंग कर रही है न !'

अमिताभ मुँह ताकने लगे। बोलना कहाँ आता था ! आता भी तो क्या बोलते ?···

अँगीठी में लकड़ी पड़ गई जब बाबू साहब ने हँसते-हँसते अपने अविलम्ब लिए गए निर्णय को हँस कर दोहराया :

'अरे मार भी डालो इसे, हम तो काली के उपासक हैं !'

मुझे जैसे झञ्झावात ने जड़ से हिला दिया : धारदार शब्दों ने मेरे जकड़बन्द ताले को झकझोर कर तोड़ दिया। मैंने अपनी बेसुरी साँसों में दुनिया भर की नमी भर कर कहा :

'चींटी भी काली है, बाबू साहब !'

फिर क्या ? विश्वास के प्रकाश-स्तम्भ-सा व्यक्तित्व बाबू साहब का कुछ ऐसा जगर-मगर हो उठा कि वह मेरी ओर देर तक देखते ही रह गए।

इधर मैं भी उनकी योगियों-जैसी चित्त की उठान पर दीठ गड़ाए रहा :

निस्पृहः नित्यसन्तुष्टः समदर्शी जितेन्द्रियः
आस्ते देहे प्रवासीव स योगी पर-तत्त्व-विद्।

कोई अनावश्यक स्पृहा नहीं, प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट, सब पर भरसक नजर रखनेवाले, दसों इन्द्रियों के भड़के घोड़े चाहे जैसे तेज-तर्रार होते हों उन्हें अपनी मजबूत लगाम से हमेशा कब्जे में रखने वाले, परम तत्त्व की पूरी जानकारी वाले वह एक योगी की तरह ही जीते थे। उन्हें मालूम था, जैसे कोई परदेशी किसी पड़ाव पर टिक कर रात बिताता है, उसी प्रकार उनकी मुक्त आत्मा वर्तमान शरीर में आयु की अवधि भर जमी-थमी है।

चकमक पत्थर पानी में पड़ा है, उसकी आग बुझी नहीं है। पानी से निकलकर लोहे से टकराते ही तेज प्रकट होने लगेगा, फिर से चिनगारियाँ निकलने लगेंगी।

× × ×

झगड़े-झंझट उकसानेवाले कदम-कदम पर मिलते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ विक्षोभ बनता है। रचनात्मक विचारों की क्षमता मापी नहीं जा सकती। बाबू साहब कहाँ से चल कर कहाँ पहुँचे थे, इसका आँखों-देखा हाल मैं नहीं बता सकता। मैंने जब देखा, वह ऊँचे-से-ऊँचे, पहुँचे हुए व्यक्ति थे। सौम्य, शान्त, सुन्दर। कर्म की उत्तेजना उनमें न थी। साधन फिर भी उन्हें पुरस्कार में नहीं मिले थे।

× × ×

क्या हो गया है मुझे ? घूम-फिर कर अभी उन्हीं की याद क्यों आ रही है ? आँखों की कोर आकाश के नुकीले छोर से जा मिली है, वदन वैसे ही लुढ़का हुआ है; फिर यादों का कारवाँ क्यों मेरे मरु-उर को बेरहमी से रौंदता हुआ बढ़ रहा है ?···

एक अरसा ऐसा भी गुजरा वक्त का, जिसकी हरहराती-सी याद मन पर नौ मन धूल डाल जाती है; आँखों का बूँद-बूँद पानी सोख कर लबालब पोखर की तस्वीर दिखा देती है। स्याह-सफेद सायों-से घूमते हुए जंगल-पहाड़ और सपाट मैदानों को कभी एकबारगी करीब खींच लाती है, कभी परे हटने पर मजबूर कर देती है। खून के आँसू रुला कर भी दम नहीं लेती। इतना ही नहीं, मेरी तमन्नाओं को अँधेरी बन्द

गलियों की तरफ फिर-फिर खदेड़ देती है।

गुजरे मौसम की याद भी क्या शै है कि न तो उसे कोई शबनमी छुअन पोंछ पाती है, न ही किरनीली लौ उजागर कर पाती है। चिलमन की ओट से कुहासा-सा कुछ फैला-फैला नजर आता है जो न महज मौजूदा जिन्दगी को लिए-दिए चैन की नींद सोने देता है, न पर्दे के उस पार के जलवे तक एक दफा दम भर के लिए भी पहुंचा पाता है।

अभी उस दिन कँटीली टहनी पर खिलखिलाता हुआ एक टटका खिला गुलाब दिखा था। वह हँस रहा था कि हम एहसास के काँटों में बुरे फँसे हैं, गुलाब की जख्मी पंखुड़ियों की तरह अपनी ही लहुलुहान उँगलियाँ सहलाते हुए! हाय, हमें काँटों में खिलना क्यों नहीं आता! काँटे गुलाब की नाजुक पंखड़ियों को कहाँ छेड़ते हैं; अलबत्ता हम हाथ लपकाते हैं तो हथेली छलनी हो जाती है! काँटे वैसे बुरे नहीं जैसे हम हैं!

और लो, देखते-ही-देखते हवा के एक हल्के-से झोंके में पंखुड़ियाँ गुलाब की यहाँ-वहाँ बिखर गईं! तभी किन्हीं नटखट हाथों की तालियाँ गड़गड़ाईं : कँटीली टहनी पर इतरा रहा था! हवा हो गई रंगत, धूल में मिल गया फूल, अब कहीं तबीयत खुश हुई कि खूबसूरती की खुशबू उड़ गई!

आह! हमारे ओछे दिल ने यह कभी भी कहाँ विचारा कि फूल जिसने खिलाया था वह उसी के अलक्ष्य चरणों में बिछ गया! खुशबू जिसकी वसीयत थी वही उसे पी गया।

और सच तो यह कि—

It was a dream of perfect bliss
Too beautiful to last.

जोर-जबर से यह सल्तनत नहीं सँभलती। रही-सही कसर कुदरत पूरी कर देती है। सब अदल-बदल जाता है।

मन का पंछी फिर भी वहीं उड़ा जाता है। जहाँ रेत पड़ गई थी, अब धार लहरा रही है, तुङ्ग तरङ्गें थीं, वहाँ बालू की बेला बन गई है। युक्लिप्टस के देवदारु-सरीखे बड़े-बड़े पेड़ खड़े थे, वहाँ बोगन-बेलिया की लचकीली लतरें बाड़े के बाहर तक झोंके खा रही हैं।

खुलाव इमारतों के शिकंजे में आ गया है, सादगी पर दबदबा हावी है। कुसुम-कुंजों में करमकल्ले की खेती होती है। ललित कला को कैंची से काट-छाँट कर उपयोगी बना लिया गया है। जो कामचलाऊ था, कामकाजू घोषित कर दिया गया है। आसमान में सेंध लगाने वाली नजर में शील का सन्धान जारी है। इस लाजिमी फेर-बदल के बावजूद मन का पंछी उसी वन-उपवन की तरफ रुख किए बैठा है। समय के लुभावने शिलापट्ट पर कुछ अमिट लकीरें खींच कर जो युग सदा के लिए विस्मृति के बादलों के पीछे छिप गया; उसकी एक हलकी-सी झलक पाने के लिए आज भी पलकें क्यों छलक-छलक उठती हैं ?···

उन दिनों मुजफ्फरपुर उत्तर बिहार का एक कलातीर्थ हुआ करता था। विद्या, विभव और कला के ऐश्वर्य में एक प्रतिमान प्रस्तुत करता था। एक ओर प्राकृतिक श्री-सुषमा ने इसे अलौकिक आलोक से उद्दीप्त कर रखा था, [बूढ़ी गण्डक-नारायणी नदी का शान्त-शीतल किनारा, आमों और लीचियों की उन्मादक सुगन्ध बिखेरती सघन अमराइयाँ, देशी और विदेशी फूलों के कुञ्ज-निकुञ्ज, सिकन्दरपुर और चक्कर के मैदान, शीतल-मन्द-सुगन्ध हवाएँ, शिराओं में स्फूर्ति उगाता हुआ सवेरा और पुतलियों में सपने सजाती हुई सुहानी शाम] दूसरी ओर साहित्य, संगीत, कला और विज्ञान के जंगम सङ्गम-से बाबू उमाशङ्कर प्रसाद के सुयश की आकाश में फहरती पताकाएँ! रमना का भौगोलिक विस्तार उनके उदार हृदय की प्रतिच्छवि-सा प्रतीत होता था। उनके अनूप रूप एवं प्रभा की लौ उठाती आँखों और सरल सौम्य मुखमण्डल की कान्ति को विस्मित-चकित चित्त से निष्पलक निहारा ही जा सकता था, शब्दों की सीप में उनके उदात्त अन्तर्भावों के अनबिंधे मोतियों को समोया नहीं जा सकता था। विद्वानों और कलाकारों के साहचर्य्य में न तो उनकी प्रज्ञा तार्किक हो उठी थी और न हृदय ज्वारभाटों का समुद्र हो गया था। वह अपनी ही सुमति से सँवारे हुए व्यक्ति थे। ऐसा रूपवान् और इन्द्र-सा समृद्धिमान् व्यक्ति राम के समान चरित्रवान् भी था, दिलफेंक दर्शकों को सहसा विश्वास नहीं हो सकता था। मैं अक्सर कहा करता था कि उनका शील, उनका उच्च चरित्र ही श्रीखण्ड चन्दन के साँचे में ढल गया था ! स्वर्ण कमल भी निर्गन्ध हो सकता है किन्तु उनकी तो साँस-साँस सुगन्धित थी, एक-

एक बोल निश्छल और निर्मलता में अनमोल था।

वह स्वयं भी संस्कृत जानते थे। कालिदास का काफी कुछ पढ़े हुए थे। एक दिन उनकी पद-पदवी-प्रतिष्ठा की खूब-खूब मजबूत जमी बाड़ फाँद कर मैंने करीब से कहा :

'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने,
तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् !'

कालिदास-से चितेरे ने रूप की परकाष्ठा पर पहुँचा कर पार्वती का चरित्र-चित्र उरेहा है। एक योगी ही चारित्रिक दृढ़ता का मर्म समझता है। 'तुम नहीं, और सही, और नहीं, और सही' का सहभोक्ता 'ब्रह्मचर्य्य' और 'सतीत्व'—जैसे अभिशप्त शब्दों को अधिक-से-अधिक बर्जुआ शब्द-कोष से जानता है। उसका आस्वाद चारित्रिक दृढ़ता के बिना संभव ही नहीं है। सो, योगी कहता है तपस्विनी पार्वती से :

'जानती हो पार्वती, मैंने यहाँ-वहाँ सुना ही सुना था कि रूप पापी नहीं होता, देखा पहली-पहली बार! आज, अभी, यहाँ। कहाँ आँखें चुँधियानेवाला रूप और कहाँ पक्के माथे चकरानेवाली तपस्या! सच कहता हूँ, पार्वती, तुम्हारा यह तपस्वी रूप बड़े-बड़े ब्रह्म-निष्ठों को भी कुछ नई 'सीख' देने की सामर्थ्य रखता है!

"मानव मन की गहराइयों में तल तक पैठे बिना यह आन्तरिक संवेदनशीलता की ऊष्मा नहीं प्रस्फुटित हो सकती। ऊपरी-ऊपरी स्तर तक सौन्दर्य की छलकन देखने वाले चिरन्तन सत्य के अन्तरतम में झाँकने का प्रयत्न नहीं करते, थोथी नीति झाड़ते हैं :

'रूप-यौवन-सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता'

एक अकेला रूप ही कम अनर्थकारी नहीं होता, फिर कहीं दहाई, सैकड़े और हजार में उससे जुड़ी हो जवानी, दौलत और बेवकूफी, तब फिर कहना ही क्या, एकबारगी चार चाँद लग जाते हैं रूप में।

"आज मैं यही कहने बैठा हूँ कि आपने चाणक्य को झुठलाया है। बाणभट्ट के शुकनासोपदेश के समानान्तर बड़ी, एक बहुत बड़ी लकीर खींच दी है; भेड़ियाधसान नियम को इस विवेकी अपवाद ने अभूततूर्व

संयम सिखाया है।

लौ शमअ हक़ीक़त की अपनी ही जगह पर है
फ़ानूस की गर्दिश से क्या-क्या नज़र आता है!

"आप वह हैं जो रूप, यौवन और प्रभुता की चुनौतियों को मिसाल पेश कर शिकस्त देते हैं। टुच्चे सुखों के फन उठाए हुए प्रलोभनों को नीचा दिखा कर विवेक का आनन्द लेते हैं। सुरा-सुन्दरी-सन्धानी दूसरे धनी-मानी लोगों से आपका वजूद, आपका चरित्र जैसे अदब से झुक कर पूछता हो :

"जिसे हो जुस्तजू अपनी, वो बेचारा कहाँ जाए।"

उनके अजब-से आबदार चेहरे पर संकोच की पच्चीकारी-सी अनजानते ही उभर कर उजागर हो गई। बोले :

'मैंने कभी पराई स्त्री को आँखें फाड़-फाड़कर नहीं देखा···

'देखा होता तो'···'मैं हँसा,—'उस घड़ी बेशक आपकी आँखों की चमक चौगुनी हो उठती; किन्तु आज जैसा सूर्योदय-चन्द्रोदय तब न होता इनमें। रंगारंग बादलों का आडम्बर भर होता तो होता।'

बोले : "एक दफा विश्वविख्यात नर्तक उदयशङ्कर के साथ कनकलता को देखा था, पार्वती की उस मूक-मधुर मुद्रा में, जब वह वनफूलों के गहने पहने हुए समाधि में डूबे शङ्कर के पास मन्द-मन्द पहुँचती हैं और अँजुरी भर फूलों के साथ अपने आपको भी उन्हीं के चरणों में अर्पित कर देती हैं।······"

सिनेमा-थिएटर के वह बहुत बड़े शौकीन थे। शायद ही कोई दिन अलोना बीतता था। चित्रा-सिनेमा हो या श्याम-टाकीज—दोनों के मैनेजर बॉक्स के एक दर्जन टिकट हर पिक्चर के प्रीमियर के दिन रख जाते थे। बँधी आमदनी थी। भूल-चूक लेनी-देनी की कभी नौबत न आती थी। एक बार अमृतमन्थन के प्रदर्शन के अवसर पर स्वनामधन्य चरित्र-अभिनेता चन्द्रमोहन पधारे तो बाबू साहब ने उनके स्वागत में एक शानदार पार्टी दी। और अपने आनन्द का विस्तार उनके कम्बुकण्ठ से (जब भी यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन था कि चन्द्रमोहन अपने कण्ठ-स्वर से अधिक सम्मोहन उत्पन्न करते थे अथवा व्योमफलक-से विशाल नेत्रों की तडित्तरङ्ग भङ्गिमाओं से) 'श्री चण्डिके की

जो इच्छा' ('अमतमन्थन' का हृदयमन्थन करने वाला एक वाक्यांश) विविध प्रकार से सुन-सुन कर किया था। उस घड़ी बाबू साहब की तन्मयता, आँसुओं-डूबी आँखों की अगाध्रता और चेहरे पर चटखते जपाकुसुम की-सी रसार्द्र अरुणिमा,—प्रिय दर्शकों के लिए जैसे कौतुक की विचित्र चित्रशाला ही सज गई थी ! स्वभाव सिद्ध था यह, भवन में होता कि पुष्पवन में, रत्नदीप सब कहीं लौ देता रहता था। कलात्मक रुचि की दृढ़ता उनके हर मजबूत कदम में देखी जा सकती थी, ऐसी कोई ताकत नहीं जो उनके इरादे को झकझोर कर कमजोर बना सके; उन्हें उनके अलक्ष्य उच्च लक्ष्य से खिसका सके !

उनकी देह और आत्मा दोनों ही 'श्री' को समर्पित थीं। यों यह 'श्री' लक्ष्मी कदापि न थीं। अब यह चाहे श्री विद्या की त्रिपुर-सुन्दरी हों या उनकी इच्छा और प्रेरणा से अभिन्न कला-श्री। उन्होंने नि:स्वार्थ भाव से ही 'श्री' के लिए अपने समग्र कार्य समर्पित कर दिए थे। किसी भी तृष्णा से मुक्त उनका पवित्र मन भला और किस ऐसे-वैसे आकर्षण से बँध सकता था ? चन्द्रमोहन को अपनी कुलीन परम्परा के अनुरूप मोटी विदाई भी दी। ·····

वल्लाह-आलम, हद बाँधने का मसला न था यह, बाबू साहब मूड में थे चुनांचे बेकमोकास्त कुछ बोल उठे :

"ऐसे ही यहाँ एक बार लीला देसाई (अपने जमाने की 'ब्यूटी-क्वीन' सिने-कलाकार) आई थी। प्रीतिभोज के पश्चात् मैंने उसे अपने पनडब्बे से (यह कच्ची चाँदी का था) निकाल कर पान दिए और अम्मा का बनाया कश्मीरी केसर-कस्तूरी किवाम (इसकी डिबिया सोने की थी) छोटी इलायची पर उठा कर खिलाया। खाते ही उसका रुतबा बदल गया। पीक की एक बारीक लकीर उसके गले के भीतर खिंचती चली गई। मैंने आर-पार दिख जाने वाली ऐसी नाजुक त्वचा आगे नहीं देखी थी। कोई और कहता तो सहसा विश्वास करना कठिन होता। मैंने कुतूहलवश ही लीला की वह लीला देखी थी। कनकलता के बाद लीला देसाई, और बस, फिर कभी किसी को नहीं देखा। फिर मैंने अपनी ही लड़की का नाम लीला रख दिया।

मैंने कहा : देखने-दिखाने से क्या आता-जाता है ! नाट्यशास्त्र में एक प्रसङ्ग है कि भरत मुनि द्वारा उल्लिखित अप्सराओं का अभि-

नय देवताओं ने भी देखा था, ऋषि-मुनियों ने भी। जो भी कोई मत-वाला होकर अपवित्र स्त्री शरीर से नहीं खेलता, वही तो पवित्र कला-तीर्थ में गहरे उतर कर डुबकियाँ लगाने का अधिकारी हो सकता है!

कुसंस्कारों को अपने ही बलबूते समझना और उखाड़ फेंकना होता है। शास्त्रों के सहारे समझ आती है तो उन्हें निर्मूल करने के लिए भी किसी सहारे की तलाश जारी हो जाती है। अपना पुरुषार्थ सस्ते सौदे के बजाय जोखिम उठाने में, सरल की जगह गहन को वरण करने में चरितार्थ होता है। बड़े पुरुषार्थ से ही बड़े काम का सधना संभव है।

आज इन्सानियत गहरी वेदना की अभिव्यक्ति है। प्रगति एक ऐसा नानार्थक शब्द है जो सुदूर से चलकर अनथका यहाँ के अर्थ की जड़ से जुड़ गया है। जड़वाद प्रगति की पहली शर्त है। इधर भारतीय जीवन है जिसका ध्यान अध्यात्म और ध्येय सत्य है। यहाँ परिलक्षित वस्तुओं और घटनाओं का भी आधार अलक्ष्य आत्मतत्त्व है और यही इसकी उपलब्धि है। तत्त्व हमें स्वरूप में टिकाता है, कर्त्तव्य कर्म के पथ पर अविरत चलाता भी है।

आपको देखने पर 'विदेह' समझ में आते हैं। यों राजा जनक का पैमाना बड़ा हो सकता है, चरित्र आपका उसी निर्लिप्त स्तर का है। ऐहिक सुख-साधनों की प्रचुरता में भी आप विलासी नहीं हैं। जल की सतह पर कमल खिला है! पानी पानी-पानी हो रहा है कि वह कमल पर हावी नहीं हो पा रहा है!···

× × ×

बहू जी (श्रीमती राजरानी मेहरोत्रा) बेहद बीमार थीं। कोई नहीं कहता था, बचेंगी। पानी की तरह रुपए बह रहे थे। कोई 'पैथी' बाकी न बची थी। बराबरी के नामी-गिरामी रईस, जमींदार अक्सर आते और बाबू साहब को बड़ी-बड़ी व्यावहारिक बातें बताते थे। एक दिन एक ने समझाया :

'क्यों इतने अधीर हो रहे हैं आप! लाखों का वारा-न्यारा हो रहा है। चिन्ताओं का कहीं अन्त नहीं दिखता। आप स्वयं इतने बड़े ज्ञानी और विद्वान् हैं। अभी ऐसी कोईउमर भी नहीं है। मान लीजिए, आपकी सारी कोशिशें नकार कर बहू जी चली ही जाती हैं, तो भी क्या फर्क

पड़ने वाला है, आपके जरा-से इशारे पर बहुओं की लाइन लग जा सकती है यहाँ। जी छोटा करना ठीक नहीं। हौसला रक्खें। सब ठीक हो जाएगा ! ’

जबर्दस्ती आबेहयात पिला कर कल्लादराज गए तो जैसे बंगले की ठिठकी आत्मा को काठ मार गया। बंगला भले ही काठ-पत्थर का हो, उनकी बोली-ठोली उसने साँस साध कर ही सुनी। अनुगूँज पैदा न हुई।

पलकों की नोक कार्पेट में गड़ाए-गड़ाए मैंने कुछ अटपटा बोलकर सन्नाटा तोड़ना चाहा : ‘इन्होंने एक दिन मुझसे भी पूछा था : क्या ‘आर्य और ‘हिन्दू’ —दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है ?’

“नहीं-नहीं, वैदिक भाषा में आर्य का अर्थ है अमृतपुत्र। हिन्दू तो सिन्धु-नद से सम्बद्ध भारत की एक विशिष्ट जाति का नाम है। ‘अर्य’ का अर्थ है ईश्वर, स्वामी—सचराचर विश्व का स्वामी, उसका पुत्र (ईश्वरपुत्र) आर्य है।···’ मैंने बताया था।

दृष्टि उठाई तो अवाक् रह गया। बाबू साहब की अरुणाभ आँखों में चन्द बूँदें छलक आई थीं। पुतलियों में पले सपने जैसे धुलकर उजल आए थे। आनन-फानन मैं उन आँखों में देख न सका। इकबारगी देखने में जोर पड़ता था।

‘ये अश्रु राम के !’

तभी भर्राए-से स्वर में उनके भीतर का तीतापन बातों की राह बह कर बाहर आ गया :

“गले तक गदले भोग-विलास में डूबे हुए ये लोग भला क्यों कर जानेंगे कि···कि बहू न रही तो यहाँ रह क्या जाएगा ? कि मेरे लिए तो यह संसार ही स्त्री-हीन हो जाएगा !

“कौन जान सका कि मेरे लिए संसार में एक ही स्त्री हैं,—बहू ! इस जीवन के लिए बस, एक अकेली बहू ! यह न रहीं तो···तो···

* ‘गृहिणी सचिवः सखी मिथः··· ’’

---

* नाम (उमा-शङ्कर) के अनुरूप ही बाबू साहब का दाम्पत्य विरल था। बहू जी में तपस्विनी उमा और बाबू साहब में योगिराज शङ्कर और फिर दोनों की परस्परता में साक्षात् उमाशङ्कर के दर्शन होते थे। उन्हें जब भी देखता, मुझे

अशेष आशीष-भरे भावोद्गार मैंने उनके सजल उच्छ्वास पर से तैराए : "आपकी विकसित चेतना माँ की इच्छा और प्रेरणा से अभिन्न-सी हो गई है; आपका प्रत्येक सत्कर्म माँ से सम्पूर्ण सक्रिय एकत्व का आभास देता है। माँ का सोया पराक्रम आपकी एक पुकार से जाग सकता है। ऐसे में माँ आपकी न सुनेंगी और आयँ-बायँ बकने वाले के फूटे ढोल के-से बोल पर कान देंगी ?

"किताबी ज्ञान काँच से देखे हुए चाँद के समान होता है। काँच के भीतर से चाँद दिखता बेशक है, सीधी छुवन के बिना मगर वह न तो तन को पुलकित कर पाता है न मन को आह्लादित।

"बोलते सभी हैं, बोलना फिर भी सब को नहीं आता। एक तत्त्व आग है, एक पानी। आग पर पानी रखें तो वह आग हो जाता है। पानी आग पर उँडेल दें तो वह पानी-पानी हो जाती है।

किसी पर पानी फेंकें तो वह होली का कहकहा हो जाए, आग फेंकें तो एकदम होलिका-दहन।

"शब्द भी आकाश-तत्त्व का गुण है। उसका सही ढंग से प्रयोग हो तो पतञ्जलि के अनुसार 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।' प्रयोग करना न आया तो यह चाकू का करिश्मा नहीं कि उल्टे-सीधे, आड़े-तिरछे—कैसे भी लगने पर काट करेगा ही। बाल्मीकि की एक उपमा है—वाचमर्थान्तरं गताम्।"

इस बीच आभिजात्य वाले सन्तुलन के कारण उनकी मनःस्थिति में

प्रायः 'कुवलयानन्द' का वह पद्य याद आ जाता था :

परस्परतपः सम्पत्फलायितपरस्परौ
प्रपञ्चमातापितरौ प्राञ्चौ जायापती स्तुमः।

कि हम उस पुरातन दम्पती (उमा-महेश्वर) की स्तुति करते हैं जो अपनी अहैतुकी कृपा से प्राणिमात्र के माता-पिता के समान हैं और जो परस्पर के लिए की जानेवाली तपस्या के परस्पर फल-स्वरूप हैं। अर्थात् पार्वती की महती तपस्या के प्रत्यक्ष फल शङ्कर, और शङ्कर की अखण्ड तपस्या की परिणति पार्वती हैं।

बाबू साहब राम रहे तो वह सीता हुईं; शिव हुए तो वह शक्ति रहीं। उनकी परस्परता परकाष्ठा पर पहुँची हुई थी।

पर्याप्त अन्तर आ गया था। वह कालिदास का पूर्वोक्त श्लोक स्वस्थ चित्त से फिर पढ़ने लगे थे। तभी एक झटके में विषय बदल दिया। संकल्प, संयम और धैर्य्य के महाधनी बाबू साहब ने उमग कर कहा :

"मैट्रिक्युलेट हो जाए तो आप चन्दा को रघुवंश और शकुन्तला अवश्य पढ़ा दीजिएगा। भारतीय संस्कृति समझ जायगी। आप देखेंगे, उसमें मेरे ही संस्कारों ने नया आकार ग्रहण किया है।"

पल भर पहले क्या भर आया था उनकी आँखों में और अब क्या झर रहा है उनके मुस्कान-भरे होठों से ?

—मेरी ख़म पर झुकी गर्दन जैसे सम पर आ गई। जिन्दगी मेरे ही हाथ कब आई थी ! तसव्वुरों से आँखों का खोखल भरता आया था सब दिन !

भारतीय संस्कृति भावना-प्रधान है। भावना के प्रभाव का माप-तोल लौकिक बटखरों से संभव नहीं है। गरीब माँ मुट्ठी भर भी अन्न हो तो उसे भूखे बच्चों को ही खिला देती है। आप भूखी रह जाती है।

एक दफा बम्बई में सुदर्शन जी ने मुझे बताया था कि वह कहानीकार कैसे बने .

पाँच-छह साल की एक लड़की साल-डेढ़ साल के एक तन्दुरुस्त लड़के को गोद में लिए-लिए खेत से घर की ओर जा रही थी। चार कदम चलती थी और बच्चे को गोद से उतार कर पसीना पोंछने लगती थी।

सुदर्शन जी ने आगे बढ़ कर बड़े तपाक से लड़की से पूछा : 'भारी है ?'

लड़की ने बच्चे को गोद में सहेजते-समेटते हुए कहा : 'भारी नहीं, भाई है।'

—परस्परता की भावना से हम ज्यों-ज्यों हटते गए; अपनी ओर झुकाव बढ़ता गया, त्यों-त्यों भारतीय संस्कृति की संश्लिष्ट शाखा से कटते चले गए।

मदन-दहन के-से अतर्क्य कठोर व्यवहार के कारण, दो सखियों के साथ सम्पूर्ण समर्पण की भावना से शिव के सम्मुख खड़ी पार्वती, जब लज्जित और तिरस्कृत हो कर घर लौट गईं, तब उनके भीतर प्रति-हिंसा की आग नहीं भड़की, उन्होंने शान्त चित्त से अपनी भावना को

और अधिक सुदृढ़ किया :

'बरौं शम्भु न तु रहौं कुमारी !'

और यह दृढ़ता पैदा हुई कठोर तपस्या से। जो कैसे भी न हुआ, वह तपस्या से होगा।

भारतीय संस्कृति के अप्रतिम चितेरे ने अपनी आदि कृति—'कुमार सम्भवम्' में यही लिखा है। शारीरिक सौन्दर्य जहाँ परास्त होता है, वहाँ आत्मा की निर्मलता अष्टसिद्धियों तथा नव निधियों के ऐश्वर्य्य से ऊपर उठकर विजय की दुन्दुभि बजाती है।

× × ×

लाभ भरपूर लिया था मैंने बड़े चाव से उनके सत्सङ्ग का। गहरा असर डाला था मेरे विरस मानस पर उन दिनों की एक-एक घटना ने। मन की माँग उनकी पसन्द से मेल खाती थी। सच तो यह कि उनकी छोटी-से-छोटी बात भी प्रभावशाली होती थी। मैंने उन्हें कभी सामान्य न माना; दरगुजर कर देने की हर्गिज कोशिश न की। उनका मन गहन न था, दष्टि में अवश्य विलक्षण अन्वेषण-शक्ति थी। किसी का गाम्भीर्य और गोपन रहस्य उनसे छिपा न रहता था। घर की दहलीज पर प्रफुल्ल-मुख, मुसकुराते हुए मौजूद हों तो जानो देखते-देखते जीवन के विषम पथ की परेशानियाँ दूर हो गईं; आँधी-तूफान के कटु अनुभव हवा हो गए और आप सैर-सपाटे से भले-भले अपने घर लौट आए !

× × ×

आखिर मोना चलती बनी। माँ न आई तो उसने आहिस्ते से अपनी राह ले ली। ऊँचा उड़ना न सीखा। कुछ बस न चला था मेरा। धरती में धँस गई। किसी लाइलाज मर्ज ने आ दबोचा। मैंने गोद से उतारते हुए मुँह मोड़ने का सबब पूछा तो उसकी पथराई आँखों ने निःशब्द कहा :

'मैंने तो उतावली नहीं दरसाई थी फिर माँ ने मेरी निष्ठा क्यों झुठला दी ?'

'मोना के बिछोह के आँसू अभी पुँछे भी न थे कि लूना ने अपने होठों पर प्रथम रश्मि की मुसकान छिटकाते हुए पूछा : कैसे हाल-चाल हैं ? मोना दफन हो गई तो टेसुए भी नहीं बहाए ! कहते थे : तुम बिलौटों

से ही जी बहलाते हो, वर्ना इस बेजार जिन्दगी में अब और कहाँ, क्या रक्खा है! झूठे कहीं के! दम तोड़ते दम निकल रहा है? तो लो, मैं भी जाती हूँ। मोना अकेली वहाँ कहाँ रहेगी?

"मेरे साथ खेलने के लिए ही तो तुम उस मासूम को उठा लाए थे न? अब मुझे तुमसे मतलब? वह वहाँ अकेली तड़प जो रही होगी!"

लूना का रंग सुर्खाव का-सा था। मिलनसार ऐसी थी कि सोते-जागते कभी अकेली नहीं रहती थी। कैसे भी सूट-बूट वाले काले साहब आकर बैठें, वह अनगढ़ को सुघड़ बनाने पहुँच जाती थी। लता जैसी आवाज, फुलवारी के किसी भी कोने में मोना के साथ आँख-मिचौली खेल रही हो, मेरी एक पुकार पर फुदकती हुई हाजिर! एक-दफा मोना अनसुनी कर सकती थी लेकिन लूना तो जैसे हर घड़ी कान लगाए रहती थी कि किधर से भी मैं आवाज तो नहीं दे रहा!

छाया की विकृत अभिव्यक्ति कभी-कभी असमञ्जस में डाल देती थी कि दावे मैं कितने भी करूँ, लूना मानती उन्हीं को है!

मैं तो अब तक ऐसे ही काल्पनिक सम्बन्धों के ताने-बाने बुन-बुन कर जीने का व्यामोह पालता रहा हूँ। एक अकेले रमेश को याद करता हूँ तो जैसे समग्रता में मित्र का चित्र सवाक् हो जाता है। मैं यही मानता हूँ कि निराला, पृथ्वीराज और बाबू उमाशङ्कर—तीनों ने मुझे सांसारिक एषणाओं के पीछे सरपट भागने से अपने-अपने चरित्र से ही रोका। टोक कर नहीं, बड़प्पन के चंगुल में कसे-कसे मन को अनसुलझी गुत्थियों से छुड़ा कर महत्ता के गौरव को ही जीवन का आदर्श बनाने की सूझ-बूझ उन्हीं की देन है। सन्तोष और सादगी पर उन्होंने कभी प्रवचन नहीं पिलाया, उनके उत्कृष्ट और शालीन व्यवहार ने ही खरेपन की कसौटी पर अपनी पकड़ परखने का इशारा किया, खोटे की खरीद पर अलग से कोई पाबन्दी नहीं लगाई। मनुष्यत्व की सघनता देवत्व की अमृत फुहार से तन-मन को भिगोए, यह उनकी सदाशयता ही थी, लहकती हुई ललकार नहीं। लूना मेरे प्राणों की परछाई हो गई थी। गेट के बाहर कालीबाड़ी रोड तक पीछा करती थी कि उसे छोड़ कर घूमने-फिरने भी कहीं न जाऊँ। मेरे साथ वाले उसे जबरदस्ती लौटा लाते थे तो वह बेबसी में घुटती-सी बाहर मेरी अगवानी करने बैठी रहती थी।

मैं अभी मरने का यात्रा-मुहूर्त देख रहा हूँ। उधेड़बुन में पड़ा हूँ कि To be or not to be. वह मगर पलभर भी रुकी नहीं, मोना के पीछे चुपचाप चली ही गई।

'चन्दा जब पढ़ेंगी, तब पढ़ेंगी',—कहते समय हवा में धूल-सी उड़ी; निस्तब्धता में स्पन्दन-सा हुआ;—'अभी तो मैं आपको ही शकुन्तला सुनाने जा रहा था।

'एक दिन आपने राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद सुनाया था: 'अनसूँघा फूल, अछूता पत्ता, अनबिंधा मोती।' यह पीपल की छाँह-सा स्निग्ध अनुवाद है—

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै
रनाभुक्तं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।' का

इन अछूते बिम्बों में अभिव्यक्त अनुभूतियाँ झरे तन और मरे मन को भी गुदगुदा देती हैं। मुझे किन्तु इन उन्मादक रूप-बिम्बों से कहीं अधिक प्रभावी यह अरूप, भाव-रूप प्रतीत होता है:

'अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघम्'

—जन्म-जन्मान्तर तक संचित किए हुए सभी पुण्यों का एकमात्र फल।

कालिदास का जोर रूप पर नहीं, निष्पाप रूप पर है, मासूम या इनोसेंट पर ही नहीं, पवित्र रूप पर है। मासूम दिखनेवाला हर चेहरा पवित्र नहीं होता। पवित्रता रूप-कनक की सब से खरी कसौटी है। मैं तो कहूँगा, जो पवित्र नहीं, वह रूप ही नहीं है। एक छलावा है—एक खूबसूरत बला, इससे अधिक कुछ नहीं।

आनन्दधाम तक जानेवाला पथ वह नहीं है, देवता से ठुकराया हुआ वह एक ऐसा लुभावना उपहार है जो किसी अवकाश-प्राप्त कपास या टेसू का फूल हो तो हो, निर्माल्य का बासी कमल भी नहीं हो सकता। वह अन्तरतम की दीपशिखा नहीं, जल उठे दिए की लौ से छूटी चिनगारी है।

आपका सात्त्विक व्यक्तित्व जिस प्रभामण्डल से प्रदीप्त है वह चारित्रिक पवित्रता का ही है। सुअर के मांस और चर्बी से भोग की आग धधकाई जा सकती है, मुर्गमुसल्लम गटक कर चेहरा रोबीला

बनाया जा सकता है, शराबनोशी से बकवास का रुतबा बढ़ाया जा सकता है, मगर ऐसी सौम्यता आन्तरिक तृप्ति और आध्यात्मिक शान्ति ही सिरज सकती है। इसे ऐहिक सुख-सुविधाओं के सन्धाताओं को कैसे भी नहीं बताया जा सकता। और, सच तो यह कि कालिदास ने ऋषि-महर्षियों के सम्बन्ध में जो लिखा है, वह आप-जैसे राजर्षि को देखने के बाद काल्पनिक नहीं लगता :

'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चन-पद्म-रेणु-कपिशे पुण्याऽभिषेकक्रिया
ध्यानं रत्न शिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यद्वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मि स्तपस्यन्त्यमी।'

जहाँ कल्पवृक्षों का जंगल हो, वहाँ हवा पीकर प्राण धारण करते हैं।

एक कल्पवृक्ष सब कुछ दे सकता है, इस वन में तो पाँचों कल्पवृक्ष (मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पतरु और हरिचन्दन) मौजूद हैं, फिर भी कुछ पाने की ओर से ऐसी रुखाई कि जीने के लिए जैसे हवा ही काफी हो।

स्वर्णकमलों के पिंग पराग से सोनराए-से जल में कभी कोई केलि-कौतुक या विहार नहीं, बस, साँझ-सकारे यज्ञ के लिए पवित्र स्नान भर होता है!

रत्नजटित गुफाओं में ध्यान लगाते, समाधि जमाते हैं। अप्सराओं से चारों कोने घिरे रहकर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

सच तो यह है कि जिस स्वर्गीय सुख की कामना से ऋषि-मुनि कठोर से कठोर तप करते हैं, अनायास उपलब्ध उन्हीं सुखों के बीच ये तपस्वी तपस्या करते हैं।

—शकुन्तला का यह पुण्य श्लोक मेरी ओर से कोरी आपकी प्रशस्ति या चाटुकारिता नहीं है। आप खुद ही दाएँ-बाएँ देख लें: जिनके पास बेशुमार दौलत है, वह उसे कहाँ लुटा रहे हैं, उससे क्या कुछ खरीद रहे हैं?

महाभारत का एक प्रसङ्ग याद आता है। युद्ध में हारे हुए शत्रुओं को जरासन्ध देवताओं की वेदी पर बलि चढ़ाने लिए जा रहा था। जब

कृष्ण ने छेड़ा और धर्म की दुहाई दी तो जरासन्ध ने डपट कर कहा :

"कृष्ण, तुम कुछ नहीं जानते। सच्चे क्षत्रियों का तो यही धर्म है कि वह पहले बल-प्रयोग द्वारा किसी को वश में लाएँ फिर उसके साथ चाहे जैसा व्यवहार करें।"

जरासन्ध की-जैसी जिस्मानी ताकत अब कहाँ ? अब तो पैसे की ताकत ही सबसे बड़ी ताकत हो गई है ! पैसेवाला, जो मर्जी, खरीद सकता है। ऐसे में धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप का विवेक किसे है ? आप पर तो माँ की अपार कृपा है जो ऐसे जहरीले माहौल में भी आप अमृतपुत्र बने हुए हैं, आपका व्यक्तित्व ऋषि-कल्प है।

'पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।' किसी को भी सदाचार की सीख धर्मग्रन्थों से नहीं, आपसे लेनी चाहिए।

× × ×

You should not defraud me of my dues—बोलते-बोलते निराला चले गए। सरकार और जनता के एक-से खैरख्वाह कवि-महाकवि अब भी चाँदी काट रहे हैं। सिर्फ ईमान को दाँव पर न लगा सकने के कारण अकड़बाज निराला को लोहे के चने चबाने पड़े।

× × ×

मेरे अन्दर कोई शै है जो उस रास्ते से भरसक कतराती है जिस पर हर वक्त लोगों की टोलियाँ, गुलगपाड़े में मगन, शौकिया आती-जाती रहती हैं। उस रास्ते भी गुजरते हुए चक्कर उठते हैं, जो जब देखो तब, साँ-साँ सो रहा होता है। इर्द-गिर्द धमाधम मच रही है; खवे से खवा छिल रहा है और वह है कि खर्राटे भर रहा है और उसकी चौड़ी-चिपटी नाक पर मक्खियाँ भिनक रही हैं।

अब ऐसे कैसे रास्ते पर आँख लगी रही जिस से गुजरते वक्त मेरे मैले-फटे कपड़े के छोटे-बड़े सुराख न दिखें। मेरे पास सर्दी-गर्मी के अलग-अलग कपड़े न थे न, सो, मौसम काँटों का हो या फूलों का, सब चिथ गए एक साथ। ताल में छलाँगें लगाते या पथरीले पथ पार करते; इकट्ठे झुक आए बादलों में बूदों की झड़ियाँ बचाते या फिर फैली-फैली धूप में धूल-धूल पलकें पोंछते,—कौन कहे ! किन लहजों में बाँधूँ वे क्षण ? किन शब्दों में समेटूँ वे डलबल पल ?

खनखनाती पत्तियों से ढकी पगडंडी पर पाँव रखते ऐसी खलबली मचती; चरमराहट यूँ चहुं ओर को चौंका देती कि धूल के बगूलों से मैं घिर जाता; बाज के झपट्टे-सी आवाज में मेरी डरी-मरी चुप्पी लहू-लुहान हो जाती !

मन्दिर के अन्दर सर के बल चल कर जाता तो मक्खियों-ढकी बलिवेदी से माथा फोड़ लेता। सिसकियाँ खिसका कर खाली-खाली दबे पाँव पलट आता, गुस्से में तरेरी लाल-लाल आँखें घूरती ही रह जातीं।

बौछार कच्ची मिट्टी की दीवार पर जैसी नक्काशी कर जाती है, पक्की पर धागे की बनी लकीरें मेट भले ही दे, वैसी बना नहीं पाती। मेरे खण्डहर वन की दीवार रेखाङ्कित न हुई तो इसलिए कि वह पक्की है। बेमेल माहौल मिजाज को चुनौती न दे सका।

लू के थपेड़े ओस-कणों को सुखा न पाए। वृत्त और परिधियों का उल्लङ्घन मेरे ग्रामीण मन को रास न आया। आधुनिकता कभी मेरी जीती-जागती मजबूरी के आड़े न आई। जब भी नागरिक सभ्यता की पुख्तगी मेरी नस-नस में रसी-बसी अन्दरूनी गँवई-संस्कृति को लिज-लिजी करार देने आगे आई, या तो आँखें सुर्ख किए या फिर नम पलक पोंछते पलट गई। यह जिन्दगी और कैसे भी नहीं जी जा सकती थी। 'अपना सोना खोटा तो परखैया का क्या दोष ?'

× × ×

कदम-कदम पर आड़ी-तिरछी चट्टानी चढ़ाइयाँ, फिसलन-भरी कँटीली ढलानें, आँख और कान के बराबर चार-चार अङ्गुल के फासले पर टेढ़े-मेढ़े मोड़,— जिन्दगी का यह हुलिया और अपनी पगड़ी अपने हाथ की ऐसी रस्सी-सी ऐंठी आन जो जान के साथ आए, जनाजे के साथ जाए !

ऐसे में कानपुर की कुमारी अमला टण्डन मुझसे हँसोड़ कहानियाँ लिखना सीखती थीं। अब इससे अधिक झाग-भरी हँसी उठानेवाला और कौन-सा प्रसङ्ग होगा ?

कुमारी टण्डन बाबू साहब की सगी भानजी थीं। मौलियर के नाटक हों कि जी. पी. श्रीवास्तव की कृतियाँ,—सब पढ़ने लगा था कि

कहीं से भी हँसी उधार ले सकूँ और

'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा,
भानुमती ने कुनबा जोड़ा।'

के बताए तरीके से मैं अटपटी कहानियाँ गढ़ सकूँ और अमला को लिखाते समय कहीं न अटकूँ।

एक दिन सीखने के दर्म्यान अमला अचानक पूछ बैठीं :

'शास्त्री जी, एक बात पूछूँ, बुरा तो न मानिएगा ? मामाजी से आपकी जान-पहचान कहाँ हुई ? चन्दा को पढ़ाने के लिए, जहाँ तक मैं जानती हूँ, कोई इश्तहार तो हर्गिज न निकला था।'

दिमाग अब कहीं ठिकाने आया। बिकाऊ बर्तन को लोग-बाग ठोंक-बजा कर देखते ही हैं।

प्रश्न पूछने का ढंग स्निग्ध या कोमल न था। उससे कोई शुभ्र-शीतल प्रभाव पड़ता नहीं दिखता था। मैंने चक्कर खाते माथे को दोनों हाथों से दाब कर कराहते-से स्वर में कहा :

'मेरे आकाश में धरती की धूल भर गई थी। जब उड़ान भरने की गुंजाइश न रही, अपना घोंसला तलाशते हुए एक पथ-भूले परेशान ंछी की तरह वहाँ उड़ा, यहाँ गिरा ! चौकसी काम न आई; जोखिम उठाना पड़ा।'

अमला ने आदतन अपने सूखे होठों पर जीभ फिराई। उनकी अपलक और स्थिर दृष्टि मेरे उतरे चेहरे पर लगी थी। बोलीं : अरे ! आप तो शायद बुरा मान गए।

'नहीं तो', मैं भी सूखी हँसी हँसा,—'ऐसे साफ-सुथरे, अच्छे-भले सवाल से भला कोई क्यों कर बुरा मानने लगा ?

कोरे कागज पर पतली-पतली उँगलियाँ फिसलाते और लाल कलम सँभालते हुए अमला के चेहरे की हरियाली उड़ गई थी, और अब उस पर पीली-सुनहली आभा ढलती-सी दिखने लगी थी।

मैं बाएँ हाथ से पाँव खुजला रहा था; आँखें छत ताक रही थीं; कान कुछ और अनसुना सुनने को चौकन्ने हो रहे थे और मन में गगन गहरा रहा था—

'But there may come another day to me—
Solitude, pain of heart, distress and poverty.'

जिसकी प्रतिभा उज्ज्वल भविष्य न सिरज कर विश्वसनीयता खो बैठी है, उससे न किसी को आन्तरिक आह्लाद होनेवाला है, न सात्त्विक सन्तोष मिलने वाला है, एक कौतुकमयी जिज्ञासा वह फिर भ जगा सकती है कि वाकई मैं यदि कुछ हूँ तो यह गिरावट क्यों कर आई ! विद्या ने अभाव और भाव के दुर्लंघ्य प्रवाह पर जो एक सेतु खड़ा किया था उसका पुर्जा-पुर्जा क्यों चर्रा गया ? अमला को बलि के बकरे की आँखों देखकर कहा :

A man I am crossed with adversity.

अमला जी, अभी मेरा मन दुश्चिन्ताओं से दोचित्ता-सा है। सही जवाब देने की स्थिति में नहीं हूँ, फिर किसी मौजूँ मौके पर···

× × ×

पहले-पहले दिन पढ़ाने आया था। भाग्यचक्र के घूम जाने से एक अपराधी की तरह सिर लटकाए इसी कमरे के बाहर खड़ा था, अपनी बेबसी में खीझा-सा, जैसे फेफड़ा फटा जाता हो; रोएँ पसीने से भीग रहे हों ! गहरे सोच में पड़ा हुआ कि जैसे यह जलन झिल न रही हो ! तभी दरवाजे का नीला पर्दा झटक कर अचानक ऊर्मिला बाहर आई। चहककर प्रणाम किया और जैसे मेरी मौजूदगी से फैलती हुई दुर्गन्ध से तनिक परे हट कर, ठनक कर पूछा :

"पंडी···जी,·· नहीं,·· सास्त्रीजी, आप सरसों का तेल लगाते हैं ?" और सर झुका कर मेरे हामी भरते ही उसने अमला और चन्दा क पुकार कर कहा : 'ए र् र् राम !' बहीन, सास्त्रीजी कडुआ तेल लगाए हुए हैं, ए राम···आक् थू···कैसे पढ़ने बैठोगी ? ए र् र् र् राम ! ए र् र् र् र् र्···

मेरी साँस को रुकने का-सा झटका लगा। आज पहली बार पढ़ाने निकला था। लम्बे बालों को फहर-फहर होने देना गवारा न था, सो जिस तेल का भी जुगाड़ हो सका, भरपूर चुपड़ कर देर-देर तक स्नान किया। पेट में गढहे पड़ जाने के डर से, जो भी चना-चबैना नसीब में था चापुड़-चापुड़ चबाकर तेज कदम यहाँ आ गया था। फीकी-फीकी-सी मुसकान मुँह पर चिपकाए हुए था, जो अब गहरी साँस लेने से सूख-सी गई थी। तभी किधर से भी हँसती हुई चन्दा आई और···

चन्दा के आने का तो आज भी समय हो गया। कहाँ हँसोड़ कहानी और चुटकुले कहने-सुनने के वक्त के कहकहे; चूँ-चिरा किए बगैर फुरती से फिरहरी की तरह फड़कते हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग, और कहाँ आब-दाने की आफत उठाए हुए एक अजनबी नौजवान की आँखों में आँसू! सिसकियों-सी उसकी जिन्दगी की कहानी!! —कि जिसे सुनने पर चन्दा की हँसी रोके न रुके। निरख उनकी कितनी पैनी है, बिना व्यङ्ग्य के बोल ही नहीं फूटते। निन्यानवे फीवर में भी मुँह नहीं मुरझने देतीं।

—'तोड़ किसी प्रसङ्ग का हो, बात अन्त में मुझी पर आती है'—बोलती, हँसती चन्दा अन्दर आ गई! 'अभी-अभी शास्त्रीजी मेरी ही तारीफ में तो टेसुए बहा रहे थे। तुरत 'उसकुस' में कैसे पड़ गए!'

"अमला बहन, गजब के हैं यह शास्त्री जी, कितने ही दिन पढ़ाते हो गए थे, इन्होंने कभी नजर ही नहीं उठाई थी। जमीन ताकते थे या किताब! बड़ी ऊब लगती थी मुझे। वह तो कहो; चिढ़कर मैंने एक दिन ऐसी चौंकानेवाली हरकत की कि यह हक्के-बक्के-से मेरा मुँह ताकते रह गए।"

अमला ने कहा : मैंने तो भई, न मुँह चिढ़ाया, न चौंकाया। यूँ ही पूछ बैठी : आगे कहाँ थे? यहाँ कैसे आ गए? शहर में अपना-पराया कोई नहीं, कहते हैं, इधर दूर तलक कोई रिश्तेदारी भी नहीं है। फिर···? जाने दो······और किसी दिन···

कहती-कहती कॉपी-कलम सँभाल कर चलती बनी। कोरे कागज-सी चन्दा की अनलिखी पढ़ाई चालू हो गई।

× × ×

देह धरे के दण्ड हैं! यादें आँखों में लहर-लहर आती हैं। 'और सूझी और दिखी' की कशमकश है। पीपल पर हारिल उतरे हैं? बनैले तोते तो ये नहीं हैं। कैसी सुरीली आवाज है इनकी। मेरी साँसें जब ऊपर उड़ेंगी, हारिल से कुछ हासिल करती हुई आगे बढ़ेंगी? ये सुर सुरबहार से तो नहीं छनते! वनफूलों के खिलखिलाने का क्या रहस्य है? हम हर तरह मोल-तोल की बोली के क्यों आदी हो गए? थोड़े-से सुर टेपरेकार्डर की गिरफ्त में आते हैं, सागर के महाप्राण गान टेप में

बन्द होकर बाजार में क्यों नहीं बिकते ? वनफूलों की जो खुशबू हवाओं में उड़ी-उड़ी फिरती है, वह सेंट-एसेंस की तरह शीशियों की शोभा क्यों नहीं बन पाती ?

बड़े बर्तन की खुरचन भी बहुत है ! आसमान लुट-पिट कर खाली नहीं हो गया है।

मैं यहाँ कहाँ आ गया ? शर्म से जैसे अपने ही जिस्म में दुबकता-धँसता चला जा रहा होऊँ ! ऐसा कैसा तूफान आ गया कि समुद्र में भरी हुई नाव अब डूबी तब डूबी होने लगी ? जीवन दारुण दुःख का पर्याय बन बैठा। मौत अपने हाथ में नहीं रह गई। फिर भी मर जाऊँ तो…

Be the green grass above me
With showers and dewdrops wet;
And if thou wilt, remember,
And if thou wilt, forget.

भविष्य का भेद छिपाकर होंठ फड़काता ! जिन्दा लाशों का कब्रिस्तान अस्पताल ! राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक, पटना ! एक छोटी-सी मेज पर माथा टेक कर चीखा : यह सब क्या देख-सुन रहा हूँ ? मुझे यहाँ कौन ले आया ? गङ्गा की ओर भटकती आँखों ने सामने देखा : क्या कामरेड रामदेव शर्मा ? इन्हींने फटे मलमल को माँड़ में अकड़ा दिया ? सूखे पेड़ को, बारिश के झाँसे में लाकर, जड़ से उखाड़ लिया कि उसे फिर से किसी दूसरे हरे-भरे उपवन में रोपेंगे ? इस बात के पीछे अपने आपसे बातें कर-कर के होंठ नीले कर लिए हैं। फोम का गद्दा कभी नसीब न हुआ, यहाँ कफन-सी सफेद चादर से ढके उसी गद्दे पर उदास निराश निढाल और चूर लेटा हुआ हूँ। पिछली यादें डंक मार रही हैं। सकुचाई-डूबी आँखों में - अगले क्षण की दुश्चिन्ता कि—

'सुमन भर न लिए,
सखि, वसन्त गया।'

या फिर पानी मथ कर घी निकालने की कोशिश कि वह टहनी की अँगराई, पेड़ का पेंग भरना, फूलों का खिलखिला कर झरना, खुशबू का वातावरण को बरगलाना, आहिस्ता-आहिस्ता मौसम का सम

पर आना—बियावान को गुँजा रही है। धूप में बाल सफेद करने का सदमा। सोने के बरतन में रखे हुए विष का अमृत न हो सकने का गम। काँच धुँधला हो गया। चाँदनी कोहरे में तबदील हो गई।

झूठी इज्जत के लिए आय से अधिक व्यय का अभ्यास कर लिया था सो ऋणदाताओं के ऋण से दबता ही चला गया। उबरने का जुगाड़ मेरे बूते के बाहर हो गया। दारुण दुःख सहने के लिए पत्थर का कलेजा नहीं मिला। अब कालकोट ने अपने वास के लिए मेरे ही मन को जाने क्यों सुमन मान लिया! याद मन से नहीं मिटती, पीठ-पीछे दस-बीस खोटी-खरी सुनानेवाले ही भरोसा देते हैं! मेरा अज्ञान-कृत अपराध क्षम्य हो, अनर्थ की आशङ्का से प्राण छटपटा रहे हैं! मैं अनन्य भाव से तुम्हें पुकार रहा हूँ: प्रभु, तुम्हारी अखण्ड और निश्चित ज्योति के सामने मेरा मिट्टी का दिया झिलमिला कर बुझ भी जाए तो कहाँ क्या अन्तर आने वाला है? विश्व-व्योम को भेद कर तुम तक पहुँचने वाली यह पुकार न भी हो, मेरी मूक मनोव्यथा आसपास छिपे मेरे एकमात्र सहारे के कानों को जरूर सुनाई देगी। हृदय की गहराई में सन्नाटा छाया हुआ है, होठों से छिटकते बोल अन्तस्तल की ध्वनियाँ भूल आए हैं!

हर घड़ी जगे हुए को न देख अपने गिर्द सोए-पड़ों को सहारे के लिए आवाज दे रहा हूँ। संजीवन-मन्त्र भुला कर मृतवत् निश्चेष्ट जीवन को हिला-डुला रहा हूँ। कहीं-से कोई आहट नहीं मिलती तो अचकचा कर अकुलाहट आ दबोचती है। दिल पिघलता रहा था जीव-दया से, अब प्राण छटपटा कर कहीं ऐसे छिपना चाह रहे हैं जैसे साँप को देख कर मेढ़क।

जंगल पार करने में वहीं साँझ हो गई, जहाँ खूँखार जानवरों का डर था। एक ही सर्राटे में काट डालो जीवन-डोर की मजबूत गँसी गाँठों को, केवड़े और कस्तूरी की पैनी सुगन्ध और क्या काटने यहाँ आई है! सारे अभाव-अभियोगों की भस्म-राशि भेद कर यह उज्ज्वल-नील प्रकाश और किस आकाश की ओर उठ रहा है?

रमना के धुँधलाए क्षणों की छवियाँ कतार बाँध कर कुहासे में तैरने लगी हैं। लोहे के तारों से गुँथी छत पर फैली, चाही-अनचाही

लतरें, कलियाँ लेने लगी हैं।

बाबू साहब का प्रसन्न गम्भीर व्यक्तित्व छवियों में उभरने लगा है: वह इन्दिरा का आनन्द-मन्दिर, सर्वशुक्ला सरस्वती का राजहंस; वह विचार की चारुता से प्रदत्त और आचार की अनुशासित दृढ़ता से गृहीत समुज्ज्वल संस्कारों का एकस्थ समुच्चय, वह समग्र सम्भावनाओं और स्वनिर्मित नैतिक सीमाओं के प्रबुद्ध और असीम चेतना-स्रोत···

× × ×

कोई संस्कृत भाषा का प्रचार करने निकला हो या सनातन धर्म का उद्धार करने, बेहद बातूनी अत्तार हो या संकोची चित्रकार, बाबू उमाशङ्कर प्रसाद के दरबार से खाली हाथ कोई नहीं लौटता था। औढरदानी भी कहे जा सकते थे, दानशील तो थे ही।

उस रोज संस्कृत का, बाबू साहब के बंगले में, प्रचार करने जो ब्राह्मण-देवता पधारे थे, वह कुल मिला कर—

'बड़ा धोता बड़ा पोथा
पण्डिता पगड़ा बड़ा'

ही थे। बाबू साहब से संस्कृत में और मुझसे विशुद्ध बज्जिका में बोलते थे। पूछ कर पता लगा लिया था कि इस फैले-फैले राजपाट के बाबू साहब इकलौते मालिक हैं। मैं—

'एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति' कहकर पान उगलने बाहर निकल गया। चूना तेज था। जीभ कट गई थी।

जब लौटा, प्रचारक जी संस्कृत की टाँग तोड़ रहे थे। बाबू साहब से कह रहे थे:

'सिंहनी एकम् एव पुत्रम् उत्पादयति।'

सुनते ही मेरी जीभ एक बार फिर कट गई। इशारतन पूछा तो भी न समझा। 'सिंह-सिंहनी ही जानते थे। 'ह' का उच्चारण भी 'घ' के जैसा करते थे। सिंघनी बोलते थे। आश्चर्य कि यही महाशय संस्कृत का प्रचार करने निकले थे और इस पुण्य कार्य के लिए बाबू साहब से मोटी-सी रकम पाना चाहते थे। मेरी मौजूदगी मोटी को कुछ पतली करा सकी, बहुत हल्की-फुल्की वह फिर भी न हुई।

विदाई के सौ रुपये लेकर जयजयकार करते हुए निकले तो भौं चढ़ा कर मुझसे बोले : 'ब्राह्मणस्य ब्राह्मणः शत्रुः ।'

मैंने आँखों में टेसू खिला कर कहा :

'वैश्वानरमन्तरा कोनु हव्यद्रव्यं भक्ष्यति ? मुष्टमिव दुष्टमिदं द्रव्यन्तु जातवेदसेऽपि न रोचिष्यते ।'

आधे-अधूरे अध्ययन वाले को मेरी संस्कृत तो पल्ले पड़ने से रही। खाँस कर हिन्दी में डाँटा मुझे (शायद 'सिंघनी' के आकस्मिक आक्रमण की आशङ्का से उनका कलेजा धक-धक कर रहा था)—

'आपने क्यों बाबू साहब के सामने मुझे नीचा दिखाने की कोशिश की थी ? आखिर 'सिंघ' का स्त्रीलिङ्ग रूप 'सिंघनी' नहीं होता तो क्या 'बाघिन' होता है' ?

'पिटी (Pity) !' मैंने कहा—'सिंघनी' नहीं, 'सिंही' होता है'

ओ ऽऽऽऽ हाँ ऽऽऽऽ हाँ ऽऽऽऽ कहते हुए तेज कदम चलते बने । मैं वहीं का वहीं सोचता खड़ा रहा ।

With men thou canst not live
Their thoughts, their ways, their wishes are not thine;
And being lonely thou art miserable.

× × ×

अत्तार ने करिश्मा दिखाया। पूरी भरी बड़ी बाल्टी में एसेंस की एक बूँद डाली। बाल्टी का सादा पानी गुलाबजल हो गया। बोला :

हुजूर का नाम सुन कर चोरी-चोरी यह शीशी सिर्फ हुजूर के लिए लिए आ रहा हूँ। कन्नौज वालों के पर जल जाते हैं; इसकी खासियत देखकर सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है···

दाम पूछने पर बोला :

ला हौल बला कूबत, इल्ला ब इल्लाह ! कौन सियाहबख्त हुजूर से दाम माँगेगा ? मैं तो बख्शिश का तलबगार हूँ कि दूर से, कैसी हिकमत से, जेब की सब से निचली तह में छुपा कर ला पाया हूँ इसे ! कोई तेज-तर्रार हो तो आनन-फानन भाग निकले। मुझ पर तो इसकी पोशीदा खुशबू का ही नशा-सा छाया रहा। दम खुश्क हो रहा था,

अब दोजख की आग जो न कराए, मैं ऐसी सारी अड़चनों, दुनिया भर की तमाम मुश्किलों को ठोकर पर रख कर हुजूर के दौलतखाने पर आदाब अर्ज करने हाजिर हुआ हूँ ··

चीज दस की होगी, चाँदी के सौ सिक्के ले गया।

तमाशबीनों में जो ज्यादा चतुर चालाक थे, बोले : लफ्फाजी के पैसे लिए···।

बाबू साहब निस्तरङ्ग सागर के समान सनीर नीरद के-से गम्भीर स्वर में बोले :

आप लोगों ने शायद ध्यान नहीं दिया, उसने कहा था : दोजख की आग जो न कराए···!

सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। एक अकेला मैं खुश्क हवा और चिनगी-लगी धूप से मुरझाए हुए खेत की तरह पसरा-सा था कि जिसने अब बाबू साहब के अमृत झरते बोल से हरिया कर सिर उठा लिया था।

तारकेश्वर बाबू बोले :

सब जानते हैं, इस दरबार से कोई खाली हाथ नहीं लौटता, सो झूठ-मूठ अनाप-शनाप बहाने बनाकर लोग-बाग कहाँ-कहाँ से चले आते हैं।

इस घड़ी बाबू साहब की आँखों से चाँदनी-सी छिटक रही थी। वह मोह-रहित प्रबुद्ध-सत्त्व के समान भुजा उठा कर मर्माहत शब्दों में फूट पड़े—

'बहाने झूठे हो सकते हैं, गरज झूठी नहीं होती।'

× × ×

त्रिपुरसुन्दरी के मन्दिर का निर्माण-कार्य बड़ी तेजी से चल रहा था। अष्टधातु की एक विशाल प्रतिमा अपनी आँखों के सामने ढलने वाली थी। कलकत्ते के कुछ बंगाली मूर्तिकार अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सौष्ठव साँचों में समो रहे थे। बाबू साहब रक्तचन्दन से स्वयं मन्त्र लिखते थे जिन्हें कारीगर कमानी से उगाकर ढलने योग्य बना लेते थे। प्रतिमा पूरी उतरी उनकी कसौटी पर। हाँ, माँ का मुँह उन्हें पसन्द न आया। उनके चेहरे पर उभरी उदास छाया प्रकाश से प्रश्न पूछने लगी। आँखें माँ की मानवीय सौन्दर्य से भरपूर थीं, अलबत्ता कोई दिव्य ज्योति नहीं

फूटती थी उनसे। मैंने कहा : इन पियक्कड़ कलाकारों को जीवन भर में जब वह ज्योति-प्ररोह कभी दिखा ही नहीं तब वह उसे किस भाँति उकेरेंगे ? ये व्यवसायी मूर्तिकार हैं, अधिक-से-अधिक किसी भी चित्र की प्रतिमूर्ति बना देंगे। मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठित करना तो सृष्टि-रचना के समान एक अत्यन्त दुरूह कार्य है, उसके लिए कठिन तप से अर्जित संस्कार चाहिए, ये अभक्ष्य भक्षण करने वाले पेशेवर नकलची कारीगरी सीखते हैं, आत्मनिर्माण ये क्या जानें ? आपने जो चित्र इन्हें दिया है, अपनी ओर से इन्होंने उसकी भरसक अनुकृति ही प्रस्तुत की है। कु-संस्कारी होने के कारण इन्हें मालूम नहीं है कि—अनुकरण बाह्य और स्थूल का ही होता है, सूक्ष्म और दिव्य का अनुकरण असम्भव है।

बनारस में दशाश्वमेध घाट के पास चौसट्ठी माता का एक छोटा-सा मन्दिर है। बीहड़ की चढ़ाई है, सैकड़ों सीढ़ियाँ तय करनी पड़ती हैं। श्रद्धा उँगली पकड़ाकर न चलाए तो गङ्गा नहाने के बाद सीढ़ियाँ चढ़ना नरक की यन्त्रणा-जैसा जान पडे। यों वह स्वर्गारोहण का-सा दृश्य है। परेशानी तो उठानी ही पड़ती है। हाँ, अगर एक दफा साहस बटोर कर ऊपर चढ़ गए तो बस सारी हैरानी खत्म हो गई समझिए। चौंसठ योगिनियों की चर्चा तन्त्र में है।

मन्दिर में, संभव है, चौंसठों योगिनियाँ रही हों। चौसट्ठी माता या तो चौंसठवीं योगिनी हैं या फिर चौंसठों योगिनियों की अधीश्वरी देवी। मूर्ति की आँखें ऐसी हैं जिनसे प्रकाश का निर्झर-सा झरता है। त्रिविध तापों का सहसा शमन हो जाता है। और आह्लाद ऐसा होता है जैसे जीवन-पथ की सारी बाधाएँ, समग्र विपत्तियाँ अनायास, एक ही झटके में, समाप्त हो गई हों; और एक स्नेह-भरी, करुणा-बसी हँसी मन की गैल में फैल रही हो !

मन्दिर से निकल कर आगे बढ़ने पर साधक शारदाचरण की प्रतिमावाला एक और मन्दिर है। मैंने सड़क से गुजरते हुए कुछ सम्भ्रान्त शाक्त-भक्तों से पूछा : ऐसी आँखें किसने बनाई होंगी? उत्तर मिला : भक्त मूर्तिकार ने !

कुशीनगर में भगवान् बुद्ध की लोकोत्तर प्रतिमा के दर्शन करने पर भी यह प्रश्न मन में उठा था। उत्तर भी तत्काल मिल गया था : मथुरापुरी के एक बौद्ध शिल्पी ने इस अमर शिल्प की सृष्टि की है।

यही मैं आपसे कह रहा हूँ। जिसने आँखें मूँद कर अन्तरात्मा के प्रकाश-प्रवाह में डुबकियाँ नहीं लगाईं; आनन्द के फड़कते पंखों की अमृत ध्वनि नहीं सुनी; शान्ति की गहराई से जागृति के उभरते-उतराते सपने नहीं छाने, वह वैसी आँखें नहीं बना सकता।

बाबू साहब ने अपनी घायल भावना का दर्द दुहराया : 'फिर भी चमकीला और भाव-भीना एक दूसरा चेहरा बनेगा !'

मैंने डर कर जीभ निकाल दी। रामकृष्ण परमहंस का किस्सा सुनाया कि जगद्धात्री की मूर्ति का एक पाँव टूट गया तो सभी धर्म-शास्त्रियों ने अनुष्टुप् से स्रग्धरा तक अनेक छन्दों के श्लोक पढ़ कर समधीत कण्ठ से एक व्यवस्था दी : खण्डित मूर्ति की पूजा वर्जित है, नई प्रतिमा स्थापित हो !

रामकृष्ण ने कहा : अपनी माँ का एक पाँव टूट जाए तो हम उसके लिए चिकित्सा की व्यवस्था करें-कराएँगे या बाजार से एक अच्छी-खासी माँ उठा ले आएँगे ?

कहने को क्या-क्या न कहा मैंने, मगर वह जुनून की गिरफ्त में थे। उनका सौन्दर्यबोध जिस ऊँचाई पर पहुँचा हुआ था, कोई वजह नहीं कि उन पर इन बातों का कोई असर होता। उन्होंने ऊँची उड़ान भी भरी : परमहंस महाशय भी तो चिकित्सा के पक्ष में ही थे। शल्य-चिकित्सा सुश्रुत से अनुमोदित एक चिकित्सा-पद्धति ही तो है ! जब तक मेरी कल्पना की आँखें नहीं बन पातीं, मूर्ति छिन्नमस्ता रहेगी, क्या फर्क पड़ता है ? फिर कारीगर का भी दावा है, उसे एक अवसर और दिया जाए !

मैंने बुरी तरह खीज कर कारीगर से पूछा : 'प्रतिमा का गला घोटना होगा ?'

'हाँ ऽऽऽ'

'किस तरह ?'

'तेज आरी है। छेनी से काटने पर तो दूसरे अङ्ग भी प्रभावित होंगे।'

अंजामकार प्रतिमा ने दो बार अपने ही सिर की बलि ली, तब कहीं आँखें खुलीं उसकी !

मैं स्तब्ध और अन्तर्दग्ध हो यह सब टुकुर-टुकुर देखता भर रह गया। बाबू साहब परम प्रसन्न थे, उन्हें माँ की मनचीती आँखें मिल गई थीं। अकब में मैं ही दुःखी था, दो-दो सिरों की बलियाँ लेकर उसने आँखें जो दिखाई थीं !

बाद में याद आया, प्राण-प्रतिष्ठा के पूर्व प्रतिमाएँ बाजार में बिकनेवाले दूसरे खिलौनों-जैसी ही तो होती हैं !

मेरी विक्षिप्त बुद्धि सूर्य और पृथ्वी के बीच झञ्झावात के झूले पर झोंके खाती रही : वाकई क्या देवी के ऐसी ही दृष्टि होती होगी ? निःशब्द समाधान भी मिल गया कि भक्त की रुचि का मान रखने के लिए देवी दृष्टि बदल भी तो सकती हैं ! इतना तो पिंजड़े में पड़ा एक तोता भी कर लेता है। देवी इतना भी न कर सकें तो पिंजड़े से भी बड़े मन्दिर में वह बन्द कैसे रहेंगी ? भक्त के घंटे घड़ियाल के हिसाब से जागेंगी-सोएँगी कैसे ? भक्त की रुचि का बना खाएँगी क्यों कर ?

मूर्ति बनी। मन्दिर खड़ा हो गया। प्राण-प्रतिष्ठा की तिथि भी निर्धारित हो गई। वह चाहते थे, यज्ञ में एक आचार्य्य मैं भी रहूँ, परन्तु पेशेवर पुरोहितों ने इसकी अनुमति नहीं दी। कहा कि वह शाक्त धर्म में दीक्षित जो नहीं हैं ! असलियत यह कि उनके गऊ के खुर के बराबर मोटी चोटी, टेकनिकलर चन्दन आदि की समकक्षता में मेरा नटवर-वेश था जो सब किए-दिए पर पानी फेर देता था। नहीं तो षोडशी देवी के तब तक अप्राप्त ध्यान-प्रणाम के मन्त्र-श्लोक मैंने ही तो रचे थे, संस्कृत पद्यों में मेरा ही लिखा आमन्त्रण-पत्र गुरु-पुरोहितों तक पहुँचा था !

एक अत्यन्त स्वस्थ-सुन्दर बकरे का रक्ताक्त सिर प्रज्वलित अग्निकुण्ड में डाला गया। उसे देख सर्वभक्षी अग्नि की लपलपाती हुई जीभ भी थोड़ी देर को सिकुड़-सी गई। ज्वालमालाएँ धुआँ-धुआँ हो गईं। अक्षत-चंदन, धूप-दीप, नैवेद्य, पुष्प-अगुरु आदि गन्ध-द्रव्यों की सुगन्ध से महमह करते वातावरण में चिरायँध फैल गई। देखते-देखते बकरे की अँसुआई आँखें देवी की सूखी आँखों से अपना अपराध पूछती-पूछती जल-बल कर राख हो गईं।

पूजा पूरी हुई। पूजा की पद्धति पुरोहितों के हाथ में थी, पुजापा

बाबू साहब के हाथों में। दूसरों की तरह मुझे भी मलमल का एक थान और एक सौ एक रुपये दिए गए। दीक्षित पुरोधा आँखें तरेरे रह गए। बाबू साहब की निर्विकार और निर्विकल्प प्रसन्नता के लिए मुझे उसे अनिच्छया भी स्वीकार कर लेना पड़ा।

बकरे की धारदार आँखों ने मेरे कुण्ठित मन की जितनी खुदाई की थी वह वामाचार के सौ-सौ मन्त्र ठूँस देने पर भी भरनेवाली न थी। यों मलमल ने उसे भरसक ढक दिया; वजनी सिक्कों ने मलमल को उड़ने न दिया; दबाए रक्खा। गड्ढे भरते कहाँ हैं, ऐसे ही ढक दिए जाते हैं।

× × ×

मैं अपने ऊपर लदे अजनबीपन से ऊबा न था। यों एकान्त में एक अनचाहे प्रवासी की तरह घिस-पिस रहा था। चमक नहीं रह गई थी आँखों में। अभाव मेरे सब भावों के ऊपर था। माँगना-चाहना फिर भी मेरे स्वभाव में न था। नरकट को बाँसुरी बनाना आता न था। गाता था हर रोने को घड़ों में, मगर स्वर में रियाजवाली खनक न थी जो इस बेमौसम मुँदे-मुँदे वातावरण को खोल दे। शब्द मुखौटा न रहे, अर्थ साया न बने।

चन्दा ने मेरे खयाली पुलावों की खुशबू का जायजा लिया। मुकम्मल तरीके से पढ़ाते वक्त तपाक से पूछा: हर महीने, तनख्वाह के पैसे, मिल तो जाते हैं ?

उस अनचखी वस्तु का स्वाद बताने में असमर्थ था। कन्नी काटने की कोशिश में सिर झुकाए-ही-झुकाए बोला: सब ठीक है। अभी परसों ही तो एक कवि-सम्मेलन में एक-सौ-एक रुपए मिले हैं। आवश्यकता एकदम कम कर देने पर असुविधा नहीं होती। यूँ भी रुपया मेरा क्या लगता है ?

चन्दा ने मेरी नींद में जैसे अपने दिन का सपना देखा :

'अच्छा, तो यह बात है ! …कितने दिन हुए ?…'

'कितने दिन क्या ? सिर्फ सात महीने !' —मैंने कहा।

'सा…त …महीने ? आपने कभी बाबूजी से नहीं कहा ?…'

जैसे कोई भटकी हुई किरन का एक कण निकल कर औचक पहाड़

की चोटी पर चढ़ जाए, मेरे अधखुले होठों से कसकता-सा स्वर फूट पड़ा :

"बाबूजी ने भी तो कभी न सोचा : यह जो मेरे आसपास अक्सर होता है; हर आने-जानेवाला जिससे जरूर मिलता-बोलता है, वह क्या खाता-पीता है ? कैसे इतने साफ-सुथरे कपड़े पहनता है ? प्रौढ़ और परिपक्व विचार वह कोहरे में तो नहीं फेंकता; झड़बेरी में तो नहीं उलझाता; धधकते शोलों में तो नहीं झोंकता, साहित्य-संगीत, धर्म-दर्शन, तन्त्र-मन्त्र की किसी भी चर्चा में अपनी अभिरुचि और विवेचन से सबको भरसक खुश रखता, हँसाता ही रहता है, वह शायद इसी महल के किसी कोने में, एक छोटी-सी कोठरी में कहीं रहता है; यहाँ उसका अपना-पराया कोई नहीं है; ऐसे में जब वह तनहा होता होगा, किससे अपने सुख-दुख की बात करता होगा ? वह ऐसी सारी घुटन कैसे पीता होगा ?"

चन्दा की नम आँखों से शबनमी ज्योति-सी फूट निकली। मैं सोच में डूब गया—"अगर किसी गरीब के ऐसी अमीर, कोई सगी बहन भी होती तो मुझ-जैसे नाकाम, नाउम्मीद भाई से उसकी लगभग दस साल छुटाई क्या उसे इस हद तक संवेदनशील और हमदर्द होने देती ?"

"घर ने तो मुझे रास्ता दिखा दिया था और लो, रास्ते-रास्ते की धूल फाँकता-फाँकता मैं यहाँ इस किनारे आ लगा, जहाँ पर किसी के ऐसे सरल-निर्मल बोल गीले मोतियों की मानिन्द बिखरे होते हैं ! निर्जन में खिलने वाले वनफूलों की सुगन्ध भी हवा में घुलकर दूर-दूर तक फैल जाती है, काश कि ये गीले मोती अभी मेरी ही पलकों पर टँगे होते और मेरी ही लेखनी से बूँद-बूँद कर झरते !"

ब्योरेवार जानकारी देने के सिलसिले में मेरा स्वाभिमान उस देवबालिका के आगे पर्दे में न रह सका। आत्मगौरव ने लाज का अवगुण्ठन हटा दिया। तब अतीत साँसों का संगीत न रहा, भविष्य साँसों का विश्वास खो बैठा जब मैं अपनी आहत अस्मिता का यूँ बखान कर गया जैसे उसे आँसुओं का भरोसा न रह गया हो और नीरव एकान्त बेपनाह बातूनी बनने पर मजबूर कर रहा हो !

ईमानदारी और विनम्रता से कही गई हर बात में अपने प्रति घृणा और तिरस्कार का भाव आवश्यक नहीं है। वास्तविकता का

बखान दाव के साथ किया गया ढकोसला तो हर्गिज नहीं होता। ··

मुजफ्फरपुर के जिला स्कूल में हेड पण्डित की एक जगह खाली हुई तो लाचार होकर इन्तजार करते रहने के बजाय स्वेच्छा से संघर्ष करने की चमत्कारपूर्ण प्रेरणा हुई। कमजोर के साथ सीनाजोरी करने का डर दिखाया गया तो मैं आत्मबल को सँवारने-निखारने पर जोर देने लगा। हितैषियों ने ऐसे अवसर पर बरते जाने वाले भेदभाव और पक्षपात की विशेष चर्चा की। कहा कि इण्टरव्यू में आप अव्वल आ सकते हैं मगर आपको दरख्वास्त अखीर तक सही-सलामत, बरकरार रहे; किसी चहेते के बरखिलाफ न हो जब तो · !

'मतलब ?'—मैं कुछ समझा नहीं!' बोले : 'जिसे वह जगह मिलनी है वह पहलेवाले का रिश्तेदार है। हेड मास्टर का······है, गवर्निंग बडी के आधे से ज्यादा मेम्बर उसके तरफदार हैं, आपका यहाँ कौन है ? आपकी खूबियों की शिनाख्त कैसे होगी ? योग्यता का जोरदार दावा करेंगे तो आपकी दरख्वास्त पहले ही फाड़ कर फेंक दी जायगी। आप इण्टरव्यू में शरीक ही न किए जा सकेंगे। हाँ, यदि आपके माथे पर हाथ रखनेवाला कोई हो यहाँ, तो बेशक दरख्वास्त कीजिए, फिर तो आपका हुआ-ही-हुआ समझिए।' मेरी जाति के यहाँ दो ऐसे बड़े आदमी हैं जो मुझे कुछ-कुछ जानते हैं। एक हैं नगर के बैद्यराज-शिरोमणि पण्डित रामदेव ओझा, दूसरे सुपरिण्टेण्डेण्ट ऑफ पोस्ट आफिस पण्डित कैलासपति मिश्र। दोनों से मिला। दोनों ने पूरी तत्परता से इस विषय में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए मङ्गलमय प्रभु से मेरे शुभ भविष्य की कामना की। मेरी तत्परता और कुशलता गाढ़े वक्त में कोई काम न आई। असमर्थता ही समर्थ सिद्ध हुई। मैंने दरख्वास्त नहीं दी।

बाउल का एक पद माथे में कौंध कर रह गया कि हे ईश्वर, तुम तक पहुँचने के तो सारे रास्ते ही मन्दिरों-मस्जिदों से ढक गए हैं :

'तोमार पंथ ढाकियाछे मन्दिर-मस्जिदे।'

एक दिन ओझा जी के औषधालय में बैठा हुआ था तो अकस्मात् आपके मन्दिर के पुजारी पण्डित पीताम्बर पाण्डेय वहाँ पहुँचे। मुझे देखते ही ओझा जी से कहने लगे (शायद मेरा भाषण या काव्यपाठ कहीं टाउन-हाल आदि में सुन चके थे। जान चुके थे कि मैं उन्हीं की

जाति का हूँ।) कि शास्त्रीजो किसी प्रकार रमना में आ जाते तो जहाँ तक संभव होता, हम इनकी सेवा करते। इन दिनों बाबू साहब एक ऐसे विद्वान् की खोज में हैं जो वहीं रहें और उनकी लड़कियों को भी पढ़ाएँ।

ओझा जी ने छूटते ही स्वीकृति दे दी कि बाबू साहब मेरी सुनेंगे, मैं अवश्य उनसे मिलूँगा।

इस प्रकार जिला स्कूल में न जा कर मैं उसके ठीक पड़ोस में आप लोगों के पास आ गया। बाबू साहब से तो मैं सभा से घर तक पहले भी मिल चुका था। (बाबू साहब की देखा-देखी मैं भी चन्दा को, विरोध करने पर भी, आपही कहता था।)

धर्म समाज संस्कृत कॉलेज में मुझे लेने जब आपकी गाड़ी पहुँची, मैं संकोच से गड़-सा गया। मेरे पास न कोई कायदे का विस्तर था, न पेटी-बक्सा। दरबार के लायक कुछ भी नहीं। मगर गाड़ी मुझे जहाँ ले आई, वह मेरी मरी आत्मा और जीती-जागती दरिद्रता के लायक ही जगह थी। तीन ओर दरबार के सन्तरी-सिपाही, उनका गन्दा रसोईघर, सामने एक अफीमची बुढ़िया बांभनी। उसी तंग कोठरी में मैं पड़ा रहता हूँ। पच्चीस रुपए तनख्वाह के दिए जाएँगे और रहना खाना फ्री – पीताम्बर जी ने मुझे यही बताया था।

मैं तो उन लोगों में हूँ, जो संस्कार, आचरण और चरित्र पर बल देते हैं, कच्चे-पक्के खाने पर नहीं, मगर जो दो समर्थ और धनी ब्राह्मणों के किए न हो सका, वह अकेले इस गरीब पुजारी ने करके दिखा दिया था। कुछ देर खड़े होने के लिए मेरे थके पाँवों को ठोस जमीन जो दे दी थी! वह बोले कि मेरे हिस्से का सीधा वह ले लेंगे और उसके एवज में वह मुझे मन्दिर का भोग खाने को देंगे। उनका जी रखने के लिए मुझे यह सुझाव मान लेना पड़ा। मेरे सपनों की काना-फूसी वह नहीं सुन सकते थे, उनकी आवाज की पुख्तगी मेरी कमजोर स्थिति को जँच गई।

दो वक्त खाना मिल जाता है। साँझ-सकारे कल्याणी केबिन पहुँच जाता हूँ। वहाँ अन्नी में आठ कचौड़ियाँ मिलती हैं, दो पैसे में एक प्याली चाय। बाहर दो पैसे में चार पान। पूरा नाश्ता दो आने में। रमना आया था, तब मेरे पास सौ रुपए थे। ठंडे-ठंडे सात महीने गजर

गए। ऊपरवाले का शुक्रगुजार हूँ। मैंने उससे कभी यह न कहा —

'न तड़पने की इजाजत है, न फरयाद की है,
घुट के मर जाएँ, यह मर्जी मेरे सय्याद की है!'

बल्कि कभी कुछ मुँह खोल कर कहा तो यही कहा :

'काम करने का यही है, तुम्हें करना है यही!'

× ×

तनहाई से बेचैनी नहीं होती; सन्नाटा मुझे काट खाने को न
दौड़ता; बशर्ते मैं लिखने-पढ़ने या ऐसे ही किसी जरूरी काम में ल
होऊँ। रमना के एकान्त में लिखने-पढ़ने में बहुत बड़ी बाधा न थी
'साहित्यदर्शन' की पाण्डुलिपि तैयार कर रहा था जब मन्दिर बन
पण्डितों के जमघट में जम कर शास्त्रीय चर्चा में भाग लेने का अवस
मिला। मरुभूमि में रेत से निःसृत होता संगीत सुनाई देता है, सुना थ
अनुभव का अवसर अब आया था।

धरती पर पाँव टिकाते ही आकाश दिखाई देता है, आकाश
विमान हों तो मन तेजी से धरती की ओर भागता है। कहीं चैन नह
जहाँ रहे सिर्फ वहीं के होकर रहे, शायद यह मनुष्य-प्रकृति से बा
की बात है। मानव मन वहीं का वहीं नहीं रहता। टूटी मड़ैया
महलों की—राजा-रानी की कहानी कही-सुनी जाती है और राजा
के घर···

पण्डित-मण्डली बँगले में जमी होती थी तो मैं अवश्य याद कि
जाता था। अपने उदासे मन को वाग्जाल में फँसा देख कर मेरी हँ
खुशी छलक-छलक पड़ती थी। मैं दुनिया के ऐसे तमाम तमाशों
साक्षी भर हूँ, तब मुझे इसकी अपरोक्ष अनुभूति होती थी।

आज भी ऐसा ही हुआ। सुगन्ध की तरङ्गों में किलोलता ह
मेरा तन बाबू साहब के गद्दे के करीब इन्द्रधनुष-सा झुका-झुका उ
आस-पास के उजास और रंगों का संगीत सँजो रहा था। पण्डित
ज्वालामुखी व्यक्तित्व पर चौथ का चाँद तब उग आया जब
चायनीज कई जोड़े-जूते लिए हॉल के अन्दर दाखिल हुआ। उन दि
मुजफ्फरपुर में चित्रा-सिनेमा के इर्दगिर्द कई चायनीज थे।
डेण्टिस्ट थे; कुछ मोची का काम करते थे। बाबू साहब इन्हीं से

बनवाते रहते थे। जूतों से पूरा एक कमरा अटा पड़ा था फिर भी उनके शौक का क्या कहना ! देशी-विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में डिजाइनों की नुमाइश होती ही रहती है, कोई डिजाइन उनकी नजर पर चढ़ जाए तो उसका उनकी याददाश्त से उतरना मुमकिन न था।

मोची ने जूते फैला दिए। बाबू साहब खूब गौर से उलट-पुलट कर उनकी खूबी-खराबी बखानने लगे। और लो—

ऐसा भी क्या पण्डित, जो हर बात में दखल न रखे; बेमौके भी कोई दृष्टान्त, कोई अनुष्टुप् न सुनाए; दरबार में चाटुकारिता के अन-देखे आयाम न उद्घाटित करे !

मन्दिर के लिए आए हुए गुरु-पुरोहितों में अनेक अभी यहीं रुके थे। इस घड़ी सब यहाँ इकट्ठे थे। बाबू साहब को सुना-सुना कर डिजाइनों के लिए मोची की प्रशस्ति गाने लगे। मोची ने कहा : मेरी तारीफ बेकार है। यह सारी की सारी सूझ-बूझ बाबू साहब की है। मैंने तो सिर्फ मशीन चलाई है।

विस्मय के मारे गाँजा-भाँग-अफीम-सेवी महापण्डितों की आँखें उड़हुल के फूल के साइज की हो गईं। इधर सिर धुनकर गिरा पछताती ही रह गईं, उधर उनके सरताज के मुँह से वाग्-गङ्गा प्रवाहित हो गई…

'श्रीमन्, यह जूते बनाने की कला आपने कहाँ सीखी ?'

बाबू साहब बेहद खुशमिजाज और हँसोड़ थे। छुटते ही कहा :

'आप-जैसे ब्राह्मण-पण्डितों की सङ्गति में ही……'

इस पर उस रोज जो छतफाड़ हँसी-ठहाके का विस्फोट हुआ तो फिर उस धमाके की आवाज अब भी बँगले में सुनाई देती होगी।

× × ×

कोई कैसी भी कठिनाई क्यों न हो, वह मन को माँजती ही है। ओने-कोने छिप-छुप कर मैल जमने न पाए, इसीलिए वह भरसक अकेली नहीं आती। और शायद इसीलिए वह फिर-फिर आती है। मँजते-मंजते मन साफ भी होता है और रगड़ खाते-खाते गहरा भी।

जिसने कभी कठिनाइयाँ नहीं झेलीं, वह भला सुख का अनुभव किस भाँति करेगा ? वह तो चिलचिलाती धूप में चल-चल कर पसीने से लथ-पथ हुआ पथिक ही है जो पेड़ों की ठंडी छाँह में सुख की साँस ले सकता है।

बिरवे को धूप और पानी न मिले तो वह मुरझ जाएगा, पियरा कर सूख जाएगा; मनुष्य के द्रवित हृदय को अन्तः सन्ताप, और प्यासी आँखों को आँसू न मिलें तो वह उन्मत्त और उद्‌भ्रान्त होकर मर जाएगा। अगर मुझे उसी उमर में घुट-घुटकर मरना बदा न था तो फिर मेरे बदले गम्भीर दार्शनिक दुःख और उच्च-उदात्त आध्यात्मिक वेदना दूसरा कौन सहता ?

मेरी तो शुरू से ही जोरदार घिसाई चालू हो गई थी। अच्छी-खासी रगड़ाई के बावजूद हालात वैसे के वैसे थे। अपने आप पर बेहद खिसियाते-झल्लाते रहने पर भी काफी घटिया काम ही करने पड़ते थे। मेरे इनकार करने पर दूसरे धूल फाँकनेवाले फब्तियाँ कसते कि यहाँ-वहाँ खाली कुर्सियाँ अकड़ी पड़ी हैं, जायज तरीके से मैं उन पर कब्जा जमाने की क्यों नहीं सोचता ? जब भी मेरा दावा स्टाँच वेजिटेरियन होने का नहीं है, मैं खासे जज्बे के साथ हू-हा कर के ही ऐसे सारे आकस्मिक आक्रमणों को टालता रहता था। धन्धा कोई-सा भी हो, हर नजर पर एक-सा नहीं चढ़ता। मैं जब-तब फर्राटे के साथ अकेले-अकेले हँसता था। इक्का-दुक्का कहीं कोई दिख जाता तो हँसी होंठों में ही बुझ जाती थी। मैं लोहे की बारीक जाली के अन्दर से आर-पार दुनिया को देखा करता था। रस्सी तुड़ाना आसान था, भाग निकलना नहीं। जाली और किसलिए डाली गई थी !

आँसू बहाती थीं मेरी सपाट कविताएँ। मैं कवि न था, कविता का नाम देकर मगर कुछ-न-कुछ, अटपटा लिखता जरूर था। उसे कविता के अलावा कुछ भी कहा जा सकता था।

मुजफ्फरपुर आते-आते छोटी बहन की मृत्यु का समाचार मिला। कई रोज गुमसुम रहने के बाद क्षर अक्षरों के छलकते आँसुओं में फूटा—

मेरा प्यासा प्यार माँगता एक बूँद आँखों का पानी,
धरती मरती सुन पुकार, आकाश काश ! होता वरदानी !
एक बूँद की प्यास, करूँ कैसे निराश पगले प्राणों को ?
एक बूँद ! अब और करूँ कितना कम अपने अरमानों को ?

× × ×

सदा यही मझधार, कल्पना भी न रही कूलों की,
चुभा किए काँटे नित, खुशबू तक न मिली फूलों की!
सत्कर्मों, स्वर्गिक दानों के तो ऐसे फल पाए,
और देखना है बाकी क्या ?—अब बारी भूलों की!

× × ×

चार महीने की थी तू, जब माँ मुँह मोड़ गई थी,
चार साल का मेरा नाता पल में तोड़ गई थी;
कैसे भूली वृद्ध पिता को, सहे कसाले, पाला,
जिनकी थकी गोद में अम्मा तुझको छोड़ गई थी!

× × ×

जाड़ों की नम, जमी सुबह; पर गर्म दूध ले आना,
रिझा-रिझा कर देरे-देर तक रो-हँस तुझे पिलाना,
तेल लगाना, नहलाना, टहलाना, दिल बहलाना,
कैसे भूली वृद्ध पिता का माँ का गाना गाना?

× × ×

रैन बिताई जिनने खग-सा दो अंडों को से कर
दिन काटे दोनों कन्धों पर हम दोनों को ले कर
उन्हीं पिता की नाव पुरानी डगमग डोल रही अब,
कैसे तट तक लाएँगे वह एक बाँह से खे कर?

× × ×

प्राण प्राण से मिल न सकें, ऐसा अभिशाप नहीं था,
बड़े घराने में पैदा होने का पाप नहीं था,
बाँस-फूस की कुटिया में दोनों हिल-मिल रहते थे,
'तू' तू भर थी नहीं, और मैं अपने आप नहीं था!

× × ×

लड़ पड़ते थे बात-बात में, मार पीट तक करते,
कोई लाख डराता, पर हम दोनों कब थे डरते!

तू चुगली करती, जब बापू मुझे मारने लगते,
याद नहीं है बहन,—नयन थे तेरे झर-झर झरते !

× × ×

यहाँ कहाँ स्वर्गीय सुमन, मेरी दुनिया मिट्टी की,
मृत्यु अमृत, क्यों करूँ कसैला कसक बता कर जी की ?
अब आखिरी बिदा लेता हूँ, आह ! यही इतना कह :
'मुझ-सा भाई हो न किसी का, तुझ-सी बहन सभी की !'

—सुमित्रा की शेष स्मृति

'देसिल बयना' होकर भी यह 'सब-जन-मिट्ठा' नहीं। इसमें विद्यापति की राजसी मिठास के उलटे खारे आँसुओं के पखारे सिसकते-से स्वर भर हैं।

यों ही दिन बीत रहे थे और अभी तो न जाने कितने बीतने थे !

जिस वातावरण को अपने चारों ओर लपेट कर चल रहा था रुई के फाहों-सी उसकी तहों में रुई के ही बीज की तरह मैं अलग से दिख जाता था। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत का पारायण माथे को भारी भर किए हुए था। मन उड़ा ही उड़ा फिरता था सभी बड़े कवियों को पढ़ डाला था इसलिए कुछ नया कह सकने की असामर्थ्य पर रोना आता था। जी चाहता था, जीवन को उछालकर कला के कदमों में डाल दूँ ! हँसी-खेल तो न था यह। इस कोशिश में सिर बच जाता था, दिल टूट जाता था। कला को यह बच-बचाव और टूटन का खेल कुछ जँचता न था। बड़ी ही खुर्राट है न वह, लल्लो चप्पो करने से बात बनानेवाली नहीं। आया वक्त यूँ हाथ से निकल निकल जाता था। ज्योतिर्मय (!) भविष्य गढ़ने के लिए यही इतना अँधेरा कहाँ काफी था !

दरअसल अँधेरा गहराता भी तो कैसे, जुगुनुओं की जमात नाक मुँह में घुसी जो पड़ रही थी ! जुगुनुओं को ज्योति-कण समझने भर अन्त: प्रकाश होता तो भी एक निर्णायक पक्ष उजागर हो जाता।

पैरों तले कुचल कर जिसे फेंक दिया जाता है उसकी नगण्यता के बारे में दो मत नहीं हैं। मगर जो कोई फेंकता है उसे सँजोकर, जो कोई

कुचलता है उसे आराध्य बनाकर रखा ओर पूजा जाता है या नहीं, वस्तुत: सोच-विचार का यही विषय है।

मन की झाड़-पोंछ मैं गुनगुना कर करता था। छोर की ओर खिंचा चला जा रहा था, गावदू और मिट्टी का माधो होता तो कम-से-कम धोती ही बुहारी न बनती। मैं जो कर सकता था उसे अच्छे से अच्छा कर सकता तो अवश्य प्रसन्न होता। मानव-मन कितना जटिल है! सम्भव है, बौद्धिक स्तर पर मैं अपने को उदासीन बनाने का प्रयास करता होऊँ; किन्तु किन्हीं अन्य अनदेखे स्तरों पर कुढ़ता-बिसूरता रह जाता होऊँ! दुख और चिन्ता से पूरा-पूरा छुटकारा पाना कठोर साधना से ही साध्य है। मैंने अभी बदशक्ल ढेले को तराशना जाना भर था, तराशना शुरू नहीं किया था।

रमना आया था वेदान्त-शास्त्री होकर, एक रोज फर्श पर काँच का कुल छह आने का एक गिलास झनझनाकर टूट गया तो कितनी ही देर तक मैं उसे भीत और कातर दृष्टि से देखता रह गया था। काँच टूटना अपशकुन माना जाता है न! अब वेदान्ताचार्य होने जा रहा था। खोखलापन जाहिर न हो तो कहूँ, दूसरा गिलास न खरीद सका था, वैसे परिस्थिति का कोई खास दबाव न था, बस यूँ ही, अनावश्यक समझकर। भावनाएँ खौलती थीं, उबलती थीं, भाप बन कर उड़ जाती थीं। कहीं आते-जाते गली-कूचे में काँच के टुकड़े दिख जाते तो मैं अप्रतिभ हो उठता, साँस भर कर रह जाता जा। इस खण्डित सत्य ने चुभकर मुझे बुरी तरह दबोच लिया था, अनुभूति जो बन गया था।

पढ़ता था, आस्तिक दर्शन के सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं मीमाँसा के सन्दर्भों-समेत शाङ्कर भाष्य और भामती। लोकायत (चार्वाक), आर्हत (जैन) और सौगत (बौद्ध) आदि नास्तिक दर्शन भी भाष्य के अछूते सन्दर्भ न थे। इसी प्रकार यद्यपि मेरे अध्ययन का मुख्य विषय शङ्कराचार्य्य द्वारा प्रतिष्ठापित अद्वैत था; किन्तु उसे निष्प्रतिद्वन्द्व रूप में आत्मसात् करने के क्रम में रामानुज के विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत, निम्बार्क के द्वैताद्वैत, वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत और चैतन्य के अचिन्त्य भेदाभेद का पर्याप्त परिचय अनिवार्य रूप में अपेक्षित था। इस वर्ष मेरे पाठ्यग्रन्थ थे—अद्वैतसिद्धि, चित्सुखी, खण्डनखण्डखाद्य, सिद्धान्तलेशसंग्रह, षड्दर्शनसंग्रह, बृहदारण्यक और

छान्दोग्य ।

सदानन्द ने वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी उसे बताया है जिसने चारों वेदों और छहों वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का विधिवत् अध्ययन करके पहले वेदों का तात्पर्य भलीभाँति हृदयङ्गम कर लिया हो; निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर अपने अन्तःकरण को निर्मल कर लिया हो और साधन-चतुष्टय (नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक, भोग से वैराग्य, शम-दम आदि, एवं मोक्ष की इच्छा) से सम्पन्न हो ।

यहाँ धार्मिक आध्यात्मिक ज्ञान व्यङ्ग्य बना हुआ था। साहित्य के जटिल शास्त्रीय अध्ययन का भी कोई उपयोग न था। अलङ्कारशास्त्र मेरे अन्धकार को ही अलङ्कृत कर रहा था । हाँ, त्याग निषिद्ध का बेशक बहाल था । चारों ओर के अँधियारे में प्रकाश के स्रोत की ही तलाश जारी थी। यह और है कि रमना में जिस मजबूरी में खामोशी टूटी वह कोई इन्कलाब लानेवाली न हो कर अपने ही घुटन-भरे मन की धूमिलता गहराने वाली थी—

जीवन बीत रहा है दिन - दिन,
मृत्यु निकट आती है पल छिन,
सुनता जीवन - रंगमंच पर—
मृत्यु - चरण - नूपुर की रिन-रिन !
मरण वरण करता न किन्तु मन,
वह कहता : जीवन उन्मीलन !
गगन मौन, क्यों नहीं सिहरती
धरती सुन प्रकाश का क्रन्दन ?
अतुल जलधि में डूब रहा मैं,
पीर नील नीरद ? क्या जानूँ !
काली-काली छाँह फैलती,
किसकी बाँह इसे मैं मानूँ ?
मैं मरने से तो न डर रहा,
स्वल्प साध, उस तट को छू लूँ,
लहरें पैगें भरा करें,
मैं सिन्धु - पालने बैठूँ, झूलूँ !

मन पूर्णत्व, चिरन्तन छाने,
आसमान सुनसान लग रहा!
आँख गड़े कल्पित भविष्य पर,
वर्तमान वीरान लग रहा!
कब की जली - अधजली स्मृतियाँ
लगीं सुलगने, लगीं धुआँने,
नगर-डगर में जो न कहीं भी,
ये मचली हैं उसको पाने!
केवल एक भाव आता है,
जो कुछ है, वह सब अभाव है;
तत्त्व प्रकट होता न कहीं से,
जो दिखता वह हाव - भाव है!
यह उलझन पहले न कभी थी,
गगन नहीं था इतना नीला,
आज अचानक जकड़ गया है
जो बन्धन कल तक था ढीला!
किसने ऐसी गाँठ लगा दी,
मन की मन में बँधी रह गई;
जो गाता, बेसुरा; रागिनी—
सुरबहार की सधी, रह गई!
डैने फेंके काट, पखेरू—
तड़फड़ा रहा उड़ चलने को,
लकदक राहें रोक दी गईं,
धूल मचलती मुड़ चलने को।

—'जीवन-मरण'

—दुबारा सूखी टहनी पर अटकी यह लहकती परछाईं छिपकर छिपकली-सी छू न ले, मैं अपनी सँकरी द्वार-देहरी फलांग कर झिलमिलाती रोशनी में निकल आया। सन्नाटे की तहें उघड़ आईं। चिन्तन को झँझोड़ने वाला कोलाहल पास ही अगवानी करने खड़ा था। चमेली के कुञ्ज में जहाँ-तहाँ किरणें उलझी-पुलझी थीं। सांझ की

उदासी बासी फूल की तरह नीले डंठल से चू रही थी जिसे चमेली हरी-सुनहरी बाँहों पर झेल रही थी। क्षितिज से धुएँ की मीनार-सी उठने लगी थी। हौसला था कि बिजली के लट्टू जलने ही वाले थे। सुबह की ओस शाम के सितारों में तबदील हो रही थीं। सत्य के बसेरे में सपने दुबकने की कोशिश कर रहे थे। साँस प्राणों पर परेवे के डैने फैला रही थी। दूब खूब लहलही थी, ताहम पाँव रखते माथा चकराता था। पीले चेहरे पर ललौहाँ आसमान अपना घायल साया डाल रहा था। मेरी कोठरी से बाबू साहब का बंगला मुश्किल से चालीस-पचास कदम के फासले पर था, फिर भी जैसे नंगा पहाड़ और अँधेरी घाटी पार कर रहा होऊँ, पसीना पोंछता हुआ बंगले के अन्दर दाखिल हुआ। बेपर की उड़ाना और बात है, यूँ दहलीज पर पाँव रखते ही दहकानियत आड़े आती थी। आरम्भ के वर्षों में मैं बेवजह दहशत-जदा-सा दिखाई देता था। कैसे-कैसे लोगों से मुठभेड़ होती थी, पता नहीं, कब क्या मुँह से निकल जाए? मैंने जो दाग-बेल डाली थी उस पर कोई इमारत खड़ी होती, इसकी कभी नौबत ही न आई। मेरे किसी भी सोच-विचार का दार-मदार बाबू साहब पर था जो अक्सर साँपों की पिटारियाँ लटकाए हुए सँपेरों से घिरे होते थे।

'मुद्राराक्षस' से सीखा था– पहले राजा से डरना चाहिए। फिर राजा के मन्त्री से डरना चाहिए। उसके बाद ऐसे सभी लोगों से, जो राजा के चहेते हों और राजा के घर में रहनेवाले, कृपापात्र और धूर्त हों, डरना चाहिए। जिन्होंने नौकरी को कुत्ते का धन्धा कहा है, वह बहुत बड़े दानिशमन्द थे। दो कौर खाने के एवज में एक नौकर को क्या-क्या नहीं करना पड़ता? खुशामदी बातें करना तो नौकरी की पहली शर्त है।

विद्या का प्रसङ्ग छिड़ने पर भले ही मेरी बावदूकता देखी गई हो, वैसे मैं सँपेरों के डर से हमेशा सहमा-सहमा-सा रहता था। जो साँप काटते न थे, वह फुफकारते तो थे।

जाहिर है, विद्या का आटोप ही मेरा कवच था, वर्ना मेरे वहाँ रहने से जिनकी रोजी पर आँच आई थी वह मुझे काँच की तरह उड़ा देते।

मैं जितने थोड़े में गुजारा कर रहा था, अपनी तनख्वाह ख्वाह-

म-ख्वाह किसी को नहीं बताना चाहता था, उस-उतनी के लिए भी कितने ही दूसरे लालायित थे।

कालिदास राजसी स्वभाव के बहुत बड़े अभिज्ञ और अनुभवी थे। वह जानते थे कि दरबारों में किसी खास काम के वक्त ही कोई खास आदमी याद किया जाता है। हर वक्त उस पर एक-सी नजर रहे, ऐसा नहीं होता। एक अनार और सौ बीमार-वाली बात जो ठहरी ! आदर (!) करनेवाला एक अदद; आदर पाने के लालची अनगिनत।

मैं समझता हूँ, आदर तो बस, जो है सो श्री रामलला जू की इच्छा सों, 'दिल के बहलाने को गालिब य खयाल अच्छा है।' असल बात मजबूरी है, हर तरह से मजबूर इन्सान धनवानों से सीधे भीख न माँग कर कला की आड़ में तरह-तरह के करिश्मे दिखाता है। विद्वान और गुणी बनकर भी गुण-ग्राहियों की टोह में रहता है। तकदीर ने साथ दिया तो यह-वह कहलाया, नहीं तो, नहीं तो···

कवि विद्यापति ने कीर्तिलता में लिखा है :—

गेहे-गेहे कलौ काव्यं श्रोता तस्य पुरे-पुरे,
देशे-देशे रसज्ञाता, दाता जगति दुर्लभः।'

कलियुग में घर-घर में कविता होती है, गाँव-गाँव में उसके सुनने-वाले मिल जाते हैं, देश-देश में काव्य-रस का पान करनेवाले भी पाए जाते हैं, पर संसार भर में किसी के काव्य से रीझ कर कुछ देनेवाला मिलना मुश्किल है। यह गुण कीर्ति सिंह में था, इसलिए विद्यापति ने 'कीर्तिलता' लिखकर उन्हें अमर कर दिया।

दरिद्र विद्वानों की काल-कालिनी संगोष्ठी में लक्ष्मी-सरस्वती का वैर बहुधा वर्जित होता है। लक्ष्मी सरस्वती को आदर देती हैं या नहीं, दावे के साथ नहीं कहा जा सकता। हाँ, वह गाहे बगाहे थोड़ा-बहुत दान देती हैं, इसके साक्षी तो विद्यापति भी हैं। तुलसीदास जी ने जितनी बार राम को सुमिरा है उससे एक बार भी कम विद्यापति अपने आश्रयदाताओं को नहीं गुहारते हैं। सदा से मेरा आदर्श सन्त-साहित्य रहा है। धनी-मानी व्यक्तियों को क्षण भर प्रसन्न करने के लिए मैंने कभी तारकोल-पुते चेहरे को चाँद का टुकड़ा नहीं कहा। इसके विपरीत किसी वाद-विशेष की प्रतिबद्धता की शान में चाँद को

कलंकी भी नहीं करार दिया। एक अकेले का नीरवता में पंछियों-सा चहकना क्या किसी दूसरे जालिम सिंह जमीन्दार के काले कारनामों पर दूधिया चाँदनी बिछला देगा ?

मेरी अपनी अनुभूति की रफ्तार मसीहा से किसी घायल दिल की दवा तो नहीं तलब करती। जैसे सब नहीं होते, वैसा कोई नहीं, होता, यह विशुद्ध बुद्धि से निकाला हुआ निष्कर्ष नहीं, पूर्वाग्रह मात्र है। क्रूर और कठोर की तरह मधुर और कोमल भी होता है। मेरी बुद्धि धारदार नहीं है, काट करना उसके बूते के बाहर है। शायद इसीलिए मैं दिल का कायल हो गया। कौन कहेगा : नहीं, और भी कहीं कोई होंगे बेशक, मैंने उन-सा दूसरा नहीं देखा।

सच तो यह कि मैं ही प्रकृति से भीरु हूँ, राजपुरुषों या दूसरे दरबारियों ने मुझे कभी शरव्य नहीं समझा। बाबू साहब ने तो साहचर्य के आठ वर्षों में ऐसा एक भी अवसर नहीं आने दिया जब उनके स्नेहार्द्र व्यवहार में राई-रत्ती के बराबर भी अन्तर आया हो! इतना ही नहीं, मैं जब रमना का निभृत एकान्त छोड़कर धूल-धूप-भरे चौरस्ते पर आ खड़ा हुआ और अपनी नश्वर आशा-आकांक्षाओं को कल्पित आनन्द से आतङ्कित करने लगा, तब भी उनकी आन्तरिक सामर्थ्य मेरे अत्यन्त असन्तुलित आत्मविश्वास को दृढ़ता से स्थापित किए रखने भर आस्था प्रदान करती रही और अपने परखे सुझाव से मेरी सुषुप्त क्षमता को सदा जगाए रही।

यों तो पढ़ा था कि जैसे वसन्त की हवा पतझड़ की शबनमी सुन्दरता को उड़ा ले जाती है, वैसे ही बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि को भी दिनप्रतिदिन परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता चकरा कर चौपट कर देती है।

निर्धन का सदाचार भी शङ्का की दृष्टि से देखा जाता है; और तो और, उसकी पवित्रता, क्षमाशीलता, उदारता, मधुरता और कुलीनता भी उपहासास्पद समझी जाती है।

आदमी दरिद्र हुआ कि उसका सम्मान गया। उसके स्वाभिमान को व्यङ्ग्य बन जाना पड़ा। उसका कला-कौशल-सम्बन्धी ज्ञान, बौद्धिक विलास और निर्मल प्रज्ञा—सबकी धज्जियाँ उड़ गईं।

जैसे पानी के बुलबुले उठते-मिटते रहते हैं, मगर कोई उनकी

नोटिस नहीं लेता, ऐसे ही कोई निर्धन व्यक्ति हर घड़ी आँखों के सामने रहने पर भी किसी को दिखाई नहीं देता।

यहाँ पूर्व जन्म के पुण्य की चर्चा भी व्यर्थ है क्योंकि पूर्वजन्म के पुण्यप्रताप से कोई कुलीन और विद्वान होता भी है तो वही करता है जो आम आदमी करता है—यानी मूर्ख, बदचलन अमीरों की खुशामद।

समुद्र रात दिन गरजता रहता है मगर उसे कोई ओछा नहीं कहता। पैसेवाले कैसे भी खोटे काम करें, उन्हें कहीं शर्मिन्दा नहीं होना पड़ता!

—तेजाब की-सी छनछनाहट लिए हुए जबान, हलक और तालू तक को जला डालने वाली बहुतेरी तेज बातें दुनिया में कही-सुनी जाती रही हैं। मैं जी-तोड़ मेहनत करने के पक्ष में था—गुणात्मक प्रकर्ष का और कोई मार्ग मालूम न था। काव्य और शास्त्र मेरे लिए विनोद नहीं, कठोर तप थे। परा और अपरा विद्याओं में मेरे मन ने परा को ही वरा था। परमहंसदेव की वाणी अन्तरतर में गूँजती रहती थी:

'शुधु पण्डित, विवेक-वैराग्य नाइ!'

और भी:

केउ दुधेर कथा शुनेछे, केउ दुध देखेछे, केउ वा दुध खेयेछे!'

× × ×

आज बँगले में पीले कपड़ों में लिपटे और कुण्डलिनी से सहस्रार तक ऊँचे खिंचे चन्दनवाले कुछ रामभक्त वैष्णव बैठे हुए थे।

बाबू साहब ने मुझे देखते ही बाँहें उछाल कर हँसते-हँसते कहा—आइए-आइए! कहाँ-कहाँ देर लगा देते हैं आप! कब से मन ही मन ढूँढ़ रहा हूँ! अच्छा, आप पहले इन साधु-महात्माओं से मिलिए…

सुन कर मेरे तो कभी कंपनी छूटने लगी, कभी गर्मी से पसीना आने लगा। मैं सूनी आँखों उन्हें यों घूरने लगा जैसे कुछ समझ ही न रहा होऊँ! अपने बालों के घोंसले से खुजा कर एक तिनका निकालते हुए बुदबुदाया: कहाँ-कहाँ देर लगा देता हूँ! क्या खूब! हैरत में आ गया था कि मैं तो गठरी-सी गोल टूटी खटिया में तुड़ा-जुड़ा पड़ा था।

सन्नाटे के मारे प्राण सूख रहे थे। खयाल आया कि अब धुँधली आँखें आँजने बंगले ही चलूँ! सो, खाट की पाटी पर पूरे जोर से हथेलियाँ टिका कर उठ खड़ा हुआ और मायूस चेहरे पर पुलकन भरता हुआ सीधे यहाँ आ गया। मैं तो खुद बोझिल क्षणों से बचने के लिए अपने को व्यस्त रखना चाहता हूँ! हाँ, जब से यहाँ आया, इसी ढंग से अपना ढर्रा चल रहा है।

कैफियत का सिलसिला बहाल ही था जब बाबू साहब ने हँसना शुरू किया। हँसी का तार एक पल को भी न टूटा। कुछ ऐसा नुकीला था वह कि चुप-चुप बैठे वैष्णव साधुओं के कोमल प्राणों में अनचीते गुँथता-गुँथता कहाँ से कहाँ चला गया। जाने क्यों, वह सब भी बाबू साहब की छितरी हँसी पर तह की तह अपनी हँसी जमाने लग गए थे। और इस अधजल छलकती भावुकता पर अब मुझे भी हँसी आ रही थी।

दरबार में एक सात फीट लम्बे और साढ़े तीन फीट चौड़े झा जी रहा करते थे जिनका काम अनावश्यक और असमय हँस-हँस कर लोगों को हँसाना होता था। उन्हें कहीं से यह हँसी सुनाई दी तो वह डेढ़ मन दूध देनेवाली मथुराई भैंस की चाल चलकर हाँफते हुए आए और अपने दैत्याट्टहास से बंगले को दहलाने लगे। हँसी पक्की थी, उसे टाल जाना किसी के लिए भी मुमकिन न था।

हँसी का उद्‌गम जब जानकारी में आया, मेरी ऊँघती चेतना अँगराई लेकर जाग गई; प्रज्ञा चौकन्नी हो गई।

यों तो शाक्तोंवाली साम्प्रदायिक कट्‌टरता बाबू साहब में न थी, फिर भी सिर्फ आनन्द-विनोद के लिए अभी वैष्णव साधुओं को छेड़ दिया था कि उनके आराध्य श्रीराम भी मद्यपायी और मांसाहारी थे। मुझे याद किया जा रहा था कि मैं वाल्मीकि रामायण के वे सारे पद्य प्रसङ्गों और सन्दर्भों के साथ बाबा लोगों को सुना दूँ जिनसे राम का मांसाहारी, मधुपायी होना सिद्ध होता है।

मैं पशोपेश में पड़ गया। तरङ्गें उठती हैं तो एक दूजी को धकेलती हुई। मैं जब बोलने लगता हूँ तो हवा के तेज झोंके भी दरया की सतह ताकते रह जाते हैं। यह बेपनाह फैले-फैले विचारों की कड़ियों के समेटने की नाजुक घड़ी थी। मैं तो राम-नाम को 'हनुमन्नाटक' की

भाषा में—

'विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसाम्'

कवियों की वाणी का एक मात्र विश्राम-धाम, या फिर गोस्वामी जी की वाणी में 'राम सों बड़ो है कौन?' माननेवाला हूँ। 'अनर्धराघव' के मुरारि कवि की तरह तनहाइयों में राम का सहारा ढूँढता हूँ; अपनी हस्ती को फना कर रूह की बुलन्दियों की खातिर उन्हीं की पनाह माँगता हूँ क्योंकि दुखों के जंगल में अम्न और आसूदगी और कहाँ पा सकता हूँ ! मेरा भी दावा है—

'यदि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितं
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः ?'

कि पुरखों ने राम का बखान पुरजोर लहजों और लफ्जों में किया है और बहुत-बहुत किया है, अब यदि यही मान कर राम की चर्चा बन्द कर दी जाए तो फिर कोई बताए कि राम-जैसा दूसरा कहाँ कौन हुआ ? कौन है ? कौन होगा ?

बहरहाल मैंने दिल की धड़कनों की रहनुमाई में अपने उस्ताद को याद किया—

'क्या फर्ज है कि सबको मिले एक-सा जवाब
आओ न हम भी सैर करें कोहे-तूर की !'

और फिर भाव-कुभाव वाली चौपाई सुमिर कर शुरू हो गया— आखेट करना यदि मांसाहारी होने का प्रमाण है तो कहना होगा कि रामायण की कहानी बहुत कुछ इसी के गिर्द चक्कर काटती है। सोने के हिरन का शिकार करने राम न जाते—तो न सीता का हरण होता; न सोने की लङ्का जलाई जाती; न त्रैलोक्यविजयी रावण मारा जाता।

मारीच हिरन बन कर राम की कुटिया के आसपास घास चर रहा था। मृग से राम का लगाव न होने पर वह कोई और रूप भी धर सकता था। बहुत सम्भव है, मृगया शब्द भी मृग को ही ध्यान में रखकर गढ़ा गया हो !

सीता ने देखा, जैसा न देखा न सुना, एक ऐसा हिरन घूम रहा है। उसके सींगों में रंग-बिरंगी मणियाँ जड़ी हुई हैं, उसका चेहरा चितकबरा—आधा उजला, आधा काला है; उसके कान नीलम के हैं, उसकी पूँछ इन्द्रधनुष जैसी है—सतरंगिनी।

उस घड़ी वह फूल चुन रही थीं—कनेर और अशोक के, आम की मंजरियों पर भी उनकी नजर थी।

सीता ने राम और लक्ष्मण को बारी-बारी से उसे दिखाया और उसे जीवित या मृत ले आने की इच्छा प्रकट की।

लक्ष्मण ने राम को बहुत समझाया कि यह माया-मृग है। ऐसा हिरना हो नहीं सकता। मगर सीता की ललक का जादू राम के सर चढ़ कर बोल उठा—होने दो, सीता का जी रखना भी तो हम दोनों का पहला कर्तव्य है।

इस पर लक्ष्मण ने भेद खोलकर रख दिया—यह मारीच है, भेष बदलने की कला में इसका कोई जवाब नहीं है। देखते नहीं, इसे हिरन समझ कर आश्रम के सीधे-सादे हिरने इससे उमग कर मिलने आते हैं, मगर नजदीक आने पर इसकी गन्ध लगते ही बेतहाशा भाग खड़े होते हैं। और उधर यह भुक्खड़ है जो भेद खुलने के डर से जीभ से लार टपकते रहने पर भी उन्हें खा नहीं रहा है। यों यह अब तक कितने ही ऋषि-मुनियों को चट कर चुका है।

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि सीता उसे भरसक जिन्दा ही ले आने कहती हैं—

'यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव
मृगरूपमिदं नित्यं विस्मयं जनयिष्यति !'

काश कि यह ऐसे का ऐसा जीता-जागता आपके कब्जे में आ जाता ! फिर तो हिरने का यह अलौकिक रूप हर घड़ी हमारे विनोद का विषय होता !

'जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति।'

हाँ, दुर्भाग्यवश यदि यह हिरनों का हिरना जिन्दा हाथ न लगे,

वैसी हालत में इसका मृगछाला भी तो बस देखते ही बनेगा !

—कहीं भी तो मांसाहार का संकेत नहीं है जैसा कि सीता के खिले अङ्गों को देखकर राक्षसियों के मन में होता था या फिर स्वयं रावण ही धमकी देता था कि मेरे रसोइए तुम्हें काट-छाँट कर रसोईघर में ले जाएँगे :

'सूदाश्छेत्स्यन्ति खण्डशः'

मुझे नैषध पढ़ते समय भी ऐसा आभास हुआ था कि आखेट राजसी स्वभाव में शामिल है। हंस राजा नल से कहता है—

मृगया न विगीयते नृपै
रपि धर्मागममर्मपारगैः
स्मरसुन्दर मां यदत्यज—
स्तव धर्मः सदयो दयोज्ज्वलः।

कि धर्म का मर्म समझनेवाले भी राजाओं के आखेटप्रिय होने पर उँगली नहीं उठाते। ऐसे में जो आपने मुझे छोड़ दिया, यह आपके धार्मिक होने से कहीं अधिक दयालु होने का प्रमाण है !

यहाँ भी आखेट का सम्बन्ध पेट से नहीं जोड़ा गया है। कालिदास ने तो खोल कर कह दिया है—

'मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगया—
मीदृग्विनोदः कुतः ?'

कि लोग झूठे ही आखेट की आलोचना करते हैं, ऐसा आनन्ददायक खेल दूसरा नहीं है।

राम अवश्य संशय में डाल देते हैं। वह कहते हैं कि राजा लोग माँस के लालच से भी और आनन्द के लिए भी हिरने का शिकार करते हैं—

'मांसहेतोरपि मृगान् विहारार्थं च धन्विनः
ध्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने।'

ऐसे ही राम जब गङ्गा पार कर रहे हैं तब सीता मन्नत

मानती हैं—

सुराघट सहस्रेण मांसभूतोदनेन च
यक्ष्ये त्वां प्रयता देवि पुरीं पुनरुपागता

जब मैं फिर सकुशल अयोध्या लौट कर आऊँगी तब, ओ री गङ्गा मैया, मैं तुम्हें हजार घड़े मदिरा के और मांस-भात चढ़ाऊँगी !

ऐसे ही चित्रकूट के रास्ते में यमुना पार करते समय नाव के मझधार में पहुँचने पर भी सीता यमुना से मन्नत मानती हैं—

'यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च
स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ।'

यमुना मैया, जब राम सकुशल अयोध्या लौट आएँगे, तब मैं हजार गाएँ दान करूँगी और सुरा के सौ घड़े तुम्हें चढ़ाऊँगी ।

कहीं सीता शराब के घड़े उँड़ेल रही हैं, कहीं राम मांस की चर्चा चटखारे लेकर कर रहे हैं । यहाँ एक पल को ठिठक कर देखना पड़ता है कि कहीं रामायण के ये सारे-के-सारे अंश प्रक्षिप्त तो नहीं हैं ! धर्म की पवित्रता के द्रोहियों द्वारा ठूँस-ठाँस की यह वाहियात कारगर कोशिश तो नहीं है ? किसी शरारती की कमीनी हरकत महर्षि वाल्मीकि की दूधिया गङ्गा में यमुना-जल कह कर गरल तो नहीं घोल गई है—पाठकों का माथा ठनकता है, चक्कर खाने लगता है—

'साकी ने कुछ मिला न दिया हो शराब में !'

मगर ऐसे किसी के मुँह पर कुंडी लगाकर ताला बन्द कर देना मुमकिन नहीं है । शताब्दियों से महान टीकाकारों ने उन श्लोकों की शख्सियत पर अपनी मुहर लगा दी है । उन्हें प्रक्षिप्त नहीं माना है । जब संस्कृत मातृभाषा-जैसी थी; जब धर्म मानव-जीवन का अभिन्न अङ्ग था, तब के लोगों की सूझबूझ को 'कचटतप' वाली संस्कृत और किताबी धर्म के बकवासी जानकारों के सफेदपोश इशारों पर एकबारगी झुठला देना दानिशमन्दी नहीं है ।

राम के निर्देशानुसार लक्ष्मण ने पर्णशाला बनाई । वह उन्हें बेहद भाई । राम ने कहा—अब हिरन के मांस से उद्घाटन यज्ञ करेंगे । जल्दी

से जाकर एक काला हिरना मार लाओ। शास्त्र के बताए रास्ते से चलना हमारा परम कर्तव्य जो है !

'कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्ममनुस्मरन्'

स्वयं राम शास्त्र की दुहाई देते हैं। उनके गुरु महर्षि वसिष्ठ थे। राम पढ़नेवाले, वसिष्ठ पढ़ानेवाले। शास्त्र और कैसे मँजता है !

भाई के सच्चे अनुयायी लक्ष्मण ने पलक झपकते, राम-बाण से एक सुन्दर श्याम हरिन मार कर धधकती आग में पकने डाल दिया। पक चुकने पर राम से कहा : 'पूरे का पूरा मृग (याहू—मुसल्लम) तैयार है, आप यज्ञ करें।'

इसी पीठिका में निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर आपने मुझे जो सुनाने कहा है—

'न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चैव मधु सेवते
वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति पञ्चमम्।

वह हँसी में उड़ा देने लायक हर्गिज नहीं है।

गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ बोधगया, कुशीनगर, सारनाथ—किसी भी जगह देखिए, एक विराट पुरुष का स्वरूप आँखों के सम्मुख खड़ा हो जाता है, राम पञ्चायतन की जयपुरी मूर्तियों की मन्दिरों में झाँकी लीजिए तो वे रामलीला की-सी 'नव कंज लोचन, कंज मुख, कर कंज पद कंजारुणम्' दिखाई देती हैं। ऐसे ललित-कलित कमल-कोमल राम-रमैया ने, दैया रे दैया, रावण-कुम्भकर्ण को कैसे मार गिराया होगा ? कनकैया काटना तो न था यह ! तुलसीदल चढ़ाकर, गङ्गाजल से बना अमनिया चौके का राग-भोग खा कर कण्ठी के नीचे बदकिस्मती से दबी-छुपी मक्खियाँ बेशक मारी जा सकती हैं; परन्तु जो है सो इस विधि राक्षसों का संहार तो कदापि सम्भव नहीं है। और अलौकिक शक्तियों की दुहाई हर छोटी-बड़ी बात में अच्छी नहीं लगती।

अवश्य इसका यह अर्थ नहीं कि मैं—'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ़ मधु यावत्पिबाम्यहम्' के प्रति पक्षपात प्रदर्शित कर रहा हूँ। नहीं, मैं सिर्फ यह कहता हूँ कि राम आखिर प्रतापी क्षत्रिय ही तो थे, यदि वे कभी-कभार यह सब खा-पी भी लेते होंगे तो तात्कालिक आर्य-धर्म के दुर्गम

सघन कर्मकाण्ड से समर्थित होने के कारण यह अलग से कोई आलोच्य विषय नहीं हो सकता। न यह राम होने की कोई शर्त या अनिवार्यता है और न कोई दूसरा शिकारी क्षत्रिय राम हो सका।

सारे उपद्रवों की जड़ राम को परब्रह्म-परमात्मा मानना है। मानते हैं तो उनके कार्य्यों की आलोचना क्यों करते हैं? जो परमात्मा प्रलय काल में सारे संसार को फर्राटे से निगल-पचा जाता है, इसके इतने मामूली-से-खाने-पीने को लेकर हंगामा खड़ा करने से क्या फायदा?

साधुओं ने डूबे-से स्वर में पूछा—तो आप राम को देवता नहीं मानते?

नहीं, मैंने कहा, मैं उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम, ठेठ हिन्दी में, महापुरुष मानता हूँ। देवता होते तो वह न जन्म लेते, न मरते!

'यह तो उनकी लीला है!'

मैं राम-लीला का कायल नहीं हूँ! फिर उन्होंने ऐसी लीला क्यों नहीं की कि रावण सीता की ओर ज्योंही ताकता, सीता के सतीत्व की ज्वाला में जल मरता या फिर, सीता ही उसे हुंकार से जलाकर खाक कर देतीं? वह 'हुङ्कारेणैव तं भस्म सा चकार' हो जाता?

सीता रो-रोकर आत्महत्या करने पर उतारू हो गईं; किन्तु अगणित 'उमा रमा ब्रह्माणी' उपजानेवाली 'महाशक्ति' में वह वैसी मस्ती कहाँ देखी गई—

'यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति?'

कारण स्पष्ट है। वह देवी नहीं, राजकुमारी थीं, राजरानी थीं, देवी-जैसी परम पवित्र, इन्द्राणी-जैसी ऐश्वर्य्यमयी।

वस्तुतः सीता और राम ने उदात्त मानवता के अप्रतिम प्रतिमान ही गढ़े हैं। आज के ढुलमुलयतीम उस चारित्रिक दृढ़ता का दिवास्वप्न भी नहीं देख सकते।

कहना अनावश्यक है, बाबू साहब स्वयं चरित्र के महान् धनी हैं। अभी केवल मनोविनोद के लिए ही उन्होंने सुन्दर-काण्ड का वह विवादास्पद श्लोक मुझे सुनाने कहा है—न मासं राघवो भुक्ते न चैव

मधु सेवते।'

सीता ने पुरुषार्थी राम के साथ समग्रता में आनन्द-मङ्गलमय जीवन का कुछ ऐसा अपूर्व अनुभव किया था जिस पर और किसी का कैसा भी चटक रंग चढ़ ही नहीं सकता था। उसी जीवन को फिर से पाने की अदम्य उत्सुकता के कारण वह अशोकवन में नित नए कष्ट, नित नई उदासी झेल रही थीं। अकेले-अकेले भी वह यही सोचती रहती थीं कि उनका केवल राम को ही अपना जीवन-देवता समझना, नंगी भूमि पर सोना, पूरी दृढ़ता से धर्म का पालन करना—कृश और विवर्ण हो जाने पर भी नियम-संयम में तनिक भूल-चूक न होने देना—क्या ये सारे कठोर अनुष्ठान व्यर्थ ही बह गए ?

इसी तपोबल के भरोसे तो वह शत-शत प्रलोभन देने वाले रावण को धता बता सकती थीं कि वन में जहाँ मतवाले हाथी रहते हैं वहाँ कायर खरगोश भी। राम गजराज हैं और अधम-निर्लज्ज, तू खरगोश-जैसा ही है !

[द्विरदवद् रामस्त्वं नीच, शशवत् स्मृतः]

और भी कि तू मुझे आँखें फाड़-फाड़ कर जैसे घूर रहा है, तेरी ये क्रूरता-भरी भूरी-भूरी धूर्त आँखें निकल कर बाहर धरती पर क्यों नहीं गिर जातीं !

[क्षितौ न पतिते कस्मान्मामनार्य निरीक्षतः]

अप्पय्य दीक्षित ने नारदस्मृति के हवाले से वेदान्त के अपने विश्व-विख्यात ग्रन्थ (सिद्धान्तलेशसंग्रह) में एक मार्के की बात लिखी है कि यों तो आकाश नीलम की कढ़ाई की तली-सी शक्ल का दिखाई देता है और जुगनू चिनगारी जैसा जान पड़ता है, मगर वास्तविकता तो यह नहीं है—'न तलं विद्यते व्योम, न खद्योतो हुताशनः।' अतः आँखों-देखी चीज की भी जाँच-पड़ताल जरूरी है। ऐसा करने पर विषय पर बोलनेवाले को कोई पाप नहीं लगता।

[परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान् न धर्मात् परिहीयते।] अगर कोई अकड़-बाज ऐसा नहीं करता तो उसे यह लतीफा सुना देना चाहिए—

दो दोस्त थे। एक दिन एक ने कहा—देखा न, लॉजिक झाड़ने के

चक्कर में मैंने उस भले आदमी की वाजिब बात को भी मजाक में उड़ा देना चाहा मगर नतीजा क्या निकला, बक-झक कर, थक कर, खुद खासा गधा बन गया।

इस पर दूसरे ने उसकी बाँह पर धप्पा मार कर कहा—देखो, अपने मुँह से अपनी तारीफ नहीं करते !,

सच तो यह कि किसी भी विचारधारा का लक्ष्य तथ्य को समग्रता में प्राप्त करना ही होना चाहिए।

जिन्होंने 'न मांसं राघवो भुङ्क्ते' का यह अर्थ किया है कि रघुवंशी क्षत्रिय मांस नहीं खाते, शराब नहीं पीते, उन्होंने व्याकरण का जोर लगाने में कोई कसर नहीं उठा रखी है, उस व्याकरण का जोर, जिसके अनुसार 'अग्निना सिञ्चति' [आग से सिंचाई करता है] जैसा वाक्य भी बावन तोले पावरत्ती ठीक उतरता है; किन्तु व्यवहार में तो वह सौ पर्सेंट खोटा ही ठहरता है; क्योंकि आग से सिंचाई नहीं होती, बन-बाग बेशक जलाए जा सकते हैं।

यहाँ प्रसङ्ग है कि अशोकवाटिका में सीता ने वियोग की घड़ियों की अपनी सारी तड़पन हनुमान को जतला दी है; उससे भी बढ़कर स्वयं हनुमान ने यहाँ की हर स्थिति अपनी आँखों देखी, अपनी प्रज्ञा से पढ़ी है। अब सीता भी राम के बारे में जानना चाहती हैं कि वह इनके वियोग में किस प्रकार जीवन-यापन कर रहे हैं ! हनुमान वहाँ का सारा हाल कह सुनाते हैं। राम की उसी व्यथा-कथा का यह क्लाइ-मेक्स वाला अंश है कि जब से वह सीता से बिछुड़े, उन्होंने मांस खाना, मधु-पान करना कतई छोड़ दिया है, यों भी ऐसे खोए-खोए-से रहते हैं कि बदन पर मक्खी बैठे या मच्छड़, उन्हें उसे उड़ाने तक की सुध नहीं रहती ! बस, जंगल में अपने आप पैदा हुए साँवाँ धान का मुट्ठी भर भात ही खाते हैं।

एक तपती हुई सती के हृदय पर पति की यह पीर उस घड़ी अमृत छिड़कती होगी ! नयन-नीर का क्या कहना, वह तो आनन्द में भी छलक-छलक उठता है !

राम ने वियोग के काट खानेवाले दिनों में प्रत्येक उत्तेजक, उन्मादक वस्तु का परित्याग कर दिया है, यहाँ यही अर्थ प्रासङ्गिक प्रतीत होता है।

ऐसा जान पड़ा, जैसे वे तड़पकर उठ खड़े हुए हों, यों उनमें से कोई हिला-डुला भी न था। इधर मेरे तर्क थे जो गर्दन से दबोच कर जमीर की तरफ घसीटे लिए जा रहे थे। मैं साधु-महात्माओं की बददुआओं से बचना चाहता था। दिमाग के चौखटे में, बाहर से बन्द कर, ताला डाला हुआ था। हमेशा के लिए छुट्टी कर लेने का इरादा होता तो बेशक चाबी ढुँढ़वाने की कोशिश करता, मगर यहाँ तो कोई ऐसी सीरियस बात थी ही नहीं। पास-पड़ोस के किसी मठ में रामार्चा का बृहत् आयोजन हो रहा था। वे उस पारमार्थिक कार्य में आर्थिक सहायता के लिए पधारे थे। कट्टर शाक्त होने की असलियत बताकर चाहते तो बाबू साहब भवें उचकाते और लहजा बदल कर खटाक से दरवाजा बन्द करवा सकते थे, मगर उनका दरवाजा तो सबके लिए सब समय एक-सा खुला रहता था। एक हद तक भी पाबन्द न कर सके थे। बड़े अज्म के साथ कहा करते थे कि मैं अपना विश्वास जबरन किसी पर नहीं लादता।

यह तो महज उनके दिलबहलाव का एक मजाकिया लहजा भर था। मुझे जो सख्त सजा भुगतनी पड़ रही थी वह (शारदा बाबू की चटपटी भाषा में) भी जरा ज्यादा जहीन (!) होने के सबब ही। आगे एकबारगी अजीब-सा लगता था; अब आहिस्ता-आहिस्ता उनके पाक-साफ इरादे से कुछ-कुछ वाकिफ हो चला था। आसानी से शिकस्त मान लेना बुजदिली में शुमार होता, चुनांचे मुझे उनकी इजाजत से बुजुर्गों से भी अक्सर टकराना पड़ता था। मैंने यूँ नापसन्द नहीं जाहिर की, करता भी तो वह अपने माथे पर शिकन डाल कर यही कहते—'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छतु।'

वाकई न उन्हें किसी से द्वेष था, न किसी से ईर्ष्या थी, न किसी पर क्रोध था, न किसी से बदला लेने की भावना थी, न किसी की निन्दा में अभिरुचि थी। यहाँ इससे बहस नहीं है कि वह जीवन्मुक्त थे या नहीं। वह जैसे घराने और जिस सम्पदा की पैदावार थे, समय बिताने की समस्या का हल और भी मुश्किल बन जाता अगर वह विद्याव्यसनी या कला-प्रेमी न होते।

बहरहाल मुझे रास्ते के काँटे तोड़ने ही थे। जिन्दा रहने और रोजी कमाने की सीख देनेवाले बहुतेरे थे। उनके आँख झपकाने, मुँह उठाने

भर से मेरा भार उठाने को कहाँ कौन तैयार हुआ बैठा था ! The straw shows which way the wind blows.

इसी वक्त उनमें से एक ने मेरे बन्द दिमाग के सँकरे दरवाजे पर जरा-सी दस्तक दी : शास्त्री और विद्वान् होकर भी आप माया-मनुष्य राम को मनुष्य ही मानते हैं ?

'हाँ, किन्तु महर्षि वाल्मीकि के विश्वास से। नास्तिकता, उद्दण्डता, सनक या Knows little, attempts much की वजह से नहीं।

'दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः (गलती देवताओं की थी, मनुष्य होकर मैंने उसका संशोधन किया।) स्वयं राम की उक्ति है।

'न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितु मर्हति' (मनुष्य-योनि में जन्म ग्रहण करनेवाली कोई भी स्त्री राक्षस की पत्नी नहीं हो सकती) सीता ने अपने मुँह से कहा है।

'कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे' (वह ऐसा कौन-सा मनुष्य है, लड़ाई के मैदान में जिसके गुस्सा होने पर देवताओं के देवता भी कूच कर जाते हैं !) महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि नारद से पूछा था ?

हनुमान सीता से किस भाषा में बातें करें, इस सोच-विचार में वह दो बार मानुषी संस्कृत भाषा को याद करते हैं—

वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्

यहाँ यह भी याद रखने के लायक है कि संस्कृत कोरी देववाणी नहीं है। सभ्यलोगों द्वारा बोली जानेवाली मानुषी भाषा भी है। देव-वाणी में बातचीत करने पर तो, हनुमान कहते हैं, सीता को सन्देह ही हो जाता कि हो न हो, यह रावण ही है जो बानर का भेष बदलकर मेरा घाव हरा करने फिर आ पहुँचा है। अतः उन्हें—

'अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।'

अर्थपूर्ण मानुषी भाषा में ही बातचीत की शुरुआत करनी चाहिए।

सीता के आमने-सामने खड़े होकर हनुमान प्रश्नों की झड़ियाँ लगा देते हैं कि सीता देवी हैं या यक्षी या किन्नरी ? फिर वह स्वयं समाधान

भी ढूँढ़ निकालते हैं—

रोदनादतिनिःश्वासात् भूमिसंस्पर्शनादपि ।
न त्वां देवीमहं मन्ये राज्ञः संज्ञावधारणात्
व्यञ्जनानि हि ते यानि लक्षणानि च लक्षये
महिषी भूमिपालस्य, राजकन्या च मे मता ।'

जिस प्रकार रोती हो, ऊँची साँसें खींचती हो, और हर घड़ी धरती पर पड़ी रह रही हो, तुम देवी नहीं हो सकतीं । हाँ, राजघराने की जरूर जान पड़ती हो,— राजकुमारी भी हो सकती हो, राजरानी भी ।

राम और सीता को वाल्मीकि ने मानवीय आदर्शों के सर्वोच्च शिखर पर स्थापित किया है । यों अध्यात्म रामायण ही क्यों, कालिदास-भवभूति ने भी इनकी चारित्रिक उच्चता में ही देवत्व देखा है ।

अध्यात्म रामायण कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है । जैसे गीता महाभारत का एक अंश है, गजेन्द्रमोक्ष, भीष्मस्तवराज-जैसी स्तुतियाँ श्रीमद्‌भागवत से संकलित हैं, ठीक उसी प्रकार अध्यात्मरामायण भी ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तराखण्ड से संकलित है । लोकप्रवाद के अनुसार सभी पुराणों के अकेले स्रष्टा वेदव्यास हैं । वेदव्यास भी वैसे

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः
अभाल लोचनः शम्भुर्भगवान् वादरायणः'

कहलाते हैं और उन्हें यथास्थान नारायण का अवतार भी घोषित किया गया है—

'कृष्णद्वैपायनं विद्धि साक्षान्नारायणं प्रभुम्
को ह्यन्यो भुवि कौन्तेय महाभारतकृद्‌भवेत् !'

फिर तो आर्यसमाज का गीत ही अच्छा लगता है—'भला भगवान को भगवान पर कैसे चढ़ाऊँ मैं !' भगवान वेदव्यास ने भगवान शङ्कर के मुँह से भगवान राम का आध्यात्मिक व्यक्तित्व उद्‌घाटित किया-कराया है । मैं कहीं इस बहती गंगा में अपना नंगापन धोकर चंगा हो सकता तो कौन जाने, भगवान शङ्कर मुझे भी

सांड़-नन्दी के खूँटे से बाँध देने की दया दरसाते !

मैं तो मगर यह सोचने लगा हूँ कि वाल्मीकि स्वयं रामायण के एक पात्र हैं, जैसे वेदव्यास महाभारत के। वह आदि से अन्त तक रामायण में छाए हुए हैं—व्यक्तित्व और कवित्व—दोनों ही दृष्टियों से। वेदव्यास वाल्मीकि से एक युग बाद के कवि हैं। वाल्मीकि के ऐतिहासिक मर्यादापुरुषोत्तम के समक्ष उनकी परिचित परिकल्पना (राम को ब्रह्म मानने की) वरेण्य हो सकती है; एक युग में मनुष्य स्थूल से सूक्ष्म के अधिक निकट आ सकता है; किन्तु 'राम-पत्नी यशस्विनी' को आश्रय देनेवाले, लव-कुश को शस्त्रों और शास्त्रों में ही नहीं, संगीत कला में भी पारंगत करानेवाले, राम के समकालीन, वनवास के दिनों में राम के पथ-प्रदर्शक वाल्मीकि की आँखों देखी को एकबारगी अनदेखा कर वेदान्त-सूत्रों के प्रणेता वेदव्यास के आध्यात्मिक राम का ध्यान करना कठिन है !

मैं वाल्मीकि के राम को मानता हूँ। उसके साथ, उनके पीछे चलना अच्छा लगता है। अध्यात्म रामायण के राम तात्त्विक सत्ता हैं—महतो महीयान् से अणोरणीयान्' की पकड़ और मुश्किल है। तुलसीदास जी के राम घट-घट में कम, घाट-घाट पर अधिक दिखाई देते हैं। आपको घाट-घाट का पानी पीना पसन्द हो तो आइए, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य—जो चाहिए, पीजिए। तुलसीदास जी प्याऊ पर बैठे हैं, पिलाते नहीं थकते। छक कर पीजिए।

तुलसीदास जी को रामनामांकित प्रसाद पर तुलसीदल छोड़ते बेर नहीं लगती, इसके विपरीत वाल्मीकि हैं जिन्होंने उठते-बैठते चलते-फिरते राम को जैसा देखा-भाला है, वैसे का वैसा उन्हें पेश कर दिया है।

वाल्मीकि के 'राम हैं', तुलसी के 'हो सकते हैं।' और, अगर विष्णु को और कोई काम नहीं, युग-युग, कल्प-कल्प, कोटि-कोटि बार राम के रूप में अवतार ही लेना बाकी रह गया है तो फिर भक्त कवि जैसे-जैसे नचाएँ, उन्हें वैसे-वैसे नाचना ही है। वैष्णव सन्तों ने तो कल्पित कृष्ण चरित्र के समानान्तर उनसे भी वन-विहार, जल-विहार, रास-झूलन की-सी कितनी ही ललित लीलाएं करवाई हैं और उन्हें गुह्य, सूक्ष्म, अध्यात्म, रहस्य की संज्ञा दे दी है। अब राम को 'हे राम'

कहकर यह सब स्वीकारना ही होगा ! विकल्प भी क्या है ?

मानस अध्यात्म के पैटर्न पर बना है। अध्यात्म में राम ने सीता से कहा है कि रावण संन्यासी का बाना बना कर तुम्हें हरने आएगा। मेरा हुक्म है कि तुम खुशी-खुशी उसकी गिरफ्त कुबूल कर लेना। यों तो, तुम नहीं, तुम्हारी परछाईं ही उसकी पकड़ में आएगी, तुम तो…'

रामलीला की शुरुआत शायद यहीं से हुई है। इसके उल्टे वाल्मीकि की सीता अपने मनुष्य होने पर अनुताप करती हैं—

धिगस्तु खलु मानुष्यं, धिगस्तु परवश्यताम्
न शक्यं यत् परित्यक्तु मात्मच्छन्देन जीवितम् !

कि मनुष्य होने को धिक्कार है। मनुष्य, जब चाहे तब, अपनी इच्छा से मर भी नहीं सकता ! वह तो 'सबै नचावत राम गुसाईं' है;

हानि-लाभ, जीवन-मरण,
यश-अपयश विधि-हाथ !' भी।

× × ×

खुदा के वास्ते परदा न क़ाबे से उठा ज़ालिम,
कहीं ऐसा न हो याँ भी वही काफ़िर सनम निकले !

विष्णु के ही अवतार होते हैं क्योंकि सृष्टि की रक्षा का दायित्व सँभालना सर्वोपरि है। राजे-महराजों को भी 'देव' सम्बोधित किया जाता है क्योंकि उनका धर्म भी प्रजा की रक्षा ही है। शास्त्रों ने व्यवस्था दी है—

अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृप:

लंका का संहार करने के कारण हनुमान को रुद्रावतार कहा जाता है। यह रुद्र भी वैदिक देवता हैं, पौराणिक शिव नहीं कि जिनके पत्नी और पुत्र हैं। हनुमान् नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। इन्द्र जो देवताओं का देवता है, कभी अवतार नहीं लेता; ब्रह्मा, जो सृष्टिकर्त्ता है, कभी अपने मन का नया रूप नहीं गढ़ते। ले-दे कर एक बेचारे विष्णु हैं

जिनके दस अवतारों पर दस पुराण लिखे गए हैं। अध्यात्म रामायण भी पुराण का ही एक अंश है। तुलसीदास जी की रामायण उसी सरणि पर लिखी गई है।'

'आप उन पुराणों या मानस-जैसे ग्रन्थों से क्यों चिढ़े हुए हैं जिन्होंने राम को भगवान माना है?'

इसलिए कि उन्होंने मनुष्य की महिमा की उपेक्षा की है। उन्हें यह विश्वास नहीं कि—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवोमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्!'

[एक गुप्त ज्ञान बोल कर तुम पर खोलता हूँ कि मनुष्य से बड़ा कुछ नहीं है।]

राम के मानवीय आकार-प्रकार की परिकल्पना 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्' के आधार पर नहीं हुई। उनका जन्मोत्सव धूम-धाम से मनाया गया; मृत्यु-शोक का जड़-जंगम पर समान प्रभाव देखा गया; फिर भी हठपूर्वक उन पर ईश्वरत्व थोपा जाना क्या उचित है?

यों मेरे माता-पिता राम-भक्त रहे हैं। रामरक्षा स्तोत्र और अध्यात्म रामायणवाली अहल्या-कृत स्तुति मेरे घर में अनिवार्य्य-आवश्यक रूप में पठनीय स्तुतियाँ रही हैं, किन्तु पूछने पर पिताजी ने राम शब्द को ब्रह्म का पर्य्यायवाची भर बताया था। बहस बेकार है, रामायण जिसका जीवन-वृत्त है, मेरी दृष्टि में, वह मर्यादा-पुरुषोत्तम राजा राम ही थे—

'रामो राज्यमुपासित्वा
ब्रह्मलोकं प्रयास्यति।'

सन्नाटा-सा छाया रहा क्षण भर। उन्हें रुपये न वसूलने होते तो कब के चम्पत हो गए होते। इष्टदेव पर कुठाराघात-सा प्रतीत होता होगा मेरा कहा हुआ। जिसने राम की सृष्टि की, उसी की दृष्टि से उन्हें देखने का यह परिणाम निकला था। मैंने तो बाबू साहब की बात भर मानी थी। प्रतिष्ठा का प्रश्न हो गया था न! मैं कोई बहाना बनाकर

A soldier, pleading headache when ordered to fight--उक्ति को नहीं चरितार्थ करना चाहता था। अपने ढंग की पूरी मेरी तैयारी थी। 'आदिकवि' नामक एक विशाल समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखने की योजना भी बन चुकी थी। छोटे-छोटे शीर्षकों में यहाँ-वहाँ मेरे कुछ निबन्ध छपे भी थे। उसी क्रम में इन दिनों मैं वाल्मीकि-पूर्व वैदिक साहित्य (वेदान्त के अतिरिक्त) रात-रात भर जग कर पढ़ रहा था। मैक्समुलर वाला ऋग्वेद और तिलक-शिरोमणि-भूषण-समेत वाल्मीकि रामायण मँगवा कर बाबू साहब ने मेरी अप्रत्याशित सहायता की थी। अब वह अलंकार शास्त्र समग्र मेरे लिए मँगवा देनेवाले थे। उनका प्रगाढ़ पुस्तक-प्रेम सर्वविदित था। मेरे 'अध्ययनं तपः' के उनदिनों वही साक्षी थे।

फिर भी जाते समय उन बड़े, बुजुर्ग राम-भक्तों को मैंने झुक कर प्रणाम किया—

जो बालक कछु अनुचित करहीं
गुरु पितु-मातु मोद मन भरहीं!

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने उच्च चरित्र से आप लोगों के सरल मन को भगवान् राम का मन्दरोपम मन्दिर बना दिया है। उसके किसी कोने में फँसी मेरे तर्कों की मकड़ियाँ आपकी अटूट आस्था को झाड़ू के एक ही झपाटे से साफ हो जाएँगी।

इस पर वे सब हँसते-असीसते खुशी-खुशी वहाँ से बिदा हुए।

एक साईस घोड़े की मालिश कर रहा था। राह चलता-चलता एक राहगीर चुँधिआई आँखों उस धौले-तगड़े घोड़े और उसके रईस-नुमा साईस को देखता हुआ पल भर को खड़ा हो गया। जब जब्त न कर सका, बेसाख्ता पूछ बैठा—'यह घोड़ा किसका है ?'

साईस बड़े ठस्से से बोला—जिसका मैं नौकर हूँ !

इस बार राहगीर उस रईसे आजम का नाम जानने के लिए बेताब हो उठा—

"आप किसके नौकर हैं ?"

साईस ने छुटते ही बड़ी हेंकड़ी से जवाब दिया—

"जिसका यह घोड़ा है !"

× × ×

छाया जब-तब मेरे करीब आकर गैरों की मौजूदगी की वजह से खामोश ही लौट-लौट जाती थीं। गैर थे जो अपनी तफरीह का प्रोग्राम बनाकर निकले थे। उन्हें उठने की जल्दी न थी। उनके दिमाग में एक ही सवाल गर्दिश कर रहा था कि आखिर इस बार भी मैं बच ही गया!

हमारे वी० आइ० पी० वार्ड में यूँ भी चकल्लस की कमी न थी। जीने के आमने-सामने मेरे कमरे का दरवाजा खुलता था, हर वक्त खुला ही रहता था। जीने के चढ़ने-उतरने की खटपट आगे अजीब परेशानी की वजह हुआ करती थी, अब कान कंडिशण्ड हो चले थे। आइन्दा जिन्दगी मैं भी सैर-तफरीह में गुजारूँगा, पड़ा-पड़ा सोचता था। कुदरत ने जो यह खतरनाक मजाक किया है मेरी बाईं टाँग तोड़कर, मैं उससे इसका करारा बदला लूँगा!

जेह्न में जब भी यह सवाल उभरता कि क्या यह मुमकिन है? तभी कोई आसपास बैठा एकाएक बोल उठता—नहीं, अब नहीं। यह तो खुल्लम-खुल्ला 'स्पॉट डेथ' का केस था, ऐसी तिलपट जईफी में एकदम इतना लम्बा आपरेशन!

सुनकर मेरा खुश्क खून सर में जमा हो जाता, खासकर उसका आहिस्ता-आहिस्ता, मुसका-मुसका कर, मुसलसल बातें करते जाना तो दिमाग पर हथौड़े चलाता रहता—

'आप अपने काम से काम रखने वाले मस्तमौला आदमी! न ऊधो का लेना न माधो को देना। किसी की बौखलाहट पर आपकी पेटेंट मुस्कराहट बड़े इतमीनान से जाहिर करती रही कि अरे वाह, तुम तो वाकई भरोसे के आदमी हो! आज उसकी यह दर्दनाक हालत देखना भी इन्हीं आँखों को बदा था! काश कि बेहोश किए जाने के बाद आप कभी होश में आते ही नहीं तो आज आप भी एक ही झटके में रेणु की तरह अमर हो गए होते!'

मैंने उसके जकड़बन्द दिमाग पर लोहे की मुठ्ठी से दस्तक दी—

'आपरेशन के पहले बारहा कोशिशों के बावजूद अगर मैं बेहोश ही न हुआ होता तो आज टाँग की यह गत हर्गिज न बनती, जो बन

गई !'

फिर छलकी मुसकुराहट छिपाकर हलकी-सी हैरत जाहिर की—

'मर-अमर का मजाक छोड़िए। हर ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे को रेणु होना बदा नहीं, समझ लीजिए । मगर···अब ऐसी नाजुक घड़ी में राजेन्द्र यादव हो जाना कैसा रहेगा? यादव की कलम तैमूर की तलवार से कम काट करती है क्या ?'

आपरेशन की पूर्व सन्ध्या पर अपनी जात के कुछ छोटे-बड़े घरों से इकट्ठे बड़ी-बड़े, पकौड़ियाँ तल कर छन कर आए थे : आई थीं। मैंने बहू-बेटियों से कहा था—'मुँह में छाले पड़े हैं; फफोले फदक आए हैं, अभी खा सकना संभव नहीं है। आपरेशन का संकट कट जाने दो, फिर जो जी चाहे, ले आना, सब खाऊँगा !' मगर फिर कोई न लाई, चार महीने अस्पताल में पड़ा-पड़ा इन्तजार करता रहा। दरअस्ल हम लोगों के यहाँ दम तोड़ते हुए बड़े-बुजुर्गों को अकवान-पकवान खिलाने का रिवाज है। सुनता हूँ, स्वर्ग में चाट की कोई दुकान नहीं है, सिर्फ हवा पीने का भरपूर प्रबन्ध है। वहाँ मेरे लिए कढ़ाई-बेलन-झरना ले कर इनमें से कौन बैठने जाएगी ?

अब जब आपरेशन कामयाब हो गया, तब इस मँहगाई में, 'बे-फजूल' खिलाने के झमेले में पड़ने से फायदा ?

श्री विद्याकर कवि अक्सर आते हैं। मेरे बारे में क्या-क्या कहते रहते हैं ! आज कुछ ज्यादा ऊँचे स्वर में बोले थे, डा० राम प्रवेश सिंह को 'बरजबानी' याद है।

डा० रामकुमार वर्मा जब आए तो वह अलग से बेहद उत्साह बढ़ा गए—'बिहार में अब और है ही कौन ?'

'अरे बाप रे, दीवार के भी कान होते हैं, कोई सुन न ले ! बिहार में मेरे अलावा कौन नहीं है ?'

मैं इतना हौसला कहाँ से समेट लाता कि कामरेड रामदेव शर्मा—जैसा कोई जन-नेता, जब देखो तब, खट से दरवाजा खोलकर अन्दर आए **और** बिजली के-से झटके के साथ बेचैन बाहर निकल आए !

इस बार कमरे में यूँ दाखिल हुए और दीवार से लगकर आहिस्ता-आहिस्ता कुछ यूँ खुसर-पुसर करने लगे जैसे अभी-अभी कोई ऐसा हादसा होनेवाला है जिसकी खबर कैसे भी मुझे न होनी चाहिए। मैं

जवाबतलबी जो चाहूँगा !

कामरेड शर्मा हर तरह मुझसे बड़े हैं। दाना दोस्त ही नहीं, भटकावभरे दुनिया के घने जंगलों में वह मेरे सबसे ज्यादा भरोसे के आदमी और राहबर भी रहे हैं। जब से मुजफ्फरपुर आया; आँखों में नमी या होठों पर पपड़ियाँ लिए जब भी उन्हें दिखा; उन्होंने बिना कुछ कहे जान लिया कि मैं किसी आफत में फँसा पड़ा हूँ; किन्हीं मुसीबतों में घिरा हूँ ! जब भी सियासत के अलमदारों में उनके नाम की धूम मची रही; वह बगावत के नेता रहे; उनकी किन्हीं क्रान्तिकारी गति-विधियों से मेरे ताल्लुकात का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता, ताहम उनके भीतर के महान इन्सान ने हरदम मेरे मन का सन्नाटा तोड़ा है; मेरी मदद में उनके हाथ हमेशा बढ़े आए हैं। उनके साथियों की फेहरिस्त में मेरा नाम कहीं नहीं है, मगर मेरी जिन्दगी के हर मोड़ पर उनकी मुबारक मौजूदगी निहायत जरूरी रही है। उनसे बातों-बातों में जरा जोर से हँस पड़ना अच्छा लगता रहा है। उनके लहजे में बचपना हो सकता है; मगर उनके इरादे की पुख्तगी जग-जाहिर है।

सिस्टर बारबरा एक्का के दाँत चमक रहे हैं, वह अदब-आदाब को बालायताक् रखकर शर्माजी से चुप-चुप कुछ कह रही है। सुना, मुझे बेहोश करने आई है। कमर से कफन लिपटा है, O. T. ले जाने की तैयारी हो रही है। एक लम्हा पहले दिल की हरकत रोकने वाला उसका चीख-चीख कर हँसना अचानक रुक गया था। अब वह जैसी कहर भरी नजरों से मुझे घूर रही है, जाहिर है कि बेड़ा गर्क होने ही वाला है !

हमारे सर्जन चाहते थे, मुझे संगीनी का एहसास न हो, सीरियस होने का शुब्हा न गुजरे, चुनांचे आँखों में आँखें डाल कर कहते थे : 'डेढ़ इंच का आपरेशन है; जब मैं चिरने की नाजुक घड़ी का इन्तजार करता हूँगा, आपरेशन कब का हो चुका रहेगा !'

सुन-सुन कर मेरी रूह के स्याह साए सुफेद दीवारों पर उभर-उभर आते थे। वह तो भला हो जननायक श्री कर्पूरी ठाकुर का, जो इस बीच खुद चल कर एशिया के मशहूर सर्जन श्री बी० मुखोपाध्याय से चुपचाप मिल आए और मेरे बनिस्पद ढेर सारी अन्दरूनी बातें कर चुके थे और मुजफ्फरपुरवाले मेरे सारे एक्स-रे प्लेट इकट्ठे दिखला

कर सीरियस आपरेशन की खबर मुझ तक पहुँचा चुके थे और मेरे सपाट चेहरे पर बनते-बिगड़ते नुकूश भी देख चुके थे कि मैं इस खबर से हवास-बाख्ता न हुआ था।

नीमहवास रहा हूँगा जब ओ० टी० ले जाया जा रहा था। दोनों हाथ जोड़े हुए था। कोई कह रहा था—चीफ मिनिस्टर साहब आए हुए हैं; जननायक कर्पूरी जी बाहर धुनी रमाए बैठे हैं और उनके डाक्टर लड़के ओ० टी० के अन्दर दाखिल हैं। छाया जी धड़कते दिल और काँपते हाथ से साइन कर रही हैं। सर्वश्री नवलकिशोर गौड़, दामोदर ठाकुर, रामदेव शर्मा बेचैनी से इन्तजार कर रहे हैं। रिश्तेदार नर-नारियों की आँखें नम हो आई हैं। शैल हिचकियां ले रही है। लगातार रोते रहने से उसकी आँखें सुर्ख हो गई हैं। दोस्त-अहबाबों का हुजूम जमा है। डा० मारुतिनन्दन, उदय और रजनीश गीले हो गए हैं, प्रो० गोपेश परीक्षित का हँसता चेहरा अलग से दिख रहा है। उन्होंने लिजलिजी भावुकता पर काबू पा लिया है; वह इन बेमानी आँसुओं के कायल नहीं हैं।

मैं अपने अन्दर नजरें गाड़े लेटा हुआ था। बेहोश होते वक्त एहसास हो रहा था जैसे किसी ने जोर से नाक दाब कर एकबारगी चार चक्कर दे डाले हों और आप रफूचक्कर हो गया हो!

बेसब्री हद से न गुजर जाए, छाया जी का शीशए दिल तपते सन्नाटे की आँच खा कर छनाक-से टूट न जाए; मेरे गुजर जाने का संजीदगी से इन्तजार करनेवाले नेकदिलों के पाक साफ इरादे बेहद तनाव से किरचियों में तबदील न हो जाएँ, शायद इसी खयाल से रोबीले चेहरे के सर्जन हरिराम सिंह रूमाल से हाथ पोंछते हुए बाहर निकल आए। सीधे छाया जी के करीब आकर खड़े हुए। छाया ने झाग के गाले निगल कर गला साफ किया, बोल तब भी न कढ़े। मेले के हर शख्स के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। डाक्टर की खामोशी सुबह से हुए शुब्हे की जर्दी गहरा रही थी। सबने बजाहिर अपनी-अपनी साँस पर खामोशी की मुहर दे रक्खी थी, जब डाक्टर हरिराम सिंह मुसकुरा कर बोले—आपरेशन एक सौ एक प्रतिशत सफल रहा। शास्त्री जी घंटे भर में होश में आ जाएँगे, अब आप कॉटेज पहुँच कर चाय-वाय पिएँ। हम उन्हें लेकर आते हैं!

दुख की तरह सुख भी मन की एक अधिक उत्तेजित स्थिति ही है। स्वाभाविक वह नहीं है। आगे दुख का पलड़ा भारी था, अब सुख का हो गया। मन अब भी डावाँडोल था। दोनों पलड़े बराबर जो न थे! 'सुख दुःखे समे कृत्वा' जो न था!

इस दुःख का सामना महर्षि कपिल ने भी किया था, गौतम बुद्ध ने भी साक्षी भाव से किया था। वे उसके भोगने वाले न थे। जैसे डाक्टर टी० बी० और कैन्सर के मरीज को देखता है। मरीज के दुःख-दर्द को समझने की कोशिश करता है, खुद भोगता नहीं है। भोक्ता साक्षी नहीं होता, 'तुमहि ह्वै जाई' हो जाता है। वह उसका अनुभव कर सकता है, विवेक नहीं।

मैं एक हद तक बेहोश ही रहा हूँगा जब बी० आई० पी० क्वार्टर में लौटा लाया गया। यूँ कुछ हलचल का अनुभव होता था, कुछ सर्द सन्नाटे और दहशत का भी। दस अगस्त की रात! जैसे कयामत की रात थी। हाथ-पाँव ठंडे, गर्दन लुढ़की हुई। तो भी बेहद सुस्त चलती हुई नाड़ी दमदिलासे की वजह हो रही थी। खून और पानी चढ़ाने के लिए नर्स ने बाईस प्रिक मारे मगर मनचली नस थी जो कहीं ढूँढ़े न मिली। नस और नर्स की इस घमासान भिड़न्त में आखिर नस को ही घुटने टेकने पड़े। कोहुनी के पास वह पकड़ में आ गई। फिर तो, सारी रात खून और पानी चढ़ाया जाता रहा, उसी मुर्दा देह में जो कि एकबारगी पीला पड़ गया था, ठंडा हो गया था। कश-म-कश ऐसी कि माथे पर खून चढ़ जाता तो एक गड़बड़, चेहरे पर पानी चढ़ जाता तो दूसरी। पहली से डाक्टर तिनकते, दूसरी से नर्सें। सो वह चढ़ता ही न था। सारी रात बाँह दबोचे रहे सब। जब-तब छटपटाता : कोई दम भर को भी दम लेने देता! बाँह छुड़ाने की मेरी नाकाम कोशिश पर नर्सों की हमलावर कशिश जैसे खामोशी में भी रह-रह कर कह उठती—

'बाँह छुड़ाए जात कहँ
'न-रस' जानि के मोहि !'
बेड छोड़ जब जावगे
'स-रस' बदौंगी तोहि !

मैं अपने लहजे को संभालूँ; नर्सों से अपने तालुकात का खयाल करूँ; मेरे बकने से कोई हादिसा न हो जाए; फ़हाशी का इलजाम न लगे, इसलिए सख्ती से एक साथ कई-कई इन्जेक्शन्स दे दिए गए और मेरी बकवास सन्नाटों में चली गई।

इस दर्म्यान कमरे की स्याह खामोशी दीवारों की सुफ़ैदी पर चिपक गई थी। चाहत पथराए पैरों से आ लगी थी। जज्बात की उलझन सुलझ चुकी थी। अब और झूठी तसल्ली की गुंजाइश नहीं रह गई थी। ऐसे में छाया का दावा सही हो सकता है कि उनकी नित-निंदियारी आँखों के दिए उस रोज उस समाधि-मन्दिर में बिना झिल-मिलाए सारी रात जलते रहे।

उदयशंकर देव मुजफ्फरपुर से ही चौकसी से मेरी देखभाल कर रहा है। वह छाया जी का खाँटी भतीजा है—कभी चुप्पा, कभी बड़बोला, हरफनमौला और मजाकिया। छाया के 'मायावी' बयान पर पालतू किस्म की आँखें फालतू ढंग से नचाकर 'सफेद सच्ची' गवाही गुजारने हाजिर हो गया : वाकई बुआ बगुले की तरह सारी रात एक पाँव पर खड़ी रहीं।

एक लम्हा पहले मैं क्या था! जैसे दिल की हरकत रुकी जाती हो, जैसे रेत में डूब रहा होऊँ। चेहरे पर ऐसी मज्लमियत थी, जैसे रामायण के उस सफे को गोलाई से लपेट रहा होऊँ जिस पर छपा था—

'का दिखाइ विधि काह दिखावा!'

माथे की नसें कुटी जा रही थीं। आगे जमाने ने सुइयाँ चुभो-चुभो कर जिस्म को छलनी कर दिया था, अब नर्सों की बारी थी। जीभ पक गई थी, मगर जबान थकी न थी। हैरान दाएँ-बाएँ देखता भर रहता था। एक देखने आता तो अपने साथ चार लगा लाता। एक सवाल, एक जवाब ऐसे लहजे में बोलता था कि फिर कभी अपने साथ चार यारों को लाने का हौसला न हो! कुर्सी के एक बाजू पर बैठकर रंगा-रंग रूमाल से चेहरा पोंछने वाले मेरी बेरुखी को बीमारी की संजीदगी समझकर माफ कर देते थे। सिलसिला क्योंकि कभी खत्म न हुआ; काफिला बदस्तूर जमा रहा। मैं पहलू बदल कर उसी रुख बैठ जाता,

जिस रुख बैठा होता था । यह सब मेरा अपना ही किया धरा है। बेरुखी मुकम्मल हुई होती तो यह मंजर देखने को न मिलता। क्या खाने को जी चाहता है, पूछने पर गहरी साँस लेकर कहता—डाक्टरों की ओर से तो खुली छूट है, मगर हद है कि खाने के लफ्ज से मुझे ऐसी नफरत हो गई है जैसी मेरे नाम से यहाँ के स्वनामधन्य कवियों को है।

उन्नति का यह क्रम सब समय समझ में नहीं आता। रेत के कण रवि-किरणों का स्पर्श पाकर चमक उठते हैं, दिए का फूल भी प्रकाश की ही साँसों टूटता है। जिएँ तो चमकते हुए, मरें तो भी प्रकाश ही शेष श्वास हो ! सो जो हो, I succeeded with a great difficulty in accomplishing my purpose.

मैंने नया दिन देखा। प्रसन्नता आँखों से छलक-छलक उठती थी—मुसकाते आँसुओं के रूप में। जिन्दगी की हर परत सुडौल और सलोनी न हो, खुरदरी हो, धूल-मिट्टी से सनी हो; तो भी क्या फर्क पड़ता है ! छटपटाहट, जो अपने-पराए के सरोकारों से न भी जुड़ी हो, वह अपनी पहचान बनाए बिना, भीड़ की गहमागहमी में खो तो नहीं जाती ! एक दफा संगीत चाहे अनसुना रह जाए, कोलाहल तो नहीं रह सकता !

नाला खींचकर जब सब नामुनासिब वक्त पर हँस पड़े, मुराद बर आने का-सा माहौल दिखाई दिया, मुझे एक तुक्का याद आया—

Baby said
When she smelt the rose,
'Oh ! What a pity
I've only one nose !

डाक्टर माहेश्वरी सिंह 'महेश' तुलसी-जयन्ती में भाग लेने भागलपुर से पटना पधारे थे। डाक्टर कृष्णजीवन भट्ट ने बताया कि वहाँ से उठे तो सीधे मुझे ही देखने आ गए। भट्ट से बोले कि वहाँ तो भाषण-भाषण हुए, तुलसीदास के दर्शन तो अब यहाँ होंगे !

तब मैं होश में होता तो वक्रता सीधी करने में सहायता मिलती।

ईश्वर का साक्षात्कार न होने पर भी लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते ही हैं !

प्रत्येक आत्मा को अव्यक्त ब्रह्म कहा गया है। इस अव्यक्त को व्यक्त करना ही जीवन का परम पुरुषार्थ माना जाता है। किन्तु जब तक बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रकृति वश में नहीं है तब तक अव्यक्त व्यक्त नहीं हो सकता।

'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'

इन्द्रियाँ वश में रहें, यह कोई हँसी-खेल तो नहीं है। कर्म, ज्ञान और उपासना में जिसे जो रुचे, जँचे, उसी के सहारे उसे आगे बढ़ना चाहिए। आँखें मूँद कर आगे बढ़ना चाहिए। इन्द्रियों का संयम ही योग है। मन वश में हो तो उससे जुड़ें; उससे 'योग' हो। वह जो है, उसे, जैसा है वैसा, खोल देना है, अपने कर्म से, उपासना से। ज्ञान खुलाव नहीं तो और क्या है !

जब Bacon कहते हैं—

Why should there be much termoil aud such strife,
To spin in length this feeble line of life ?

जीवन के क्षीण तन्तु को 'जीवेम शरदः शतम्' में बुनने की यहीं आवश्यकता होती है। अव्यक्त ब्रह्म को व्यक्त किए बिना पुरुषार्थ-पर्व पूरा जो नहीं होता। It shall be my endeavour to reveal Thee in my action." वाली बात है। हमारे प्रत्येक कार्य से उसे प्रकट होना है, इसी भाव से कर्म करना होता है। जिससे उसका आभास नहीं मिलता, अपना ही अहङ्कार प्रकाशित होता है, वह कर्म नहीं, कुकर्म है।

योगवासिष्ठ के राम याद आते हैं। जीवन उनके भी संशय का निशाना बना था। उसे उन्होंने काफी कोसा था। अवश्य उनके अर्थ-गौरव-मन्थर वचन हवा में उड़नेवाले न थे। निर्वेद उनका उस काष्ठा पर पहुँच गया था कि वह प्राणत्याग तक का निश्चय कर चुके थे।

'अविश्रान्तमनाः शून्यमायुराततमीहते ।'

तृष्णा की आत्यन्तिक शान्ति ही मन की विश्रान्ति है, किन्तु जिनका मन अनुक्षण तृष्णाओं के चक्कर में पड़कर अशान्त ही रहता है उनके लिए लम्बी आयु की कामना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण और दुःख-दायी है।

'विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम्
अप्रौढ़ात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ।'

विषय-वासना के साँपों के साथ बसेरा लेने के कारण जिनका चित्त चारों ओर से जर्जर हो गया है; आत्मा का विवेक शाब्दिक रूप में ही है, जीवन में रचा-पचा नहीं है, उनके लिए लम्बी आयु का बोझ ढोना उबा-थका देनेवाला धन्धा ही है।

जीने को तो पेड़-पौधे भी जीते हैं, पशु-पक्षी भी जीते हैं; किन्तु यहाँ उसी का जीना जीना है जो जीने की चिन्ता में नहीं जीता।

जिसने परम पुरुपार्थ प्राप्त कर लिया हो, और जो जीवन्मुक्ति का स्वाद ले रहा हो, जिसके कुछ सोचने-समझने के लिए बाकी न बचा हो उसी का जीवन जीवन है।

जिसे सत-असत् का विवेक न हो, उसके लिए शास्त्रों का अध्ययन बोझ भर है। और जो राग-द्वेष से छुटकारा न पा सका, ज्ञान उसके लिए बोझ ही है। जो अत्यन्त चञ्चल और अशान्त है, उसके लिए मन भी एक नौ मन का बोझ है। इसी प्रकार जो आत्मज्ञानी नहीं है, शरीर उसके लिए बोझ से अधिक कुछ भी नहीं।

दूसरी ओर आत्मज्ञान की सबसे उपरली और पहली परत चित्त का वश में होना है जिसके लिए कहा है कि समुद्र का आचमन कर जाना आसान है; बाँहों से झकझोर कर सुमेरु पर्वत को उखाड़ डालना भी कुछ ऐसा कठिन नहीं है; अंगारे निगल जाना तो और भी असम्भव नहीं; किन्तु मन का निग्रह अत्यन्त कष्ट-साध्य है।

जीने के बहाने बहुत हैं। मेरे लिए यही काफी है कि मेरी साधना सिद्धि नहीं बनी है। बनने के क्रम में रक्त सोख रही है; मांस पिचका रही है; हड्डियाँ गला रही है। कैसी कठोर है यह! लोहे की-सी खिंचाई हो रही है, सरस्वती की वीणा के तार और कैसे सुर में

ढलते हैं !

काशी विश्वविद्यालय के रङ्गमञ्च पर 'चण्ड कौशिकम्' खेला गया था। मैं हरिश्चन्द्र की भूमिका में उतरा था। दिग्दर्शन में भी सहायक था। श्लोकों की जगह, नाटक के लिए कतिपय संस्कृत गीतों की रचना भी मैंने ही की थी। उसमें आर्य्य क्षेमीश्वर ने नान्दी के लिए लिखे गए[1] एक श्लोक में भगवान् शङ्कर की विविध दृष्टियों का बड़ा ही चित्रात्मक वर्णन किया है, इन दिनों मेरे मन में कितनी-कितनी तरह के परस्पर-विरोधी भाव आते रहते हैं जो बिना विभाव के ही उद्दीप्त हो-हो उठते हैं ! डा० रामेश्वर नाथ तिवारी (डुमराँव) और डा० मधुप (दानापुर)—जैसे विद्वानों को भी मेरे बोलते वक्त झटपट कुछ नोट करते देखता हूँ तो सहज ही यह भ्रम होने लगता है कि क्या वाकई मैं अभी पटना से राँची (पागलखाने) रेफर कर देने के लायक नहीं हुआ हूँ ?

ऐसा ही एक वाकया याद आता है मुजफ्फरपुर का। सन् बयालीस के आन्दोलन के दिनों में अमेरिकन टॉमियों की एक बहुत बड़ी टोली मुजफ्फरपुर में इकट्ठी हुई थी। जन-जीवन अस्त-व्यस्त। घर से निकलना भी खतरे से खाली न था। ऐसे में आदतन मैं रेलवे लाइन के किनारे-किनारे घूमता-घूमता कई-कई मील निकल जाता था। उस रोज मनियारी से लौट रहा था जब किसी आहट पर पलटकर देखा कि A detective shadows me in a secret manner. पहले मैंने सोचा, वह अपनी राह चल रहा है, पीछे मेरे रुक जाने पर वह भी थोड़े-से फासले पर ठिठक गया। मेरे लम्बे बाल, लम्बा कुर्त्ता, पगडंडियों की धूल बुहारती धोती जौर सीना तान कर अलमस्ती में चलने का ढंग उसकी चौकस आँखों में एक पक्के टेररिस्ट का-सा हुलिया था जो लाइन उखाड़ने की तजवीज में हो ! अभी ठीक से सवेरा नहीं हुआ था। पौ फटने के पहले का वक्त था। मुजफ्फरपुर की रेलवे

---

१. आनन्दश्लथिताः समाधिषु, मुखे गौर्य्या विलासोल्लसाः
सम्भ्रान्ताः क्षणमुद्गताः क्षणमथ स्मेरा निजे वैकृते
क्रूराः कृष्ट-शरासने मनसिजे, दग्धे घृणाकूणिताः
तत्कान्तारुदितेऽश्रुपूरतरलाः शम्भोर्दृशः पान्तु वः।

गुमटी तक आते-आते पसीने से नहा गया था। बाबू साहब नौ बजे तक सोकर उठते थे। टॉमी कहीं आवास तक मेरा पीछा करता और कमरे की तलाशी लेना शुरू कर देता तो भी मैं बाबू साहब को महज अपनी नन्हीं-सी जान की खातिर, सुबह-सबेरे की उस शबनमी नींद से जगा तो नहीं सकता था। बाहर बन्दूक लिए 'नाइट-गार्ड' बेशक होते थे, मगर उन्हें इशारे से इस खामोश उलझन के बारे में कुछ समझाना कठिन था। सच तो यह कि It's easier to suggest solutions than helping to solve the problem.

रेलवे लाइन के उस सिरे से आहिस्ता-आहिस्ता मैं मुड़ गया जहाँ से एक पगडंडी रमना-परिसर को जाती थी। वह ठिठक कर देखता ही रह गया कि शिकार हाथ से निकलता चला जा रहा है; किन्तु कुछ बोला नहीं। वाकई शरीफ था। शक होने पर उसे सुबूत की जरूरत न होती।

जैसा घबराया-घबराया आया था, अपना कोई होता तो उससे घटा-बढ़ाकर कुछ कहता-सुनता और बिफरी-सी धड़कन धीरे-धीरे नार्मल हो जाती। किन्तु यहाँ ऐसा क्या था? तनाव हो कि बेचैनी, मन को स्वयं शान्त रखना था। ताला खोलकर एक ओर डाला और खटोले पर औंधे मुँह लेट गया। न तो मेरा शरीर रुग्ण था, न मस्तिष्क के स्नायु कमजोर, सो आँखें बन्द कर शरीर को ढीला छोड़ देने से क्षण भर को मन शान्त हो जाता है। ऐसे ही एक अनमना गीत अनबना ही व्यतीत हो गया। सौ साल में भी न बढ़ा, न घटा।

मौसम या हम नहीं उदास
जिन्दगी सुगन्ध की तलाश
टेसू की आग पिए कौन
सुलगे भी गुलमुहरी मौन
तुर्श, तल्ख कैसी भी आस
मधु-मद या अंगारी साँस !

मैंने महसूस किया, मुझसे किसी का स्वार्थ सधनेवाला नहीं है। मैं अकेले में छोड़ दिया गया हूँ— तड़फड़ाऊँ या शान्त रहूँ ! रथ टूट गया है, लगाम अपने ही हाथों में रहे।

'मैं ज़हरेमर्ग गवारा करूँ कि तल्खीए जीस्त,
मेरी खुशी तो है सब कुछ, तेरी खुशी क्या है ?'

एक भी चित्र बन पाता तो सारे रंग फीके न पड़ते ! खड़ी चढ़ाई वाला पहाड़, गदले पानी का डबरा, अपने ही डाल-पात से औंधे अँधेरे पेड़-पौधे—जिन्दगी न हुई, कोई झारखण्ड हुआ ! अनिच्छा, घृणा और हठ—त्रिकुटी पर प्राण टिके थे। ऐसे ही दस बजने को आए मगर अपनी मर्यादा को अपमानित करने का क्रम न टूटा। सोचा, अभी मेरा निरभ्र नील गगन तो बाबू साहब का नीला बंगला ही है। चल कर, आज मुँह अँधेरे जो घटित हुआ, उन्हें बताऊँ और कहूँ कि मैं जहाँ हूँ, अत्यन्त अरक्षित हूँ। ध्यान के लिए एकान्त ठीक है, ऐसे भय और संशय के वातावरण में ध्यान-धारणा सम्भव नहीं है,···

पहुँचकर जो देखा, उसमें अपने दुर्भाग्य को उकसाया नहीं जा सकता था, आत्मरक्षा का भ्रम टूट चुका था। यहाँ अपनी महिमा से मण्डित, अनासक्त, साक्षात् शङ्कर विराज रहे थे, जिनकी निश्चिन्तता स्वतःसिद्ध थी। अपार सम्पदा लुट रही थी, लुटेरे चण्डाल-सरीखे दिखते थे। उन लुटेरों के घृणित व्यक्तित्व को कीमती कपड़ों से ही सुरक्षा प्राप्त थी। मगर बाबू साहब थे कि इस कठोर सचाई की ओर से भी नितान्त निश्चिन्त रहते थे। समानधर्माओं का उपदेश-सन्देश सुन कर भी वह अधिक-से-अधिक आकाश की ओर हाथ भर उठा देते थे। किसी की अवहेलना नहीं करते थे। अनिष्ट और अरिष्ट की चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त थे। कलियुग उनके पास नहीं फटक पाता था। उन्हें अपनी शिथिल व्यवस्था और अकर्मठता को उत्तम और उदात्त प्रमाणित करने की भी नहीं पड़ी थी। यदि यह शासनिक दुर्बलता थी तो सहज थी, गहन निःसङ्गता थी तो भी चिरसङ्गिनी। जब-तब मुझसे कहते थे—मनुष्य अपने चरित्र को किस-किस से छिपाएगा ? लोक में झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए वह शब्द-जाल, अर्थ-जाल बुनता है, मगर वहाँ सूरज-चाँद की आँखों पर पट्टी कैसे बाँधेगा ? अपने तड़-फड़ाते हृदय को निरे वाग्जाल में उलझा कर कहाँ रखेगा ?

'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ।'

उनका दुरूह चरित्र Myths; legends के अन्तर्गत होने के कारण सामान्य जनों के लिए unintelligible था ।

मेरे आवास के आमने-सामने घरवाले प्रह्लाद मेहरोत्रा जिला स्कूल में नारे लगा कर जेल जा चुके थे । ब्लेक आउट का जमाना था । बल्बों पर काले कार्ड-बोर्ड का ढक्कन मेरे डेरे के खपरैल में, सर पर लटका चमगादड़-सा, लगता था । यहाँ नील गगन का जीवन किन्तु आदर्श और आनन्द से भरा-पुरा था । दृश्य दिवा-स्वप्न-जैसा नहीं, सुन्दर सत्य के समान प्रिय और विश्वसनीय था । नव रत्न अपनी-अपनी आभा लपेटे यहाँ-वहाँ चमक रहे थे । मैं अभी ठीक से बैठ भी न पाया था कि एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ । अज्ञात पण्डितों में एक—नूतन में पुरातन—बोल उठे : 'सुन्दर काण्ड नाम रामायण के एक काण्ड का क्यों है ? 'अयोध्या-किष्किन्धा-युद्ध—जैसे नामों की तरह उसकी क्या सार्थकता है ?'—अभी यही प्रसङ्ग छिड़ा हुआ है ।

'प्रसङ्ग अप्रासङ्गिक तो है, किन्तु है सुन्दर !'—मैंने कहा । 'देश स्वतन्त्रता की लड़ाई छेड़े बैठा है । यह हुआ युद्ध काण्ड । इसके पहले आपने ठीक लक्ष्य किया है, सुन्दर काण्ड का अभाव अखरता है । बिना सुन्दर के लङ्का में युद्ध होगा कैसे ?'

—बाबू साहब हँसे—पण्डित जो आजकल यहीं रामायण की कथा कह रहे हैं । किसी धर्मशाला में । भीड़ खूब होती है । मुझे बुलाने आए हैं कि किसी दिन मैं भी जाकर सुनूँ । मैं तो कहीं जा नहीं पाता । यहीं से झरते पत्तों की ध्वनि सुनता रहता हूँ ।

इनका नाम भी पण्डित सुन्दरलाल शर्मा है न ! सो मेरे मुँह से अनायास निकल गया कि बताइए, रामायण में एक का सुन्दर काण्ड नाम क्यों है ? पण्डित जी मेरा वही प्रश्न अब आपसे पूछ रहे हैं ।

मैंने कहा—सुन्दर बन्दर को कहते हैं । हनुमान नायक हैं उस काण्ड के, इसीलिए उसका नाम सुन्दर काण्ड है ।

'सुन्दर बन्दर को कहते हैं ?'—बोलकर बाबू साहब ने झट उगालदान हाथ में ले लिया और एकबारगी सोलहों बीड़े उगल दिए, फिर

भी हँसी काबू में न आई। कुर्ते पर बेल-बूटे कढ़ ही आए।

बाबू साहब की हँसी कहीं थमती ही न थी। हँसते समय उनका व्यक्तित्व और अधिक स्निग्ध-ललित, और अधिक आकर्षक हो उठता था। शरद् ऋतु की चाँदनी का-सा शीतल-निर्मल प्रभाव जैसे पूरे परिवेश में व्याप्त हो जाता था और वह उनके निस्तरङ्ग अन्तरङ्ग को एक सम्मोहक रूप-आकार प्रदान करता था। इस समय भी वह ऐसा ही निस्तब्ध और शान्तिपूर्ण था। अन्तर था तो यह कि— 'सुन्दर बन्दर को कहते हैं!'—वह अपने आप कहते और फिर-फिर हँसते जाते थे। नीले बंगले में उनकी हँसी ऐसी लगती थी, जैसे नील जल में रुपहले डैने फैलाए कोई स्वर्णहंसी तैर रही हो!

जैसे किसी मुँदरी के नीलम में मोती पिरोते हुए जौहरी की उँगलियाँ कहीं थकती ही न हों!

जैसे नील कमलों के विशाल ताल में आधी रात में बेला फूला हो!

जैसे ओङ्कारनाथ जी की टोड़ी में अनोखे लाल जी तबले पर संगत कर रहे हों!

जैसे विन्ध्य के सघन श्यामल फलक पर रोरिक हिमालय आँक रहे हों!

जैसे नीलाभ मञ्च से टैगोर 'उर्वशी' की आवृत्ति कर रहे हों!

(A man judges by his own standard)

सुन्दरलाल जी का चौकोर चेहरा गम्भीर से गम्भीरतर होता गया था। उनके दग्ध और कठोर मनोभाव आँखों से फटे पड़ते थे, अलबत्ता विदग्ध हँसी हँसते समय काले-फैले होंठ टेढ़े-मेढ़े होकर रह जाते थे। होंठों की गंधाई सीप से मोती के आकार के कुछ कंकड़ ही छिटकते थे।

× × ×

सुख बेसुधपन का दूसरा नाम है। सुख की सुधि नहीं रहती। हवा बहती है। धूप फैलती है। चाँदनी छिटकती है। किसी को इसकी सुधि नहीं रहती।

दुःख की बहुत याद आती है: दुःख ही पैनी याददाश्त की

कसौटी है।

याद आती है दुर्घटना की, दुष्टों से मिलने और प्रियजनों के बिछुड़ने की, भूकम्प की, प्रलय घनघटा की, आँधी-तूफान और सर्व-संहारकारिणी बाढ़ की, महामारी की।

मुझे मगर रमना की बहुत याद आती है। क्या सुख था वहाँ, नहीं जानता। किसिम-किसिम के दुःख-ही-दुःख थे उस ठौर, नहीं मानता। सुख-दुःख से ऊपर उठे आनन्दमूर्ति बाबू साहब जो थे वहाँ! मैं हाँकता नहीं, वाकई उनसे बातें करने में कितना वक्त कब गुजर जाता था, पता न चलता था। जीने का ढंग मेरा बजाहिर अटपटा था। दाखले देकर मेरे मुँह से उस अटपटेपन का खुलासा होना मुमकिन नहीं। अब अधिक-से-अधिक मैं उसे ईश्वरेच्छा कहकर ही चुप रह जाता हूँ।

जो थोड़े मेरे करीब आ पाए थे, हैरत में थे कि पच्चीस रुपये महीने के एवज में पच्चीस साल का मैं कैसे दिन भर खुशी-खुशी बाबू साहब का विरुद बखानता रहता था?

अर्थाभाव मेरे शब्दों में हर्गिज न था, जीवन निरर्थ होता तो मैं कहता : खुशी क्या पैसे से ही मापी-तोली जाती है? ऐसा कौन है जिसे जितना चाहिए, उतना मिलता हो! भाग-दौड़ में कोई एक ऐसा बिन्दु अवश्य आता है जहाँ मन को बरबस रोक लेना पड़ता है। समझ लो, मेरे वह एक बिन्दु स्वयं बाबू साहब हैं।

× × ×

गया में पहला-पहला कालेज खुल रहा था। संस्थापकों से लेकर बन्धुवर हंसकुमार तिवारी तक ने, जो उसकी गवर्निंग बडी के एक सम्मानित सदस्य थे, गया आकर सीधे ज्वायन करने के लिए लिख भेजा। वर्षों की प्रतीक्षा के बाद यह अवसर आया था; घपले में, अपनी जन्म-भूमि के पास, फोकट की प्रोफेसरी हाथ लग रही थी। न दरख्वास्त, न इण्टरव्यू, एकबारगी अप्वायंटमेंट।

मैं प्रसन्न-चित्त पत्र लेकर बाबू साहब को दिखाने गया। एक के बाद एक—उन्होंने तीनों पत्र पढ़े और क्रमशः उनका मुँह उदास होता गया। एक अपरिचित दृष्टि से उन्होंने कुछ देर मेरी ओर लगातार देखा फिर उनकी आँखें डबडबा आईं। क्षीण स्वर में बोले—इस्टेट का

हाल आपसे छिपा नहीं है। बनारस बैंक वाले मुकदमे और ऐसे ही कई और मुकदमों के चलते हालात बिगड़ते ही गए हैं। लगातार जमीन बिक रही है। मैं उतने रुपए तो अभी न दे सकूँगा जितने आपको कॉलेज में मिलेंगे। हाँ, यह मेरी हार्दिक इच्छा अवश्य है कि मेरे जीवन भर आप यहीं रहें ! अभी मैं, आफिस से जो मिलता है उसके अलावा, अपने पॉकेट खर्च से, प्रतिमास सौ रुपए और, आपको दिया करूँगा। यहाँ भी तो कॉलेज हैं, जब कभी कोई जगह खाली होगी, मैं कुछ उठा न रखूँगा। किताबें आप जो भी लिखेंगे, स्वयं मैं छपवाऊँगा। अभी तो इतना ही कर सकता हूँ, आगे आपकी जैसी मर्जी···

उनकी आँखें तो डबडबाई ही थीं, मेरी छलक-छलक आईं—

'बाबू साहब, मैं सीढ़ी के सबसे निचले डंडे पर खड़ा जरूर हूँ, मगर उपरले डंडे से हाँक लगाता हूँ कि ऐसा ही होगा। आप निश्चिन्त रहें, मुझे अपनी कमी पसंद है—आपके स्नेह से मूल्यवान कहीं कुछ नहीं है। मुझे अपनी इस शक्ति का पूरा भरोसा है कि छोटी-मोटी रकम मेरे इरादे की पुख्तगी नहीं हिला सकती।

आप मुझे अभी ये सौ रुपए भी न दें। मेरा काम चल जाता है। देखते नहीं, धूप में खड़ा हूँ ? अँधेरे को मेरा इन्तजार भी नहीं है। चन्दा हैं, मेरे कृष्ण पक्ष से काफी वाकिफ !

सुखं वा यदि वा दुःखं
प्रियं वा यदि वाऽ प्रियम्
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत
हृदयेनापराजितः।

सुख छाए या दुख घहराए; प्रिय आए कि अप्रिय मंडलाए;—जो पधारे सब का स्वागत। बस माँ, किसी के आगे घुटने न टेकूँ !

—मेरे वावदूक जीवन का यही मूक मन्त्र है। पैसे कमाने निकला होता तो कलकत्ता न जाता ?

आज मेरे पास जो अनुभूति की सम्पदा है वह क्या आपकी अमानत नहीं ? मैं न धन से भागा, न धन की ओर गया। वह मेरा जीवन-धन नहीं है।

कवि कर्णपूर का नाम सुना होगा, उनका असली नाम था

परमानन्द सेन। नदिया जिले के किसी काञ्चन पल्ली नामक गाँव के रहने वाले थे। चैतन्य महाप्रभु के पार्षद थे। कहते हैं, उन्हीं की कृपा से छोटी ही उमर में कवि हो गये थे। केवल अट्ठारह वर्ष की उमर में 'चैतन्यचरितामृत'-नामक महाकाव्य की रचना की थी। उन्हीं का लिखा एक मुक्तक काव्य है—आर्याशतक। अभी उसी का पहला श्लोक मुझे इस प्रसङ्ग में याद आ रहा है—

श्रवसो : कुवलयमक्ष्णो—
रञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं
हरिर्जयति ।

अकेले कृष्ण गोपियों के सारे गहने थे,—कानों के कमल के फूल; आँखों का काजल; नीलम का गलहार।

जिसे छोड़ना पड़ता है, वह कोई प्राप्ति नहीं है। गया चला गया होता तो भी आपसे टूट कर नहीं जाता। आप मेरे अनुसन्धान से कहीं बढ़कर हैं। खाली हाथ यहाँ आया जरूर था, जाऊँगा तो भरा-भरा ही। जो हाथ में भरा जाता है, नसें कमजोर होने पर वह सिकन्दर के हाथ से भी छूट जाता है। मैंने जो भरा है, वह कभी खाली न होगा।

× × ×

मोगालता होगा या यकीनी तौर पर भरोसा, बताना मुश्किल है। सुन्दर लाल जी के चेहरे की चमक पुँछ जरूर गई थी।

जो नहीं जानता, वह कहता; जो नहीं सोचता, वह बखानता, जो नहीं मानता उसे मनवाने में जोर लगाता तो शायद उन पर प्रभाव न पड़ता। मैंने सब सँवारने की गरज से स्वर बदल दिया—

सुन्दर बन्दर को भी कहते हैं, बन्दर को ही नहीं।

सातवलेकर के अनुसार सुन्दर-काण्ड न होकर वह सुन्द-काण्ड था जो लेखकों की अल्पज्ञता के कारण क्रमशः सुन्दर-काण्ड में विपरिवर्तित होकर प्रचलित हो गया।

वाल्मीकि ने लङ्का-काण्ड नहीं, युद्ध काण्ड लिखा है। जहाँ युद्ध

हुआ वह सुन्दर-द्वीप था। असुरों में सुन्दर सर्वत्र चर्चित है। रामायण में भी यह नाम आया है। वह रावण से पीढ़ियों पहले का है। सुन्द-द्वीप में ही इन्द्र की अमरावती के समान लङ्कापुरी थी। कोलम्बस की तरह हनुमान ने अपनी धृति, दृष्टि, बुद्धि और दक्षता से उसे रामायण का, युद्ध के पूर्वाभ्यास योग्य, एक काण्ड बनने का अवसर प्रदान किया कि जिस पर युद्ध-काण्ड जमा। 'राम-रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' सविधि सम्पन्न हुआ।

पण्डित सुन्दरलाल जी की मुख-मुद्रा में ईषत् परिवर्तन हुआ। बोले—त्रेतायुग की बात है! इतने दिनों में कितने-कितने फेर-बदल हुए होंगे। सुन्द का सुन्दर हो जाना आश्चर्य-जनक नहीं है।

मैं हँसा—राक्षस सुन्दर तो होते ही थे। रावण की सुन्दरता का वर्णन सुन्दर हनुमान ने भी किया है। राक्षस साक्षर ब्राह्मण थे। चरित्र भ्रष्ट था; मांस खाते थे, दारू पीते थे, इसीलिए साक्षर को उलट कर राक्षस कहा गया।

सुन्द द्वीप-समूह का आदि अधिष्ठाता सुन्द संस्कृत भाषा की सुखाशयता के कारण कालान्तर में सुन्दर हो गया, ऐसी भी एक मान्यता है।

आजकल हम जिसे मलाक्का का जलडमरूमध्य, जावा, सुमात्रा का ज्वालामुखी-पर्वतमाल-द्वीप-विभाग, बाली सुंबव, सुम्ब तथा टिमोर द्वीप समूह कहते हैं यही वह सुन्द द्वीप समूह है। इस सन्दर्भ में लक्ष्य करने योग्य मान्यता यह है कि वर्तमान सीलोन रावण की लङ्का नहीं है। आस्ट्रेलिया असली लङ्का है। सुन्द-द्वीप समूह आस्ट्रेलिया के ही मार्ग पर है। समुद्र पार करते समय के हनुमान के सारे भूगोल अनुभवों और वन-उपवन, पर्वत, वन फूलों-लदी अधित्यका-उपत्यकाओं की जैसी बाँकी झाँकी देखने को मिलती है, वह आस्ट्रेलिया के रास्तों में पड़ने वाली प्राकृतिक दृश्यावली की ही हो सकती है। आज के सौभाग्यशाली यात्री काफी जाँच-पड़ताल करके इस नतीजे पर पहुँचे हैं। हनुमान ने तो इस क्षेत्र में शायद पहले कदम रक्खे थे।

आन्तरिक उपलब्धि का बाह्य प्रवाह आवश्यक वस्तु से दूर हटा

कर चित्त को अनावश्यक मनोरंजन की ओर नहीं मोड़ता। आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति यदि हमारा लक्ष्य हो तो हमें सुन्दर का वह अर्थ ढूँढ़ना चाहिए जो हमारे कर्मों के साथ संसर्ग स्थापित किए हुए है और हमारी चेतना को शक्ति, ज्योति और आनन्द की ओर अग्रसर करने में समर्थ है।

सर्व प्रथम 'सौन्दर्य्यमलङ्कारः' सूत्र के गढ़ने वाले वामन ने अन्तर्दृष्टि से सौन्दर्य्य की झलक जरूर ही पाई होगी, नहीं तो सुन्दरता से कवित्व को जोड़ने की क्या पड़ी थी उन्हें! कथ्य पर मर मिटते और महाभारत को रामायण से श्रेष्ठतर काव्य सिद्ध कर देते।

भारतीय काव्य परम्परा के अतिरिक्त होमर-दाँते, शेक्सपियर-मिल्टन, गेटे और टैगोर सब पढ़ जाइए, किन्तु सुन्दर काण्ड के समान सुन्दर कवित्व कहीं देखने को न मिलेगा। भावना, कल्पना और अनुभूति का ऐसा उदात्त और विराट सम्मिश्रण विश्व साहित्य में कहीं नहीं है। हनुमान का समुद्र-लङ्घन जिस ऊँचाई से हुआ है, कोई कवि उस तक न पहुँच सका। कालिदास भी नहीं। उनकी कल्पना जहाँ पंख फड़काती है, वाल्मीकि उससे बहुत ऊँचे उड़ जाते हैं। रामायण के भी आदि काण्ड से उत्तर काण्ड तक इस कोटि का कवित्व और कहीं ढूँढ़े न मिलेगा। ऋतु-वर्णनों में भी नहीं। इसके आर्द्र भाव सूखे मन को पानी-पानी कर देते हैं। भवभूति का दावा बस यूँ ही-यूँ ही-सा है वाल्मीकि के आगे। कालिदास तो अज और रति के शृङ्गार-भरे क्रन्दन में उस ऊँचाई की छाया भी नहीं छू पाते। हनुमान के ब्रह्मवर्चस की ऊर्जा, रावण का स्वर्गातिशायी ऐश्वर्य्य, सीता दर्शन के समय की उपमाएँ, सीता का शील-कीलित कारुण्य, लङ्का-दहन, राम को ऐकान्तिक सन्देश, हनुमान के प्रत्यावर्तन पर हर्षोन्मत्त वानरों का मधुपान— संस्कृत के परवर्ती सभी काव्य-नाटकों के प्रेरणास्रोत-से ये दृश्य, इनका प्राणवंत उपस्थापन—वस्तुतः यह सब 'यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले" सत्य-सनातन विश्व की आयु के बराबर आयुष्मान् है।

इसमें सबसे बड़ा सौन्दर्य्य यह है कि ये दृश्य, कथोपकथन से गुँथी घटनाएँ, ये वर्णन,—मानव के ढुलमुलयतीम मन में देवत्व की छवि

उभारते हैं। चेतावनी देते हैं—Look at the Self, सीख देते हैं—As you sow, so you shall reap. और यह तटस्थ निर्णय भी—As they brew, so let them drink.

सूर्य का न उदय होता है न अस्त, कहा जाता है—सूर्योदय, सूर्यास्त। सौन्दर्य्य भी एक ऐसी ही आभ्यन्तर अनुभूति है जिसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। कोई हठात् किसी से नहीं मनवा सकता कि यह सुन्दर है !

मैंने सुन्दर को साहित्य और संगीत के समन्वय में, समग्र और सर्वग्राही स्वरूप में अधिकृत किया है, अब तक का जीवन प्रकृति के प्रच्छन्न दिव्य तत्त्व के सन्धान में गया है। चरितार्थता अवश्य अस्पष्ट रही है। प्राण एक सत्य सङ्कल्प लेकर आत्मानुशासन में प्रवृत्त हैं। सब की सहमति मेरे लिए अनपेक्षित भी है; असम्भव भी।

बाबू साहब हँसे--

आपका यह पक्का विश्वास है कि सुन्दर कवित्व के कारण ही उसे सुन्दर काण्ड कहते हैं ?

नहीं, भट्टि काव्य के 'प्रसन्न काण्ड' के आधार पर मैंने इस दिशा में थोड़ा चिन्तन किया था। वैयाकरण भट्टि जब—

(क) प्रभातवाताहत-कम्पिताकृतिः

(ख) न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्

(ग) रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्

—जैसे अत्यन्त सुन्दर पद्यों का निर्माण करते हैं तो उसे प्रसन्न काण्ड (प्रसादस्तु प्रसन्नता) के अन्तर्गत प्रतिष्ठापित करते हैं। प्रसाद गुण-सम्पन्न ये सारे पद्य किसी-न-किसी अलङ्कार से अलङ्कृत भी हैं। इसी क्रम में मुझे वामन याद आए : काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्य्यमलङ्कारः। मैंने सोचा—सुन्दर काण्ड तो शब्दालङ्कारों, अर्थालङ्कारों और उभयालङ्कारों की स्वर्णमञ्जूषा-सा है। हो न हो, इसी अलङ्कार-सम्भार के कारण इसे सुन्दर कहा गया है ! यह किसी से सुनी-सुनाई नहीं, मेरी अपनी सूझ है। इसमें श्रद्धा या विश्वास—जैसी कोई बात नहीं है।

गणित के अध्यापक बच्चों से सवाल निकलवा रहे थे। पूछा—

रेवड़ में दस भेड़ें थीं, पाँच निकल भागीं, बाकी कितनी बचीं ?

लड़के कोरस में बोल उठे—'पाँच'

उनमें एक लड़का चुप था। उठ कर कहा—एक भी नहीं।

लड़कों की भवें कमान-सी तन गईं। मास्टर ने कड़क स्वर में पूछा—दस में से पाँच निकल भागीं तो पाँच बचेंगी या नहीं ?

उसने बड़ी विनम्रता से कहा—

नहीं मास्टर जी, सवाल दस में से पाँच के निकलने का नहीं, दस भेड़ों में से पाँच भेड़ों के निकलने का है। मैं गड़ेरिये का लड़का हूँ। जानता हूँ, एक भेड़ को कुएँ में डाल दूँ तो रेवड़ की सारी की सारी भेड़ें कुएँ में अपने आप छलांग लगा लेंगी। इसी बिना पर कह रहा हूँ...

बाबू साहब—'भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ'' की प्रतिमूर्ति थे। अन्ध श्रद्धालुओं पर यह व्यङ्ग्य-विनोद सम्भवतः उन्हें अच्छा न लगा हो, यह सोच कर मैंने झटपट बात आगे बढ़ा दी।

खोई हुई वस्तु की पुनः प्राप्ति को भी सुन्दर कहते हैं—

"नष्टद्रव्यस्य लाभो हि
सुन्दरः परिकीर्तितः।"

खोई हुई सीता की प्राप्ति इस काण्ड में हुई है, इसलिए भी इसका नाम सुन्दर काण्ड है।

मङ्गल के अर्थ में सुन्दर शब्द का व्यवहार पाया जाता है। इस काण्ड में 'मङ्गल-भवन अमङ्गल-हारी' श्रीराम और "सुन्दरता कर सुन्दर करई" मङ्गलमयी श्री सीता के बाह्य और आभ्यन्तर (शील, स्वभाव, वृत्त) सौन्दर्य्य का पुङ्खानुपुङ्ख वर्णन किया गया है, जो पूरी रामायण में इकट्ठे कहीं नहीं है, इस कारण भी इसे सुन्दर काण्ड कहा जाता है।

दाक्षिणात्य विद्वानों ने सीता-दर्शन के ठीक पहले अशोकवन में प्रवेश करते समय हनुमान द्वारा उच्चरित श्लोक को राम का तारक-मन्त्र माना है—

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै

नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्य: ।

इसके अतिरिक्त हनुमान को शक्ति का उपासक सिद्ध किया है। वह श्री राम की भी बीज-शक्ति सीता का सन्धान करने निकले हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने सीता-स्वरूपिणी साक्षात् शक्ति के दर्शन कर कृतार्थता का भी अनुभव किया है। अब ऐसे चमत्कारकारी काण्ड को सुन्दर नहीं, तो और क्या कहेंगे ?

और सब के बाद यह श्लोक तो पर्याप्त लोकप्रिय है ही जो सर्व-सम्मत्ति से इस काण्ड के सुन्दर काण्ड कहलाने के कारण-समुदय पर प्रचुर प्रकाश डालता है—

सुन्दरे सुन्दरो राम:
सुन्दरे सुन्दर: कपि:
सुन्दरे सुन्दरी सीता
सुन्दरे किं न सुन्दरम् ?

हनुमान द्वारा वर्णित राम का सौन्दर्य्य, रावण के मुँह से वर्णित हनुमान का सौन्दर्य और रावण तथा हनुमान—दोनों द्वारा वर्णित सीता का सौन्दर्य्य (आङ्गिक और सात्विक-दोनों) अपूर्व, अद्भुत ही नहीं, रामायण में भी अन्यत्र नहीं। इसलिए सुन्दर काण्ड में सब सुन्दर ही सुन्दर है।

आचार्य्य अभिनवगुप्त के एक पद्य से अब इस प्रसङ्ग को समाप्त करना चाहूँगा—

नानास्वादरसामिमां त्रिजगतीं हृच्चक्रयन्त्रार्पिता—
मूर्ध्वाध्यस्तविवेकगौरवभरान्निष्पीड्य नि:ष्यन्दिताम्
यत्संवित्परमामृतं मृतिजराजन्मापहं जृम्भते
तेन त्वां हविषा परेण परमे सन्तर्पयेऽहर्निशम् ।

भिन्न-भिन्न प्रकार के रस और स्वादवाली तिरंगी दुनिया को पहले कलेजे से लगा कर रक्खा, फिर उसे विवेक की गुरुता से पीस डाला। और इस प्रकार मैंने जो ज्ञानामृत निचोड़ा है, ओ माँ, मैं हर घड़ी उसी से तुम्हारा तर्पण करता रहता हूँ !

वाग्विलास के बाद भी थकान होती है, जैसे कैसे भी भोग-विलास के बाद। ऐसा कौन-सा विलास है जो मन को अशान्त न करे? विलास शब्द में ही अशान्ति का पूर्वाभास है।

मौन वाग्विलास का परित्याग है। चुप रहने से मन शान्त रहता है, कोई प्रमाणित नहीं कर सकता। सपने में मन कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है!

न भोग, न त्याग; न विलास, न संन्यास,—सहज होना सर्वोपरि है।

× × ×

मेरे सारे विचारों का भार वहन करते रहने पर भी बाबू साहब अपने अधिकार का चमत्कार मुझे नहीं दिखलाते थे। वह सहज भाव से मुसका रहे थे कि सफेद साफे और चौबन्दी में एक पण्डित ने प्रवेश किया जिनका खल्वाट ललाट रंग-बिरंगे कपड़े धोते धोबी का पाट हो रहा था। वैसा ही चौरस और पथरीला। गले में रुद्राक्ष की माला थी, स्वयम् एकाक्ष थे।

रामनामाङ्कित बिल्वपत्र और आक-धतूरे के फूल बाबू साहब की अञ्जलि में रखते हुए श्लोक पढ़ा। मैं ध्यान से उनका उच्चारण सुन रहा था। उन्होंने—

'करुणामयसागराय' का उच्चारण 'करुणा, मयसा, गराय' किया। इसी छिद्रान्वेषण से मैंने रायगढ़ के कुछ बड़े गढ़ फतह किये थे। आए दिन यहाँ भी ऐसे उत्सव होते ही रहते थे जिनकी परिचर्या का दायित्व मुझी पर था।

धर्म समाज संस्कृत कॉलिज में व्याकरण का एक पोस्ट खाली है। कल इण्टरव्यू है। बाबू साहब गवर्निंग बडी के मेम्बर हैं। पण्डित जी का आगमन इसी उपलक्ष्य में हुआ है।

पण्डित जी : मैं 'ब्याकर्नाचार्ज' (व्याकरणाचार्य्य का उनका उच्चारण) हूँ। बहुत डबल आचार्य आए होंगे, मैं सिंगल 'ब्याकर्नाचार्ज हूँ। 'नागेस' (महावैयाकरण नागेश भट्ट) से भी "सास्त्रार्थ" कर सकता हूँ।

बाबू साहब ने मेरी ओर देखकर मुँह बाने के अर्थ में (मुखं व्याददाति) हँसते-हँसते "ब्या" का उच्चारण किया, फिर दोनों हथेलियों से 'ब्याकर्न' (लम्बकर्ण=गधे) की मुद्रा बनाई। बोले—ये तो

'ब्याकर्नों' (उनके अनुसार गधों) के 'आचार्ज' हैं—व्याकरणाचार्य हों न हों। आप इन्हें 'सास्त्रार्थ' करके समझा दीजिए कि ये सिंगल "आचार्ज" नहीं हैं। ये तो खुल्लमखुल्ला डबल आचार्य हैं —

'ब्याकर्नाचार्ज'—एक

'शुक्राचार्य्य'—दो

इस पर बंगले में बैठे लोग कुछ ऐसे हँस पड़े कि पण्डित जी जल्दी में बाएँ पाँव के जूते में जैसे-तैसे दाहिना पाँव ठूँस कर चलते बने।

दूसरे दिन बाबू साहब ने उन्हें सहानुभूति-पूर्वक कई बार ढुँढ़वाया, मगर अफसोस ! वह इण्टरव्यू में शरीक नहीं हुए थे !

× × ×

कुञ्चित अलकों और झपकती पलकों ने मुझे गीति-कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। अन्तर के कोष में कितनी रज सञ्चित की थी या कितना तम जमा किया था, बताना व्यर्थ होगा। यही निधि मेरी सान्ध्य रश्मियों को भोर में सपने और झञ्झा के झोंकों को शारदी निशा की स्निग्ध शान्ति दिखाती थी।

दिया जल रहा था चिनगारियों-रचा मुकुट पहन कर कि सहसा धुआँ उठने लगा। स्नेह चुक गया ? आशा धधक उठी ? दिया बुझने वाला है ?—कानाफूसी चालू हो गई थी। संक्षिप्त-सी घटना इस प्रकार थी—

यों तो जब हम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में थे, परिचय तभी से था। वहाँ बिहारी छात्र संघ के तत्त्वावधान में 'अशोक'—नामक एक पत्रिका प्रकाशित हुई थी, उसमें उन्हीं दिनों हम दोनों एक साथ प्रकाशित हुए थे; किन्तु इससे क्या, अवस्था में डॉ० लक्ष्मी नारायण सिंह सुधांशु मुझसे बहुत बड़े थे। वह छठे वर्ष में थे, मैं पहले वर्ष में।

उस दिन पटना में मिले तो देर तक बातें हुईं। उन्होंने अनेक सम्मेलनों में मेरा काव्यपाठ सुना था। पूछा था कि क्या किसी राग-विशेष में गाने पर कविता में भावान्तर उपस्थित हो जाता है ? मैंने कहा था—बिलकुल। रागों की कल्पना का मूल आधार ही यह है। प्रातःकालिक राग से सायंकालीन रागिनी विभिन्न प्रकार का मानसिक वातावरण सिरजती है। भिन्न-भिन्न स्वरों का भिन्न-भिन्न भाव है। किसी राग की पकड़ के कुछ स्वरविशेष होते हैं। किसी की पकड़

के कुछ दूसरे। प्रभाव-विस्तार में स्वरों की सामर्थ्य से ही घट-बढ़ होती है। वादी-संवादी स्वर भी रसान्तर की पहचान में सहायक होते हैं।

पहले मैंने उन्हें भैरवी में—

'ऊधो मोहे व्रज बिसरत नाहीं।' गाकर सुनाया, फिर जयजयवन्ती में, फिर भैरव और विहाग में; फिर आसावरी और छायानट में। स्थायी के अतिरिक्त कोई एक अन्तरा सुनाता था। वह भी गायकी के आलाप के साथ नहीं, कवि के सहज स्वर-संवाद के ढंग पर।

हमीर का स्थायी था—

सा सा नि ध	म' प ग म	ध ऽ ऽ ऽ	सां नि ध प
०	३	×	२

केदारा का—

सां नि ध प	म' प ध प	म ऽ ऽ ऽ	म म प प
०	३		२

छायानट का—

सां सां ध प	रे ग म प	म ग म रे	सा रे सा ऽ
०	३	×	२

उनके विशाल नेत्र मुसकिरा रहे थे। कुन्दन कान्ति चेहरे से झर रही थी। अत्यन्त सुन्दर थे न वह, सो काव्य-संगीत उनके भव्य मुख-मण्डल पर परछाईं-सा उभर-उभर आता था। 'सुधांशु' उपनाम बताता है, वह कभी कविता भी अवश्य लिखते होंगे। नवों रसों की कहानियाँ तो लिखी ही थीं। व्यक्तित्व उनका निखरा था आलोचक के रूप में। अब सब दावेदार हैं, क्रोचे पर हिन्दी में पहले पहल उन्हीं ने कलम उठाई थी। यह सब था, पर स्वर की चोट उन्हें न लगी थी। जो हो, मुझे प्रोत्साहित करने के लिए कहा —

'पूर्णिया में अखिल भारतीय कविसम्मेलन करने जा रहा हूँ। उसमें आपको अवश्य सम्मिलित होना है। दिनकर, रामकुमार और बच्चन भी चल रहे हैं। द्विज जी तो वहाँ कॉलेज के प्रिंसिपल ही हैं। बरौनी

में साथ ही लेंगे।'

—कहते हुए हठात् उन्होंने प्रथम श्रेणी के मार्ग-व्यय के पैसे दे दिए। कृतज्ञता की एक भी रेखा मेरे थोथे चेहरे पर न उभरी होगी क्योंकि उनके नयनदर्पण में मेरी जिज्ञासा की एक हलकी-सी झलक भी कहीं नहीं दिखी थी। मैं सस्मित अम्लान उठ खड़ा हुआ। नियत समय पर मुजफ्फरपुर से चल कर साढ़े सात बजे सायं काल बरौनी पहुँच गया। अभी उस गाड़ी के आने में देर थी जिससे हमें इकट्ठे पूर्णिया जाना था। चटोर स्वभाव को चाय पीने के लिए चाट की खोज थी। उतरना ही चाह रहा था कि दूसरे श्री लक्ष्मी नारायण (शर्मा 'मुकुर') मिल गए। तब विद्यार्थी ही थे। पीछे चलकर कवि और आलोचक के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की। उन्होंने बाल-हठ ठान लिया कि उनका गाँव निपनियाँ पास ही है, मैं अभी उन्हीं के गाँव चलूँ। वहाँ से खा-पी कर लौट आने तक भी शायद ही वह गाड़ी आ सकेगी।

मेरे तर्कों के पर कुतर कर उन्होंने स्नेहाग्नि को भेंट कर दिये। मेरी भारी भरकम पेटी को हाथ में लटका कर और होल्डआल को कन्धे पर लाद कर पूस-माघ की बेहद ठंढी और अँधेरी रात में वह आगे-आगे चले, मैं घिसटता-सा पीछे-पीछे चला। मेरी विकल व्यथा थकान-भरे स्वर में करुण कथा कहना चाहती थी जिसे वह दिनकरी हुङ्कार से टाल जाते थे। वह एक पहलवान-जैसे व्यक्तित्व के धनी थे, मेरे माथे पर बादल ही बादल थे, कभी कमजोर शरीर में बिजली नहीं कौंधी थी। 'पास' का ठीक अर्थ पैदल चलते पाँवों को, बार-बार 'फेल' होने पर समझ में आ गया था। मुझे सरल सहज स्वीकृति का प्रतिफल मिल रहा था या अनजानते में हुए किसी अपराध का वह प्रतिशोध ले रहे थे, कहना कठिन था। अनभूली स्मृतियों के दंशन का तो मुझे अब भी अनुभव हो रहा है। अवश्य तब उनकी अश्रान्त प्रसन्नता की डोर मुझे पतंग की तरह अँधेरे-अँधेरे उड़ाए लिए जा रही थी। कैसी उत्सुकता और कितनी अभिलाषाएँ उन्होंने घर पहुँचते-पहुँचते गाँव भर में भर दीं कि ढिबरी और लालटेन लेकर कितने ही स्त्री-पुरुष मुझे देखने इकट्ठे हो गए। मेरी तो आँखें भर-भर आईं। चेस्टर मेरा ओस से भीग गया था, जूतों में कंकड़ घुस आए थे, निश्छल स्नेह की तरलता ने हृदय को स्पन्दित कर दिया था, माथे में मूर्खता काँटे

चुभो रही थी—ये सब मुझे कोई प्रतिष्ठित नेता-वेता तो नहीं समझ रहे ! अस्फुट, अव्यक्त आलोड़ित होने लगा। इनके अन्तस् की पुलक को सहलाने वाले दो शब्दों की भी तो मैंने साधना नहीं की, क्या कह-कर इस अँधेरी रात को किरणों के आलोक की निस्सीम तृष्णा दूँ ? यही वह ठौर है जहाँ पहुँच कर कविता का रस सूख जाता है; कला का रंग फीका पड़ जाता है !

आधी रात की थर्राहट के साथ खाने का बुलावा आया। सोचा—गर्म-गर्म कचौरियाँ और भाप उठाती सब्जी इतनी-इतनी बार माँग-माँग कर खाऊँगा कि मुकुर जी और उनका पूरा परिवार वर्षों 'प्यारे हरीचन्द की कहानी' कहते-सुनते रहेंगे।

धमनी का जीवन-रस तब जम गया जब भोजन परोसा गया। भैंस का दही और माढ़ा। तब मेरे नयन-मन में क्या उमड़ा, किसी को जानने न दिया। मुकुरजी की पारदर्शिता पर अपना आकाश लुट गया; अपनी धरती भीतर से भीग-भीग उठी—बंकिम युग में ऐसा सरल मनुष्य ! ऐसा निश्छल, निर्मल हृदय ! कोई तामझाम नहीं, आतिथ्य की टीमटाम नहीं। जो घर में है, सादर सामने धर दिया।

किन्तु मेरे अन्तर से कुछ ऐसा उठ रहा था जैसा जलप्रपात के झाग से उठता है; जैसा घुटती साँसों जमुहाई लेने की कोशिश में उठता है। मैंने अनिमिष मुकुर-उर में झाँक कर लज्जा से अवगुण्ठित शिथिल स्वर में पूछा—

क्षमा कीजिएगा। यह माढ़ा क्या होता है ? कैसे खाया जाता है ? विश्वास कीजिए - यह मेरा प्रथम प्रयोग होगा।

हे ईश्वर ! यह घड़ी मेरी कठोर परीक्षा की है। मैं तो भरसक दिन में भी भैंस का दही नहीं खाता, यह तो जाड़े की ठिठुरी-सी आधी रात है। दूसरी ओर इस स्नेही परिवार की विपुल विभुता है जो मेरी क्षुद्रता झुठलाने हठ ठाने बैठी है !

लोक जैसे चारों ओर से घहराता हुआ सिन्धु है, मैं बिना पतवार की तरणि किनारे-किनारे खेता आया हूँ यहाँ तक। आज जाने ऐसा कौन सा पूर्ण पर्व है कि उछाल लेती तरङ्गें मेरी ही ओर बढ़ती चली आई हैं, प्रभु, यदि मैं सहृदयता का अभिनय भी कर रहा होऊँ तो भी

उसे असफल न होने देना ! कुछ ऐसा कर कि आवर्त और बुदबुद की शाब्दिक भयावहता हल्के-हल्के भँवर और बुलबुलों में बदल जाए और अर्थ-भरा मेरा स्वर सरल स्वीकृति के साथ संकोच से सधी साँसों के सन्नाटे में गुञ्जरित हो जाए !

भूने हुए माढ़े के दाने अबतक की अवस्था में बस, उसी रात मुसका-मुसका कर खाए और भैंस का दही भी उसी रात ऐसे निगला जैसे वह श्रीहर्ष को सरस्वती का बताया हुआ नुस्खा हो—प्रतिभा का अजीर्ण पचाने का अक्सीर नुस्खा।

कटकटाते दाँतों और लड़खड़ाते पाँवों स्टेशन लौटा। पूर्णियाँ की गाड़ी में बैठ गया, किसी को ढूँढ़ने की कोशिश न की। बिस्तर फैला-कर ओवरकोट पहने हुए ही सो गया। लाल इमली का कम्बल पाँव पलोटता रहा। सवेरे उठा तो सौ टेम्प्रेचर था। दर्जे के हिसाब से ठहराने का प्रबन्ध था। दिनकर-बच्चन की समकक्षता मैं करता ? मेस के पासवाले कमरे में ठहराया गया। चाय पी कर चुप सो गया। बड़े-बड़े कवि या स्वयं सुधांशु जी अतिरिक्त व्यस्तता के कारण मेरी खोज-खबर लेने नहीं आए। जाने किधर से एक अकेले द्विज जी ढूँढ़ते हुए आए और फिर कोई भी बहाना बनाकर मुझे तन्हा नहीं छोड़ा। गर्म पानी से दवादारू तक के प्रबन्ध में निराला की तरह जुटे रहे।

प्रेमचन्द के 'जागरण' में द्विज जी ने निराला का एक ऐसा अनदेखा रेखाचित्र प्रकाशित कराया था जो अत्यन्त आपत्तिजनक था। निराला के चरित्र का हनन करना ही उस शब्द-चित्र का उद्देश्य जान पड़ता था क्योंकि उसे पढ़ लेने पर कोई निराला की उदात्त काव्यसृष्टि की ओर आँख उठा कर देखना भी पसन्द न करता। निराला के अपार्थिव स्नेह से अभिषिक्त होने के कारण तब मैं उसे पढ़ कर व्यक्तिगत रूप से मर्माहत हुआ था।

आज वही द्विज जी अकेले मेरी देख-भाल करते थकते न थे। लोग उन्हें भोजन करने के लिए बुलाने आए, नहीं गए; यहीं मँगवा कर खा लिया। कवि-सम्मेलन से फिर बुलावा आया तो कहला दिया कि जानकीवल्लभ को साथ लेकर ही आऊँगा।

दिन भर के विश्राम के बाद सत्तानबे टेम्प्रेचर हो गया था।

उन्होंने टोस्ट और चाय मँगवाकर सूखे मुख पर मुसकान चिपकवा दी।

एक बार बेगूसराय के कवि-सम्मेलन में भी कोल्ड लग जाने से ऐसे ही अचानक मेरी तबीयत खराब हो गई थी। वहाँ महाकवि प्रभात ने आज के द्विज जी की भूमिका निभाई थी। यह और है कि वहाँ मैं काव्यपाठ न कर सका था। यहाँ द्विज जी के अविरत प्रोत्साहन से काव्यपाठ कुछ अच्छा ही हो गया।

'चन्द्रकिरण बन जाऊँ (आज मैं)' तिलक कामोद में;

'जैसे-तैसे दिन तो बीता, कैसे बीते रात।' विहाग में,

और—

'प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में, रूप तुम्हारा नयन-नयन में !'

शङ्करा में गाकर सुनाया था। दिनकर जी एक बार भीड़ की ओर देखते, दूसरी ओर मेरी मीड़ सुनते तो कुछ झुँझलाए-से दिखाई देते थे; किन्तु मञ्च से रामकुमार वर्मा जी और द्विज जी-जैसे महाकवियों की, तथा भीड़ के भिन्न-भिन्न कोनों से श्रोताओं की 'एक और, एक और' की माँग सन्नाटे में सुनने ही योग्य थी। सम्भवतः इससे भीड़ के बेकाबू हो जाने का दिनकर जी का भय निरस्त हो गया होगा। एक बार राँची (या टाटा) में बच्चन जी ने भी अपनी मधुशाला सुनाने के पहले वहाँ की जनता के प्रति आभार प्रकट किया था कि कैसे ऐसे उत्साह और शान्ति से उसने जानकीवल्लभ शास्त्री के शास्त्रीय गीत सुने !

अगले दिन मुझे राँची पहुँचना था। सुधांशु जी से कहीं अधिक आत्मीय राधाकृष्ण जी का अनुल्लङ्घ्य अनुरोध जो था ! दिनकर से नीचे उतरना राजनीतिज्ञ साहित्यिक सुधांशु जी के लिए कठिन था। इधर राधाकृष्ण थे कि अञ्चल, हंसकुमार तिवारी और मुझे अपने ही घर पर ठहराने और दिल खोलकर स्वागत करने की उत्कट आकाङ्क्षा लिए बाट जोह रहे थे।

पूर्णियाँ से राँची तक का लम्बा रास्ता कविवर रुद्र के गीतों से छोटा पड़ गया था। न रुद्र जी सुनाते हुए थकते थे और न मैं उबासी लेकर, निंदियारी आँखें मल कर, बाँहें उछालकर; अँगराइयाँ ले-लेकर सुननेवाला विवश श्रोता था। बड़े-बड़े स्टेशनों पर चाय-चक्र भर चलता था। अब मैं उमंग-तरङ्गों-भरा अकेला सुननेवाला नहीं रह

गया था, कम्पार्टमेण्ट में और-और काव्यप्रेमी भी रुद्र जी के मधु-गीत छककर मतवाले हुए बैठे थे।

नई पीढ़ी को व्यङ्ग्य मालूम देता, जब मैं 'बोल कहीं बोल, यहाँ तो न बोल, श्यामा !' राँची के मञ्च से 'देश' में सुनाने लगा, मञ्च पर मङ्गलाचरण के समय से ही बैठे हुए एक बुजुर्ग बंगाली सज्जन, उछल कर सामने आए और एकबारगी 'बेला' बजाने लगे। एक अत्यन्त आपत्तिजनक बात भी बोले कि कवि तो कितने ही गाते हैं, ऐसा सुर में गला कहाँ है किसी का ! तो उल्टे तालियों की गड़-गड़ाहट (व्यङ्ग-बौछार के बदले) ने जैसे उनकी मान्यता को सम्वर्द्धित ही किया।

राँची से हँसते-हँसते विदा हुआ। मुजफ्फरपुर पहुँचने पर बुखार पलट आया और चंद दिनों बाद कालाजार में तबदील हो गया। मैं नौ महीने बिस्तर पर पड़ा रहा।

शरीर के नाम पर हड्डियों का ढच्चर। बालों के गुच्छे सेमल की रुई के गाले हो गए। अपना रंग उड़ गया। देह न हुई, काजल-काली स्याही की पपड़ी आदमी के नक्श में जम गई। गला बेसुरा हो गया। कविता की तरह आँखें भी अन्तर्मुखी हो गईं।

जायसी याद आते थे—

"सोई जान जेहि दीन्हेसि नाहीं
जोबन-मरम जान पै बूढ़ा
मिला न तरुनापा जब ढूँढ़ा !
सुख कर मरम न जानइ राजा
दुखी जान, जा कहँ दुख बाजा
कया क मरम जान पै रोगी भोगी रहइ निचिंत
सब कर मरम गोसाईं जानइ जो घट-घट महँ निंत !"

कानाफूसी होने लगी थी भूत काल की क्रिया के साथ। बावला था कला के पीछे। कला किसकी हुई है ? रातों जागता था, कविता जगा कर रखे तो ! खाने-पीने का कोई सिलसिला नहीं। जब जो मिल गया। कवि-सम्मेलनों में एकदम बदला-बदला। चम्पारण में सम्मेलन समाप्त हुआ तो तीन बज रहे थे रात के। सबों के साथ खाने बैठा।

भात परोसा गया। सब ने दुबारा-तिबारा माँग कर खाया। मुझे जैसे काठ मार गया हो, बैठा का बैठा रहा। भूखा रह गया, रात में भात नहीं खाया।

यहाँ दरबार में कैसे-कैसे विद्वान आते थे। सब से टकराता था। किसी का शाप पड़ गया। फैशन में रहता था। चरित्रहीन होगा ही होगा। परले सिरे का घमंडी था। यहाँ किसका घमंड रहा है!

काला जार का तो बहाना ही बहाना है। असल में इसे टी० बी० रही होगी। भीतर-भीतर जल रहा था। अंगारे बुझ चुके हैं; कोयला ही बच रहा है।

अपना पराया कोई नहीं। अकेला रहता था। मुझे ऐसी कानाफूसी की भनक मिलती तो जरथुस्त्र का प्रोलॉग याद आता—

Thou great star! what would be thy happiness if thou had not those for whom thou shinest!

छप्पर का बाँस-फूस मेरी दृष्टि एकाग्र कर लेता था। जंगल से निकलकर छप्पर तक की ही लोकयात्रा हुई थी। भीतर का भराव ऊपर आना चाहता था। उफनने-उबलने योग्य तरलता, पर्याप्त तप के अभाव में, आ नहीं पाई थी। मेरा कहना कोरा दम्भ होता; रस्सी जल गई, ऐंठन न गई– की कहावत होती, नहीं तो बात होठों तक आती ही थी—

I am weary of my wisdom, like the bee that hath gathered too much honey; I need hands outstratched to take it.

पल भर में नयन-जल के साथ यह दम्भ-दुख भी बह जाता था। आज तक के व्यर्थ बीते जीवन में ऐसा प्रकाश-बिन्दु कहाँ पाया था जो मेरे निविड़ मोह-तम को भिगो दे? 'मरनो भलो विदेस को' कहता रहता था। मगर जीवन की अतल आकाङ्क्षा पर लटका यह कुहरे का पर्दा मेरे उष्ण उच्छ्वास से हिल-हिल नहीं उठता था? होठों पर फीकी-सी मुस्कान छिटका कर आँखें पोंछ लेने वाला कोई-सा भी तो अपना-पराया न था जो मेरे ऐसे श्रान्त तन, म्लान मन और कातर नयनों में आत्मा की बिखरी शक्तियों को सर्वोच्च ध्येय में खो जाने के मेरे सतत किन्तु निष्फल आयास की तलाश करता!

पिछले तेरह दिन चुपचाप राँची और पूर्णिया की पूरी की पूरी कमाई खा गए। डॉ० जे० एस० दत्त दावे के साथ कहते थे; खून में जर्म्स आएँ न आएँ, यह है कालाजार ही। दूसरे-दूसरे डॉक्टर पैथोलौजिकल टेस्ट पर बल देते थे। कई बार खून लिया गया, अँधेरे में लेटे हुए का; सोए हुए का, मगर जर्म्स हर बार चकमा दे गए। जब तक मेरे पास रुपए रहे, इलाज कराता रहा, बाबू साहब को कभी कानोंकान खबर न होने दी। वह स्वयं ही उन दिनों बीमार रह रहे थे। जब टाट उलट कर दिवालिया घोषित हो गया, एक दिन अचानक वह मुझे देखने आ गए। सीलन-भरी अँधेरी बन्द कोठरी और टूटी खाट देख कर क्षण भर कुछ सोचते रहे। फिर अपने आप बोले—यहाँ ठीक होना कठिन होगा। आप बँगले पर चले चलिए (जिसमें इन दिनों सेंट जेवियर्स स्कूल है) वहाँ एक कमरा साफ करवा देता हूँ। कल सवेरे आप का इलाज शुरू हो जायगा।

दु:साध्य बीमारी को लाख-लाख धन्यवाद कि वह एक बार दिन-दहाड़े इस अँधेरी कोठरी में कैलास को तो उठा ले आई!

तनिक छूते ही चिड़ियों की तरह चें-चें कर उठने वाले खिलौने को किस सुरङ्ग की तनहाई में फेंक दिया गया है!

यह छह फीट का शरीर इतना अधिक दुबला-पतला न होता तो पुरातन युग की ध्वंसावशेष-सी यह खाट उलट-पुलट कर न रख देती!

अभाव कितना सहता है;—अभी तक जो अज्ञात और दुर्बोध था, पानी-सा साफ हो गया। शून्य आकाश उनकी आँखों की चमक से भर गया।

ऐसा ही हुआ। पूरे तामझाम से मेरा इलाज होने लगा। अच्छा हो-होकर रिलैप्स कर जाता था। नौ महीनों तक यही सिलसिला चला। प्रमत्त प्रभञ्जन झकझोरता रहा। नाव तटिनी-तट पर अटकी रही। धार लहराती-घहराती, वह वहीं की वहीं उछल कर रह जाती।

धनाढ्यों की हृदय-हीनता की कितनी ही कहानियाँ सुनी थीं। यहाँ जो करुणा-कादम्बिनी बरस रही थी, उसकी शीतलता और मधुरता अपरिमेय थी।

अभी कुछ ही दिनों से मैं विमला जायसवाल (यहाँ के डिस्ट्रिक्ट

इंजीनियर की लड़की और इतिहास के विश्वविख्यात विद्वान के० पी० जायसवाल की सगी भतीजी) को (जो इन दिनों एम० डी० डी० एम० कॉलेज में मनोविज्ञान विभाग की अध्यक्ष है) पढ़ाने लगा था। संकोच-वश स्वयं तो वह शायद ही कभी देखने आई, परन्तु अपने व्यस्त पिता को प्रतिदिन भेजने लगी। उसका एक नौकर कभी सेव-सन्तरे लिए, कभी अंजीर-अनन्नास का झोला लटकाए, लगातार आता रहा। उसी के हाथ जब-तब पूज्य भैया को सम्बोधित पत्र भी होता था; रुपए-पैसे भी। ब्लेक होल से बाहर निकलकर बंगले में आते ही जाने कैसे सबको खबर हो गई ! एक दिन विमला के एक पत्र ने सबेरे-सबेरे मुझे खूब रुलाया। लिख भेजा था कि उसने प्लैंचेट पर स्वामी विवेकानन्द और टैगोर से बातें की हैं (उसे प्लैचेटिंग का बेहद भरोसा था, स्वयं ही माध्यम हुआ करती थी), दोनों ने उसे आश्वस्त किया है कि मुझे कुछ न होगा। प्रातःकाल के बादल हैं, जल्दी ही छँट जाएँगे। मैं अपना मनोबल कम न होने दूँ !

हे ईश्वर ! मेरे जीने-मरने से आयुष्मती विमला का क्या ? वह क्या वाकई किसी जनम की बहन है मेरी ? टैगोर ने हामी भर दी—

'कत अजानारे जानाइले तुमि
कत धरे दिले ठाइँ
दूर के करिले निकट बन्धु,
पर के करिले भाइ !'

× × ×

जबसे खबर उड़ी है कि सच बोलते हैं हम
पत्थर बरस रहे हैं हमारे मकान पर !

नाउम्मीदियों ने सर्द कर दिया होता अगर हौसले हद से गुजर गये होते।

आवाज न भर्राई; न थरथराई। जब एक्सरे का आईना दिखाया गया, पलकें नम थीं। कभी बेनकाब असलियत का सामना करना होगा, खबर न थी। जिन्दगी भर गुजरे दिनों की आजाद तसवीरें बनाता रहा था, आने वाले कल की कभी फिकर न की थी। चेहरे की शिकन पर हवाइयां उड़ रही थीं। दिमाग गर्द से अटा था। ले-देकर एक ही जुमला

जबान पर चढ़ा आता--हे ईश्वर सहमो मत, झिझको मत, एक-एक कर अपने सारे अरमान निकाल लो, जिन्दगी हाजिर है !

एक-सवा साल से एक सिलसिला चलता चल रहा था - दरवाजे पर आने-जाने वालों से मिलना और बचे-खुचे समय में कुछ लिखना-पढ़ना। बदन पर उड़ती धूल, चेहरे से टपकता पसीना। गैरत को गवारा नहीं कि धूल-पसीने का खेल छोड़ कोई आराम का धन्धा चालू कर दूँ। आँसू जो निशान छोड़ गए हैं, पसीना उन्हें मुतलक नहीं मेट पाता।

फिर ऐसा क्या हुआ कि सर पर आसमान फट पड़ा। कूल्हे में जो प्लेट फिट किया गया था, वह साल भर में ही कैसे तड़क गया ! उसकी उमर तो पच्चीस साल बताई थी सर्जनों ने। अब इस अँधियारे में रोशनी कौन जलाए ?

गम की राहों में कोई भी तो मेरे साथ नहीं
शहर में वर्ना मेरी किससे मुलाकात नहीं !

बराम्दे के निचले पाये से लग कर पिछले दो साल के हालात पर एक सरसरी नजर डाल रहा था—पहले छाया की बाँह टूटी, फिर गौशाला की एक पूरी दीवार उनके बदन पर गिर पड़ी। उसके बाद मुझे टाइफाइड हुआ, फिर बछड़े के मारने से कूल्हा टूटा और लो, अब ताम-झाम से लगाया गया वह प्लेट भी टूट गया। शक-शुब्हे की कतई गुंजाइश न रही। यह लफड़ा है, खुदाई लफड़ा। कैसी हँसी आती है इस पीड़ित आनन्द पर !

खबर उड़ती-उड़ती अखबारों तक पहुँच गई। मैं ही बेखबर रहा। पिछले पूरे-अधूरे जीवन में बस एक ही बार जीवन-मरण के झूले झूला था मेरा मन, जब कालाजार हुआ था। कालाजार के वक्त बाबू साहब आगे आ गए थे। और इस हड्डी-टूटन-लीला में, पिछले दौर के इलाज के दरम्यान, कामरेड रामदेव शर्मा। इस दफा यहाँ सर्द सन्नाटा छाया हुआ है। मिल्टन सर पर सवार है—

But hail, thou Goddess, sage and holy,
Hail, divinest melancholy,
Where saintly visage is too bright
To hit the sence of human sight.

मनोज बाबू फैमिली फिजीसियन थे बाबू साहब के। यूरिया का इन्जेक्शन देने वक्त उन्होंने लापरवाही की। मैं बेहोश होने लगा तो कड़क कर कुछ कहा। बाबू साहब ने सुन लिया। उसी घड़ी उनकी छुट्टी कर दी। उस जमाने में अठन्नी से रुपये तक फीस थी, सुई लगाने की। बाबू साहब ने हॉस्पिटल के एसिस्टेंट सर्जन से दस-दस रुपये फीस देकर मेरी बाकी की सारी सुइयाँ लगवाईं।

उसी बीच संस्कृत कॉलेज के साहित्य-विभाग में एक जगह खाली हुई। उन्होंने खुद दरख्वास्त टाइप की। गवर्निंग् बॉडी के मेम्बरों से मशविरे किए। मीटिंग में बिहार के बाहर, कलकत्ता के महामहोपाध्याय पण्डित हरिदास सिद्धान्त वागीश को एक्सपर्ट बहाल करने की ठहरी जिससे मुँहदेखी न हो; जात-पात या भाई-भतीजावाद की दाल न गले!

मेरा इलाज तूफानी दौर से चल रहा था। तरह-तरह के टॉनिक दूध, फल—सब एक साथ। मैं पलंग से उतर कर जमीन पर खड़ा होने लगा तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। उनका दिया हुआ महामहोपाध्याय गणनाथ सेन सरस्वती का बनाया 'महाराज मकरध्वज' बेहद कारगर रहा।

इण्टरव्यू की तारीख ज्यों-ज्यों करीब आने लगी, मेरी सेहत लौटने लगी। मैं कुछ कदम बगैर हाँफे चलने लगा था। माँ से दिल-ही-दिल कहता रहता था, जिस लिए तूने मुझे दूध के साथ दो अक्षर पिलाए थे, लो, अब यह उन्हीं की परख की घड़ी चली आ रही है···!

मैं जब रायगढ़ में राजकवि था, द्विवेदीयुग के सुप्रसिद्ध लेखक पण्डित बनमाली शुक्ल ने मेरी हस्तरेखाएँ देखकर कहा था कि मैं यहाँ अधिक दिन न टिक सकूँगा, मेरी वृत्ति अध्यापकी होगी।

इन दिनों उनका कहा फिर-फिर याद आने लगा था। आखिरकार साक्षात्कार की तिथि घोषित हो गई। बाबू साहब अपनी कार में मुझे दर्शनीय बनाकर ले चले। दुर्बलता सीमा पार कर चुकी थी। कितनी ही दुआओं, मन्नतों के बाद बाँस की खपचियों का यह पिंजड़ा डोल रहा था। जी० बी० बी० कॉलेज के प्रिंसिपल डा० एच्० चाँद (हरिचन्द्र शास्त्री) के प्राचार्य्यीय विशाल कक्ष में (गवर्निग् बॉडी के चौदह मेम्बरों की मौजूदगी में) इण्टरव्यू आयोजित था। इधर प्रार्थियों

का जमघट भी काबिले दीद था। मैंने बाबू साहब को बारहा समझाया—अभी मेरे मुँह से सही-सही बोली भी नहीं निकलती। मैं कैसे शास्त्रीय विषयों पर प्रश्नोत्तरी में संजीदगी से भाग ले सकूँगा ? पर वह न माने। मेरी एक न सुनी। और साढ़े तीन घंटे की ऊबाऊ प्रतीक्षा के बाद, सब के अन्त में, मेरा नाम पुकारा गया। सारी बौखलाहट, झल्लाहट पी-पचाकर जब वहाँ पहुँचा, पलभर को रुककर सबने मुझे नमस्कार की मुद्रा में देखा। अब तक जितने भी प्रार्थी आए थे, पूरे पण्डिताऊ वेष में थे—चन्दन, चोटी, पाग, पाण्डित्य। इधर मेरा हुलिया बन रहा था हुदहुद पंछी का—माथे पर छह इञ्च लम्बे घुँघराले बाल, चार्ली में बसा घुटनों तक लम्बा रेशमी कुर्त्ता, पचास इञ्च चौड़ी काले चौड़े पाड़ की चुन्नटदार धोती, हाथ में शास्त्राचार्य के लिए लिखी हुई थीसिस—प्राच्य साहित्यम्, अपनी छपी हुई पुस्तकें, और पाँवों में अभी कल की ही खरीदी कीमती कानपुरी चप्पल। बाबू साहब की मेहरबानी का क्या कहूँ, वर्ना मैं तो अभी छह महीने और बिस्तर से न उतरता। सबकी निगाहें जैसे एक साथ पूछ रही थीं—यह कौन हुआ भला !

महामहोपाध्याय महाकवि श्री हरिदास सिद्धान्त वागीश की काव्य-नाटकों पर लिखी हुई टीकाओं से मैं छात्र जीवन में लाभान्वित हुआ था। श्रद्धालु था, जब भी 'भवभूति' के 'मालतीमाधवम्' की नान्दी के पहले ही श्लोक का जो उन्होंने अर्थ लिखा है, उससे मुझे आपत्ति थी—

> **सानन्दं नन्दिहस्ताहतमुरजरवा—हूतकौमारबर्हि-**
> **त्रासान्नासाग्ररन्ध्रं विशति फणिपतौ भोगसङ्कोचभाजि**
> **गण्डोड्डीनालिमाला मुखरितककुभस्ताण्डवे शूलपाणे—**
> **र्वैनायक्यश्चिरं वो वदनविधुतयः पान्तु चीत्कारवत्यः।**

मेरी अकिञ्चन-सी साहित्यिक उपलब्धि इसका अर्थ यूँ समझती है कि एक दिन नटराज अपनी उमंग-तरङ्ग में अकाण्ड ताण्डव करने लगे। आनन्द-विभोर होकर नन्दी ने मृदङ्ग पर थाप मारी। मृदङ्ग का निनाद मेघ-मन्द्र-सा गूँजा तो कार्तिकेय का वाहन मोर नाचता-नाचता खिंचा चला आया। फिर क्या ? मोर को देखकर शङ्कर के गले में फन

फैलाए शेषनाग जल्दी-जल्दी अपना वदन सिकोड़ कर घबराहट में सामने खड़े गणेश के सूँड़ में समा गए। इधर अचकचाकर गणेश ने जो माथा फटकारा तो उस पर मद-जल के लोभ में इकट्ठे हुए भौंरों में खलबली मच गई। वह सब उड़-उड़कर चहुँ ओर मंडलाने लगे; उनका मञ्जु गुञ्जन पूरे परिवेश पर छा गया। किसी की नाक में एक तिनका घुस जाए तो मारे खुजली और सुरसुराहट के नाक में दम होने की नौबत आ जाए। यहाँ तो जीता-जागता साँप छिपा बैठा था। सो गणेश ताबड़तोड़ चिग्घाड़ने और माथा धुनने लगे। उनकी यह ऐसी चिग्घाड़ और सूँड़ की फटकार तुम्हारा कल्याण करे।

महामहोपाध्याय जी के अनुसार शेषनाग शिव की ही नाक में घुस गए।

मैं पूछता हूँ, शिव की मानवीय आकृति में ऐसी लम्बी नाक कहाँ से चिपक गई कि उसके छिद्र में साँप समा सके?

गणेश की नाक ऐसी है। हाथी का माथा, हाथी का सूँड़। उसमें साँप समा सकता है।

फिर शिव की नाक में साँप घुसा तो गणेश क्यों माथा हिलाने, कान फटकारने और चिग्घाड़ने लगे!

महामहोपाध्याय जी का कहना है कि वह नृत्य की लय में, हर ताल पर ताली देने की मुद्रा में ऐसी चेष्टा कर रहे हैं। सांगीतिक वातावरण बनाने के लिए ही भौंरे उड़ा दिए थे।

मेरे उष्ण प्राणों में ये सारे तर्क नहीं जमते। पिघल कर ढलकने लगते हैं। मुझे अपने ही अर्थ पर आस्था है।

आस्था ही है, दुराग्रह नहीं। सहृदयों का हृदय जिसे स्वीकारे, वही ठीक है। इसके अतिरिक्त यदि मेरा दृष्टि-दोष ही महामहोपाध्याय से असहमति का अपराधी है तो इससे उनकी महत्ता को आँच आनेवाली नहीं है। यहाँ क्षेमेन्द्र याद आते हैं—

नदीवृन्दोद्दाम प्रसरसलिलापूरिततनुः
स्फुरत्स्फीत ज्वालानिविडवडवाग्नि क्षतजलः
न दर्पं नो दैन्यं स्पृशति बहुसत्त्वः पतिरपा
मवस्थानां भेदाद्भवति विकृतिर्नैव महताम्।

वाकई जो बड़े हैं, उनके मन पर परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ता। न तो वे बढ़त होने से उच्छृङ्खल होते हैं, और न कड़की में मुँहदुब्बर।

कहाँ-कहाँ से नदियाँ बहती-बहती आती हैं, समुद्र में अपना अस्तित्व खोने; किन्तु समुद्र इसका न तो घमंड करता है और न अपनी ही आग से जल के जल जाने पर वह जरा भी गमगीन होता है।

मैंने तब यहाँ तक सोच डाला था कि होंगे न्याय या व्याकरण के अगड़धत्त विद्वान्, भवभूति की बारीकी फिर भी नहीं उतरी इनके हलक के नीचे।

बाड़ 'अहं' की मेरी एक बार तो बुरी तरह झकझोर दी गई थी जब उनका हृदयोगार मुझसे बातें करते समय वन-उपवन पार कर आई आर्द्र सौरभलदी समीर के समान प्रवहमान भी था, लिपिबद्ध भी।*

[आज श्री जानकीवल्लभ शास्त्री से बातचीत करते समय बहुत आनन्द आया। उनकी वाणी की निपुणता चमत्कृत करनेवाली है; विविध शास्त्रों के सिद्धान्तों को विशद रूप में प्रकाशित करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त है उन्हें। उनके सुन्दर-सुललित शब्दों की मिठास से मन महमह कर उठता है। स्वभाव में ऐसी सहजता और सरलता जो सबके सामने एक-सी खुलती है, अद्भुत है। नई उमर में भी उनके ज्ञान की गम्भीरता और पद-पद पर प्रकट होने वाले गुणों की गरिमा लक्ष्य करने योग्य है]

---

*अद्य किल श्रीमता जानकीवल्लभशास्त्रिणा समं समालपन् नितरामानन्द सन्दोहं समधिगतोऽस्मि। यस्य हि चमत्कारिणी रचनाचातुरी, विविध-शास्त्रेषु नितान्तमेव सिद्धान्त प्रकटन पाटवं, ललित-पदावली-माधुर्य्य-प्राचुर्य्यं, सर्वसुलभं स्वभाव-सौन्दर्य्यं, नवयौवनेऽपि समीचीन प्राचीन गाम्भीर्य्यं, नानागुणगरिमा च पदे पदे परिस्फुरति।

सोऽयमायुष्मान् सुदीर्घजीवीभवन् सर्व्वविधामुन्नतिमासादयतु भगवदनुग्रहादिति।

—महामहोपाध्याय, महाकवि, भारताचार्य
श्री हरिदास सिद्धान्त बागीश शर्म्मणः
१९६५ शकाब्दीय सौर चैत्रस्य एकादश दिवसीया लिपिरियम्।

शास्त्री और आचार्य्य में पढ़ाए जाने वाले अनेक काव्य-नाटकों के प्रसिद्ध टीकाकार की वह चूक जिस अट्ठारह साल के छात्र के चञ्चल चित्त पर अचूक प्रभाव छोड़ गई थी—'अहोभाग्य मैं देखब सोई।' आज अभी वही (मैं) उन्हीं के रू-ब-रू था।

उन्होंने मुझसे संस्कृत में माघ के एक श्लोक—

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम्।

की व्याख्या करने को कहा। यथासम्भव स्तरीय संस्कृत में मैंने धारा-प्रवाह व्याख्या कर दी। अलग से उन्होंने अलंकार की जिज्ञासा की। मैंने बता दिया—निदर्शना अलंकार है:

'सम्भवन् वस्तु सम्बन्धोऽसम्भवन्वाऽपि कुत्रचित्
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना'

परिभाषा के अनुसार। क्रोधी शत्रु से वैर ठानकर जो चुपचाप बैठ जाता है वह अपनी बगल में आग धधका कर हवा के रुख पर सोता होता है।

यहाँ एक के चुपचाप बैठे होने और दूसरे के सोए पड़े रहने में ऐसा कोई खुला-सा सरोकार नहीं दिखाई देता; किन्तु बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। ये दोनों बातें एक-सी ही हैं—इस अभिप्राय की झलक मिल जाती है। मन को खट्टा करने में दोनों एक-जैसी पुरजोर हैं। असम्भव वस्तु से सम्बन्ध स्थापित करने पर वाक्य का अर्थ पूरा उतरता है। अन्तः साम्य व्यञ्जित जो है!

महामहोपाध्याय जी ने पूछा—

'इसमें दृष्टान्त अलङ्कार क्यों नहीं है?

छुटते ही मैंने आचार्य्य रुय्यक के 'अलङ्कार-सर्वस्वम्' का हवाला दिया। दृष्टान्त में सादृश्य-मूलक दो स्वतन्त्र वाक्य होने चाहिए। जैसे नैषधीयचरितम् के—

त्वयि वीर विराजते परं
दमयन्त्याः किलकिञ्चितं किल
तरुणी-स्तन एव दीप्यते
मणिहारावलिरामणीयकम्

हंस नल से कहता है कि जैसे युवती के पुष्ट वक्षःस्थल पर मोतियों की झूलती हुई लड़ियाँ खूब-खूब फबती हैं, ऐसे ही दमयन्ती के सारे हाव-भावों की फबन सिर्फ तुम्हीं पर हो सकती है। अन्यत्र ऐसा बेजोड़ जोड़ मिलना मुश्किल है।

यहाँ दो पृथक् और स्वतन्त्र वाक्य 'दृष्टान्त' की सृष्टि कर पाए हैं।

महामहोपाध्याय :

दो वाक्य तो माघ वाले श्लोक में भी हैं।

मैंने कहा—हैं अवश्य, किन्तु वे स्वतन्त्र नहीं हैं। दोनों वाक्यों का कर्त्ता एक ही है। जो वैर ठानकर चुप्पी साध लेता है, वह अपने पास सुलगती आग को ही हवा देता है। यहाँ दोनों वाक्यों का एक ही कर्त्ता दृष्टान्त होने के आड़े आ जाता है।

माघ का ही है—

तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम्
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः

यहाँ तो शब्द से दृष्टान्त उल्लिखित है, फिर भी इसमें दृष्टान्त अलङ्कार नहीं है।

पकड़ मेरी ढीली न थी। धीमे-धीमे प्रभाव में लाने की नीयत मेरी मन-ही-मन पक रही थी। मेरे बोलने के अन्दाज पर रीझ-रीझ उठने वाली उनकी भङ्गिमाएँ हौसले को बल्लियों उछाल रही थीं और मैं कहे जा रहा था—

जैसे कोई यूँ ही-यूँ ही-सी बात पर बोल उठे—मुझे रस मिल रहा है या मैं रस ले रहा हूँ। तो सामग्री के अभाव में, जैसे ऐसे वाक्यों में रस का अस्तित्व ढूँढ़ना व्यर्थ है—खुद-ब-खुद घड़ी-घड़ी रस का नाम लेने पर भी। उसी प्रकार दृष्टान्त का नाम लेने पर भी इसमें दृष्टान्त अलङ्कार नहीं है। कवि कहता है—

'तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम्।'

महत्त्वाकाङ्क्षी राजाओं का प्रताप या प्रभाव आसमान की बुलन्दियाँ ही क्यों न चूम रहा हो, मगर वे उतने भर से सन्तुष्ट होकर चुप बैठने वाले नहीं होते। उनकी तुलना केवल समुद्र से की जा सकती

है जो जबतक एक-एक कला जोड़-जोड़ कर चाँद पूरा नहीं हो जाता, तबतक भरपूर खुशी की उछाल लेता ही नहीं है। अथवा, हर तरह भरापुरा रहने पर भी समुद्र बढ़ोतरी के लिए रुकना-थमना नहीं जानता। चाहता है कि चन्द्रोदय हो और वह बँधे किनारे छाप कर छलके।

'पूर्ण चन्द्रोदयाकाङ्क्षी' पाठ रहने पर पहला और 'पूर्णश्चन्द्रोदया-काङ्क्षी' पाठ हो तो दूसरा अर्थ होगा। दोनों पाठ देखने में आते हैं।

दृष्टान्त का भी यहाँ एक विशिष्ट अर्थ है (दृष्टः अन्तः=निश्चयः यस्मिन् सः) समुद्र का दृढ़ निश्चय है—बढ़ना, और-और बढ़ना···। दृष्टान्त=निदर्शन, खुले शब्दों में उपमान। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव नहीं। इस सम्बन्ध में यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है—

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलाङ्गना।

(ब्राह्मण यदि यथालाभ में सन्तुष्ट न रहे तो उसे नष्ट ही समझना चाहिए। ब्राह्मण और लोभी—यह उसके ब्राह्मणत्व से च्युत होने का ही लक्षण है। ऐसे ही यदि राजा सन्तुष्ट रहे; जितना ऐश्वर्य-वैभव उसके पास है, उसी उतने से, तो वह कभी महाराजा या चक्रवर्ती सम्राट् नहीं हो सकता। सन्तोष उसका गुण नहीं, दोष है। सन्तुष्ट राजा को नष्ट ही समझना उचित होगा।

वेश्या यदि लाजवन्ती हो जाए, सैकड़ों घर घालने से, चञ्चल चित्त-वाले पुरुषों का सर्वनाश करने से चूक जाए तो उसे निकम्मी-निठल्ली या नष्ट-भ्रष्ट समझना चाहिए। इसके उल्टे यदि कुलीन स्त्री लाज गँवाकर बनी-ठनी यहाँ-वहाँ मटकती फिरे तो, फिर उसे नष्ट न समझ कर और क्या समझा जाए ?)

यों निदर्शना और दृष्टान्त के लक्ष्य-लक्षणों में ऐसी विषम समता है कि आचार्य्यों की दुहाई दिए बिना काम ही नहीं चलता। एक-एक अक्षर फूँक कर बुद्धि रेंगे, तब भी नहीं।

कुवलयानन्द में अप्पय्य दीक्षित ने कालिदास को उद्धृत किया है और स्थापित किया है कि जहाँ उपमान और उपमेय वाले वाक्यों के भिन्न-भिन्न धर्म बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से निर्दिष्ट हों वहाँ दृष्टान्त

अलङ्कार होता है।

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये
राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्
नक्षत्र तारा ग्रह सङ्कुलाऽपि
ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः।

[होने को तो ठौर-ठौर राजे-महाराजे हैं, किन्तु पृथ्वी-पति एक अकेले यही हैं। सताईस नक्षत्रों, नव ग्रहों और ढेर सारे तारों से अटी पड़ी रात जगर-मगर होती है तो महज एक चाँद के होने से ही]

यहाँ पृथ्वी के राजन्वतो और रात्रि के ज्योतिष्मती होने में सुस्पष्ट बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

महामहोपाध्याय जी ने परम प्रसन्न होकर सबसे अधिक नम्बर मुझे दिए। अभिवादन की मुद्रा में मैं सिर झुकाए उठ खड़ा हुआ कि डा० एच्० चाँद (हरिचन्द्र शास्त्री) ने, जो गवनिंग् बॉडी के चेयरमैन थे, मुझे अपनी तरफ मुखातिब कर लिया। डरी निगाहों देखा, वह मेरी थीसिस उलट-पुलट रहे थे। मुखालिफत के-से अन्दाज में पूछा :

'अंग्रेजी भी पढ़ी है ?'

'जी, थोड़ी-सी ;'

'यानी ?'

इण्टरमोडियट तक। मैं बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी का प्रोडक्ट हूँ। वहाँ इण्टरमीडियट में भी (प्रोज-सेलेक्शन और गोल्डेन ट्रेजरी (रोमैंटिक पोयट्स) के अलावा शेक्सपियर के दो (ट्रेजडी, कामेडी) नाटक (जूलियस सिजर और मर्चेण्ट ऑफ वेनिस), रस्किन का सिसेम एण्ड लिलिज, टेनिसन का खंड काव्य लैंसलाट एण्ड इलेन, वन एक्ट प्लेज का सेलेक्शन) साहित्य को विविध विधाओं से बाकायदा परिचित कराया जाता था।

फिर मुझे पढ़ने का अवसर न मिला। नौकरी के जुए में जुत गया। अलबत्ता स्वाध्याय का सिलसिला जारी रहा।

'अरे हाँ, आप तो कवि भी हैं। अच्छा यह बताइए, पोयट्री का सबसे अच्छा डेफिनिशन किसका लगा आपको ?'

'किसी का नहीं ?'—मैंने कहा।

\+ + + +

दिल और दिमाग को मटरगश्ती की सूझ रही है। जो दिन नहीं बहुर सकते; जिनसे मेरी बहुत बनती थी, मगर जो झाड़-झंखाड़ के बीच मुझे तनहा खड़ाकर अब धीमे-धीमे आगे निकल गए, गङ्गा के किनारे उनकी धधकती चिता में अपने हाथों अगर-चन्दन डाल कर उन्हीं के संग-संग अपने कुछ तेज-तर्रार सपने न जला लिए होते, गीता और कठोपनिषद की सस्वर टेर लपटों के साथ ऊपर उठती जाती उनकी निष्कलुष आत्मा को न सुना दी होती तो भी कभी सन्देह हो सकता था कि········! संकट की घड़ियों में उन्हीं की याद क्यों आती है ?

आज के दिन वह होते तो क्या ऐसे ही मुझे अपने हाल पर छोड़ देते !

श्रम और दौड़धूप माथा कर रहा था। पाँव बाँधे लेटा-लेटा मैं सङ्कटमोचन को सुमिर भर लेता था। जिन्होंने कुछ ऐसे गुर सिद्ध किए हैं कि मनचाहे ढंग से मनमाने शब्दों के घोड़े दौड़ा सकते हैं, उन्होंने मुझे कुछ ऐसी फुलबगिया की सैर भी कराई, जहाँ मक्खियाँ ही मक्खियाँ भिनभिना रही थीं; जहाँ सड़ायंध खाकर ही फूल खिल-खिलाते, महकते थे। कुछ ऐसे लोग भी आगे आए जो कुछ जुमलों की खींच-तान कर मुझ-जैसों को ठिकाने लगाने में माहिर हैं।

दो हफ्ते सोच-विचार में निकल गए। एक-एक कर नगर के सभी सर्जनों से सलाह ली। डाक्टर धीरेन्द्र कुमार ने जो कहा, सबने एक स्वर से वही-वही तर्क दुहरा दिए कि ज्यों-त्यों टूटी रॉड का उपरला हिस्सा निकाल दिया जा सकता है, निचला अछूता छोड़ दिया जायगा। कमर के पास से सिकुड़कर पाँव और छोटा हो जायगा और बैसाखी के सहारे ही तुड़-मुड़कर चार-कदम चलना सम्भव हो सकेगा !

काफी खींचतान और आपाधापी के बीच मैंने आत्म-निरीक्षण कर दृढ़ निर्णय ले लिया कि मुझे आयुर्विज्ञान संस्थान, दिल्ली जाना होगा।

सन्दिग्ध आचरण वाले लोग मुझे अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा का साधन बनाना चाह रहे थे, उन्हें चित्त से उतार दिया।

"इन्हीं पत्थरों पे चलकर गर आ सको तो आओ,
मेरे घर के रास्ते में कोई कहकशां नहीं है !"

इस पारस्परिकता के जुझारू युग में भी मैं यह विश्वास पालता हूँ कि मुझे किसी से दुराव नहीं है। कोई भी थका-हारा कितने भी धीमे से मेरे विरुद्ध कानाफूसी नहीं करता। कोई भी मस्त मौला तेज हवाओं में अपनी नाराज आवाजें नहीं मिलाता। मैं बातूनी किस्म का आदमी हूँ न, गपशप करता हूँ। बातों के आगे की बात समझ में नहीं आती। बेरहम हँसी-मजाक का भी शानदार स्वागत ही करता रहा हूँ। बस, अपनी ही छाया में छिपकर अनाप-शनाप दिवा-स्वप्न देखता आया हूँ।

मगर इस बार बतियाने वाले ने खामोशी की राह पसन्द की। न किसी की हँसी उड़ाई, न काहे का भी रोना रोया। एकबारगी तकदीर की आजमाइश करने दिल्ली रवाना हो गया।

क्यों कहीं हमने तकलीफें ?
दोस्त किस्सों में ढालते होंगे !

मेरे मन की मूढ़ता का क्या कहना। वाकई क्यों उसे पक्का यकीन था कि जिस शहर में वह घुटा, आत्मदाह किया, अजब नहीं कि उसका कोई-न-कोई आगे आ जाए : 'इलाज होगा आपका !' जरूर किसी ऐसे से उसकी मुलाकात होगी जो इस जोखिम के काम में हाथ बटाने हेतु बढ़कर कहेगा : 'हम एक चांस लेंगे ही लेंगे, आप बेफिक्र रहें।' मैंने मगर इस नगर की ऊँघती हुई चेतना को अपनी निःशब्द साधना से जगाया कहाँ है ? मेरी बाँसुरी की बेसुरी टेर से किसी अँधेरी रात में चाँदनी कहाँ छिटकी है ? भ्रम पाला है कानाफूसी में बेपर की उड़ाई का—

हवा ने सब्ज पत्ते तक नहीं छोड़े दरख्तों पर।
दुआएँ माँगते हैं लोग क्यों मौसम बदलने को ?

+ + + +

दिमाग बर्फीला हो गया है। बर्फ रंगीन हो रही है। आँसू की तरह न पिघल कर रंगारंग छवियों में ढलती है, न पत्थर की तरह जमकर

साफ-साफ चमकती ही है। गुस्सा आता है। ख्वाबों में गुर्राता हूँ : ऐसी भी क्या बात ! अनाप-शनाप आकाङ्क्षाएँ क्यों तिलस्म तोड़ती रहती हैं? इन्सानियत की धरती पर अब निराला से बड़ा कौन होगा? उन्हें कहाँ इलाहाबाद घेरकर खड़ा हो गया था? शहर के चार समझदार जब-तब आते-जाते भर थे। मैंने कभी अचानक पहुँच कर केवल शिवगोपाल-जयगोपाल को ही उनकी सेवा में जुटा देखा था। फिर मेरी क्या बिसात? तप-तरु अब फल से अपनी पहचान न बनाए तो अच्छा, Do not always judge the tree by its fruit. It takes time for the fruit to appear.

भवभूति की भाषा में—भवितव्यता सर्वोपरि है। वह सब कि जिसका खम ठोंककर सामना करना ही अपना प्रारब्ध है—

प्राय: शुभञ्च विदधात्यशुभञ्च जन्तो:
सर्वङ्कषा भगवती भवितव्यतैव ।

आयुर्विज्ञान संस्थान में अपने बेड पर पड़ा-पड़ा सोचता रहता : बदमिजाजी मेरी हद से गुजरने लगी है। हर पग एक थुलथुल सहारे की खोज आँखें करने लगी हैं। इतमीनान से पिटना न आया तो भिंचे होठों बुदबुदाने की आदत होती जा रही है। सभ्यता छिपाती है मेरा खुरदुरा जंगलीपन। जीभ तालू ले सटा कर हकलाता हूँ। चीत्कार अनसुनी रह गई तो बौखलाहट बढ़ गई। हुमकते हौसले, उचटता जी,—क्या कयामत है! सड़क सपाट देख थके कुली ने जैसे आजू-बाजू के गढ़े तारकोल से भर दिए। मुंशी कन्धे उचकाता, नाक-भौं सिकोड़ता रह गया।

अरे ओ हमदम! चट्टान फट रही है। लावे फूट निकलने को हैं। गर्दन झाड़कर इस उस तरफ भाग सकते हो तो भाग जाओ। मेरी पीठ मत थपको, मुझे सुबकने दो। मैं अब भाग जो नहीं सकता। मेरा पाँव ट्रैक्शन पर है। मैं Orthopaedic Surgeon की देखरेख में कई दिनों से चित्त लेटा हुआ हूँ। करवट बदलने की भी इजाजत नहीं है। फूलों की हल्की-फुल्की छुअन भी फैली पसलियों को सिकोड़ कर जकड़ लेती है। खुरदुरे पंजे तो घुटने के नीचे तकिया रखते वक्त भी गुर्रा कर नसें झिंझोड़ देते हैं। उधर देखो, उधर तुम भी निकल भागने वालों की

लम्बी कतार में खो जाओ। मुझे तनहा छोड़ दो। मैं अपने भीतर के सन्नाटे में उगे अश्वत्थ की छाँह में लेटा पड़ा रहूँगा, फिर एक पल को पलकें झपकेंगी और···और···।

× × ×

O Joy ! that in our embers
Is somthing that doth live
That nature yet remembers
What was so fugitive !

—**Wordsworth**

× × ×

'किसी का नहीं ?''—यह क्या कहते हैं आप !

'मैं ऊटपटांग कुछ नहीं कह रहा। आप स्वयं सोच देखें—किसी एक की परिभाषा दूसरे को रुचती तो इतनी-इतनी परिभाषाएँ बनतीं ही क्योंकर ?

प्राय: सभी कवियों ने किसी न किसी रूप में काव्य को परिभाषित किया है; किन्तु आचार्य्यों का दल उससे सन्तुष्ट नहीं है, वह अपने ही ढंग से एक नई परिभाषा को जन्म देकर कृतार्थता का अनुभव करता है।

विदेशी कोषकारों, कवियों और समीक्षकों का भी यही हाल है। बेव्स्टर कहते हैं : Poetry is the embodiment in appropriate language of beautiful or high thought, imagination or emotion, the language being rhythmical, usually metrical, and characterised by harmonic and emotional qualities which appeal to and arouse the feeling and imagination.

सुन्दर और सद्-विचार, कल्पना और अनुभूति का अनुरूप भाषा में रूपाङ्कन ही कविता है। हाँ, वहाँ भाषा भरसक लयात्मक और छन्दोमयी हो और अन्विति एवं भावावेश पर आधारित हो और वह भी इस हद तक कि पढ़नेवाले को अपने ही रंग में रँग ले; उसके भीतर समान अनुभूति और कल्पना जगा दे।

कविता के इस व्यापक परिचय में भाव-भाषा, विचार, कल्पना, अनुभूति, छन्द-लय—सब को उनके सभी सम्भव आयामों में पूरी

तरह समेट लिया गया है।

चैम्बर्स के परिचय में अन्तर है। वह कहते हैं :

Poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creation of feeling and imagination.

ललित मधुर शब्दों में भावना और कल्पना से उत्पन्न विचारों को अभिव्यक्त करने की कला कविता है।

यहाँ 'विचार' निर्विशेष है, सुन्दर अथवा उच्च-उदात्त (beautiful or high thoughts) होना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। शब्द मधुर हों तो कैसा भी अर्थ चल सकता है।

दो कोषकार कविता को दो रूपों में देखते हैं। एक के अनुसार सुर सधा हो तो शिथिल कथ्य भी चल सकता है। दूसरा उसे झटक कर ललित और उच्च-उदात्त को अनुरूप अभिव्यक्ति देने का पक्षधर है। यहाँ चिन्तन या विचारों की उलझी हुई कड़ी नहीं चलने वाली है।

डाक्टर जॉन्सन ने अनेक स्थानों पर कविता को परिभाषित करने की चेष्टा की है। कहीं कहा है—छन्दोमयी रचना (metrical composition), कहीं उसे युक्तियुक्त कल्पनाओं के सहारे सत्य को आनन्द से अन्वित करने की कला बताया है :—Poetry is the art uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason and its essence is invention.

मिल जिज्ञासा द्वारा अपनी परिभाषा रचते हैं: What is poetry but the thought and words in which emotion spontaneously embodies itself ? जिन शब्दों और अर्थों में भावना अनायास ढल जाती है उनके अतिरिक्त कविता और क्या हो सकती है ?

मेकाले का अभिमत है:—

By poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination, the art of doing by means of words what the painter does by means of colours.

चित्रकार रंगों की सहायता से जैसा काल्पनिक चमत्कार प्रदर्शित करता है, शब्दों के जादू से हूबहू वैसा ही चमत्कार पैदा करने की कला को कविता कहते हैं। कार्लाइल के उद्घोष के अनुसार कविता और कुछ नहीं, लयात्मक भाषा है सुचारु विचारों की। इसे संगीतात्मक विचार भी कहा जा सकता है : Poetry we will call Musical thought.

शेली इसे सामान्यत: कल्पना की अभिव्यक्ति बताते हैं : Poetry in a general sense may be defined as the expression of the imagination.

हैजलिट इसे कल्पना और संवेदनाओं की भाषा बताते हैं : It is the language of the imagination and the passions.

ले हण्ट का शब्दजाल विस्तृत और व्यापक है : the utterance of a passion for truth beauty and power, embodying and illustrating its conceptions by imaginations and fancy, and modulating its language in the principle of variety in unity.

सत्य, सुन्दर और शक्ति की संवेदना की एक ऐसी अभिव्यक्ति, जो कल्पना और अतिशयोक्ति से उसकी गूढ़ भावना को रूपायित एवं उपमानों और दृष्टान्तों से अनुरञ्जित करती हो; साथ ही जो उसकी भाषा में, अन्विति में विविधता के सिद्धान्त से उतार-चढ़ाव लाने की अद्भुत क्षमता रखती हो, कविता कही जाती है।

कालरिज की दृष्टि में कविता विज्ञान की विलोम है क्योंकि इसका उद्देश्य तत्काल आनन्द प्रदान करता है सत्य का सन्धान नहीं : Poetry is the antithesis of Science, having for its immediate object pleasure, not truth.

वर्ड्सवर्थ की काव्यात्मक अभिव्यञ्जना में—It is the breath and finer spirit of all knowledge and the impassioned expression which is in the countenance of Science.

कविता समग्र ज्ञान का उच्छ्वास भी है, सुन्दर आत्मा भी और वैसी अभिव्यक्ति भी जो विज्ञान के चेहरे पर स्पष्ट उभरी होती है।

मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार मानवीय शब्द अधिक से अधिक जिस ऊँचाई तक पहुँच सकते हैं, उस पर पहुँची हुई उक्ति के सबसे अधिक आनन्ददायक और परिपूर्ण रूप को कविता कहते हैं: It is simply the most delightful and perfect term of utterance that human words can reach.

और भी···It is nothing less than the most perfect speech of man, that in which he comes nearest to being able to utter the truth.

कविता मानवीय अभिव्यक्ति की परिपूर्णता से तनिक भी कम नहीं है, जिसमें मनुष्य सत्य के सबसे समीप होने का दावा कर सकता है। क्योंकि वस्तुतः कविता मानव जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण है। महान कवि की यही पहचान है कि वह किस सीमा तक जीवन के गहन भावों को समर्थ और सुन्दर अभिव्यक्ति देता है:—Poetry is at bottom a criticism of life. The greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life.

हाँ, जीवन का यह विश्लेषण, ऐसे विश्लेषण की स्थितियों पर आधृत होता है जो कि काव्यात्मक सत्य और काव्यात्मक सुन्दरता के नियमों से जुड़ा हो,

It is a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty.

पो के अनुसार कविता—It is the rhythmic creation of beauty—सुन्दरता की छन्दोबद्ध सृष्टि है।

केब्ल (Keble) कहते हैं—A vent for overcharged feeling or a full imagination. कविता उत्तेजित भावना या समग्र कल्पना को प्रकाशित करने का वातायन है।

Doyle (डॉयले) का मनोवैज्ञानिक अभिमत है कि It expresses our dissatisfaction with what is present and close at hand. कविता और कुछ नहीं, जो सहज उपलब्ध है, उससे असन्तोष की अभिव्यक्ति मात्र है।

रस्किन की परिभाषा इस प्रकार है—The suggestion, by the imagination, of noble grounds for the noble emotions. औदात्य और आभिजात्यपूर्ण भावनाओं के निमित्त कल्पना द्वारा उच्चस्तरीय भावभूमि की अभिव्यञ्जना कविता कही जा सकती है।

मिस्टर कोर्टहोप (Courthope) फरमाते हैं—The art of producing pleasure by the just expression of imaginative thought and feeling in metrical language. छन्दोबद्ध भाषा में कल्पना-प्रसूत भावों और विचारों की सम्यक् अभिव्यक्ति से आनन्द प्रदान करने की कला ही कविता है।

वाट्स इण्टन का कहना है कि—concrete and artistic expression of the human mind in emotional and rhythmical language. भावात्मक एवं लयात्मक भाषा में मानवीय मस्तिष्क की ठोस और कलात्मक अभिव्यञ्जना ही कविता है।

इन परिभाषाओं में कहीं थोड़ी खुली समता, कहीं थोड़ी बन्द विषमता है। मैं इसे 'अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्' से नहीं जोड़ रहा हूँ। कल्पना, अनुभूति, छन्द, चुने शब्द, प्रेषणीयता आदि के इर्द-गिर्द सभी ठिठकते, किसी न किसी टीले पर दम लेते हैं। फिर जीवन की समीक्षा, अनुभवों की प्रतिमूर्ति के रूप में कविता को देखने वाले तो बस इक्के-दुक्के ही हैं।

You have gone through the subject very intimately, no doubt. डॉ० चाँद के मुँह से अचानक ही निकल गया। Thank you very much, sir,—मैं अभी कह ही रहा था कि जैसे वह किसी नशीली नींद से जगे हों, हड़बड़ा कर बोले : 'फिर भी यहाँ तो संस्कृत कॉलिज में पढ़ाना है। अभी आप से पहले एक ने काफी अच्छा कहा है।'

मुस्कान मेरी कब की पुँछ चुकी थी, सो मैंने छुटते ही कहा :

I Know whom you mean, sir.

इस पर जाने ऐसा क्या हो गया कि गवर्निंग बॉडी के सारे मेम्बर

एक साथ मुस्कराने लगे।

गुफ्तगू के दरम्यान और एक दफा पहले भी ऐसा हुआ था जब मैंने लॉकर लैम्प्सन का एक पद्य पढ़कर कहा था कि कुछ लोग कविता को बहुत हल्के-फुल्के ढंग से लेते हैं—

Some ladies now make pretty songs,
and some make poetry nurses;
Some men are good for righting wrongs,
and some for writing verses.

लेकिन पहली मुस्कान से जहाँ गुलाब चटके थे, इस बार की मुस्कान का गुल कतरने का-सा अन्दाज न था। टकसाल के खोटेपन की मुझे भी खबर है; साहित्य की दाल में काली छोंक राजनीति की, क्यों इतनी झोंक दी गई है, मुझे भी अता-पता है इसका, हो न हो, मेम्बरान इसी बात पर हँसे होंगे शायद।

बात यह थी कि जातीय आधार पर कॉलेज ने अपने एक चहेते के लिए ऊपर तक पैरवी पहुँचाई थी। उसमें बड़े-बड़ों का ओछापन नुमायाँ हुआ था। मैं यूँ भी मक्खी होने के सबब ही निगला न जा सका था। कुमार गङ्गानन्द सिंह, जो पहली मुलाकात से ही मेरे अन्यतम प्रशंसक रहे आए थे, इस मकड़ी के जाले में अनजानते फँस गए थे। जिन दिनों बिहार के शिक्षा मन्त्री थे, अपने आवास पर गुजरे ज़माने का वही क़िस्सा जायकेदार लहजे में सुनाया था। सब सुनकर मैंने भी उन्हें बदले में भारवि की एक अर्द्धाली सुना दी थी—

प्रकाशित - त्वन्मतिशीलसाराः
कृतोपकारा इव विद्विपस्ते।

दम फना हो रहा था। उभरने का मुकाम न था। तमाम मुश्किलें, बहरहाल, हल होती थीं रोजी-रोटी की सोचकर (was too tired to attend to any business), वर्ना बक-बक करना तो दरकिनार, मैं मुआफी माँगकर झट-पट उठ खड़ा होता। सूखी-सी जबान पर चिकनाई पोतकर कहा :

महामहोपाध्याय जी ने संस्कृत में प्रश्न किए, मेरा उत्तर संस्कृत में हुआ। आपने अंग्रेजी-हिन्दी में 'पोयट्री' का 'डेफिनिशन' पूछा, मैंने

अंग्रेजी-हिन्दी में जवाब दिया। गुस्ताखी माफ हो, मैं थोड़ी बंगला और उर्दू भी जानता हूँ, आप पूछ देखें, मैं तालमेल बैठाने की तदबीर ढूँढ़ निकालूँगा।

यों आपने संस्कृत कॉलेज में पढ़ाने को याद दिलाकर यहाँ के आलङ्कारिकों के काव्य-सम्बन्धी अभिमतों की विविधता की छानबीन करने का आदेश दिया है, जिससे मैं अपने पक्ष का समर्थन कर सकूँ। तो मैं कहाँ से आरम्भ करूँ—रसगङ्गाधर या काव्य-दर्पण से ?

काव्यदर्पण का नाम शास्त्री जी को अटपटा लगा। बोले विकृत हँसी हँसकर : काव्यदर्पण नहीं, साहित्यदर्पण कहिए।

मैं चिहुँका : साहित्य-दर्पण और है, काव्यदर्पण और। साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ ने मम्मट भट्ट की काव्यप्रकाश वाली परिभाषा 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' की धज्जियाँ उड़ाई हैं। रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का रस निचोड़कर उसे चुचका, पिचका, खोखला सिद्ध कर दिया है। और 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' लिखकर पण्डितराज ने परम्परा के एक अनदेखे सौन्दर्य को उरेहा है।

काव्यदर्पण सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है जब कि साहित्यदर्पण चौदहवीं शताब्दी की। सीमित ख्याति के काव्यदर्पण के लेखक दक्षिण के राजचूड़ामणि दीक्षित हैं जो अप्पय्य दीक्षित की दार्शनिक, आलङ्कारिक परम्परा के प्रतीत होते हैं। साहित्यदर्पण के विश्वविख्यात प्रणेता विश्वनाथ महापात्र उड़ीसा के हैं।

'आप 'साहित्य दर्पण' का नाम लेने कहते हैं तो मैं वहीं से आरम्भ करता हूँ।'

मुसकान अब भी सदस्य श्रोताओं के ओठों से उलझी-पुलझी थी। कारण मेरे बोलने-बरतने का ढंग ही होगा जो डा० चाँद के पूर्वाग्रह-ग्रस्त होने के कारण असाधारण निश्चिन्त हो गया था। नौकरी की ऐसी-तैसी, जब उनकी साँस-साँस में मेरे लिए उमस भरी थी, मैं जान-बूझ कर चौंकाने वाली हवा जब-तब बहा देता था :

"विश्वनाथ कविराज अपनी स्थापना के पूर्व पूर्ववर्तियों के काव्य-लक्षणों को निशाना बनाते हैं। यह बारीक छान-बीन उनकी प्रतिभा

एक साथ मुस्कराने लगे।

गुफ्तगू के दरम्यान और एक दफा पहले भी ऐसा हुआ था जब मैंने लॉकर लैम्प्सन का एक पद्य पढ़कर कहा था कि कुछ लोग कविता को बहुत हल्के-फुल्के ढंग से लेते हैं—

Some ladies now make pretty songs,
and some make poetry nurses;
Some men are good for righting wrongs,
and some for writing verses.

लेकिन पहली मुस्कान से जहाँ गुलाब चटके थे, इस बार की मुस्कान का गुल कतरने का-सा अन्दाज न था। टकसाल के खोटेपन की मुझे भी खबर है; साहित्य की दाल में काली छोंक राजनीति की, क्यों इतनी झोंक दी गई है, मुझे भी अता-पता है इसका, हो न हो, मेम्बरान इसी बात पर हँसे होंगे शायद।

बात यह थी कि जातीय आधार पर कॉलेज ने अपने एक चहेते के लिए ऊपर तक पैरवी पहुँचाई थी। उसमें बड़े-बड़ों का ओछापन नुमायाँ हुआ था। मैं यूँ भी मक्खी होने के सबब ही निगला न जा सका था। कुमार गङ्गानन्द सिंह, जो पहली मुलाकात से ही मेरे अन्यतम प्रशंसक रहे आए थे, इस मकड़ी के जाले में अनजानते फँस गए थे। जिन दिनों बिहार के शिक्षा मन्त्री थे, अपने आवास पर गुजरे ज़माने का वही क़िस्सा जायकेदार लहजे में सुनाया था। सब सुनकर मैंने भी उन्हें बदले में भारवि की एक अर्द्धाली सुना दी थी—

प्रकाशित - त्वन्मतिशीलसाराः
कृतोपकारा इव विद्विपस्ते।

दम फना हो रहा था। उभरने का मुकाम न था। तमाम मुश्किलें, बहरहाल, हल होती थीं रोजी-रोटी की सोचकर (was too tired to attend to any business), वर्ना बक-बक करना तो दर-किनार, मैं मुआफी माँगकर झट-पट उठ खड़ा होता। सूखी-सी जबान पर चिकनाई पोतकर कहा :

महामहोपाध्याय जी ने संस्कृत में प्रश्न किए, मेरा उत्तर संस्कृत में हुआ। आपने अंग्रेजी-हिन्दी में 'पोयट्री' का 'डेफिनिशन' पूछा, मैंने

अंग्रेजी-हिन्दी में जवाब दिया। गुस्ताखी माफ हो, मैं थोड़ी बंगला और उर्दू भी जानता हूँ, आप पूछ देखें, मैं तालमेल बैठाने की तदबीर ढूँढ़ निकालूँगा।

यों आपने संस्कृत कॉलेज में पढ़ाने की याद दिलाकर यहाँ के आलङ्कारिकों के काव्य-सम्बन्धी अभिमतों की विविधता की छानबीन करने का आदेश दिया है, जिससे मैं अपने पक्ष का समर्थन कर सकूँ। तो मैं कहाँ से आरम्भ करूँ—रसगङ्गाधर या काव्य-दर्पण से ?

काव्यदर्पण का नाम शास्त्री जी को अटपटा लगा। बोले विकृत हँसी हँसकर : काव्यदर्पण नहीं, साहित्यदर्पण कहिए।

मैं चिहुँका : साहित्य-दर्पण और है, काव्यदर्पण और। साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ ने मम्मट भट्ट की काव्यप्रकाश वाली परिभाषा 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' की धज्जियाँ उड़ाई हैं। रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का रस निचोड़कर उसे चुचका, पिचका, खोखला सिद्ध कर दिया है। और 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' लिखकर पण्डितराज ने परम्परा के एक अनदेखे सौन्दर्य को उरेहा है।

काव्यदर्पण सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है जब कि साहित्यदर्पण चौदहवीं शताब्दी की। सीमित ख्याति के काव्यदर्पण के लेखक दक्षिण के राजचूड़ामणि दीक्षित हैं जो अप्पय्य दीक्षित की दार्शनिक, आलङ्कारिक परम्परा के प्रतीत होते हैं। साहित्यदर्पण के विश्वविख्यात प्रणेता विश्वनाथ महापात्र उड़ीसा के हैं।

'आप 'साहित्य दर्पण' का नाम लेने कहते हैं तो मैं वहीं से आरम्भ करता हूँ।'

मुसकान अब भी सदस्य श्रोताओं के ओठों से उलझी-पुलझी थी। कारण मेरे बोलने-बरतने का ढंग ही होगा जो डा० चाँद के पूर्वाग्रह-ग्रस्त होने के कारण असाधारण निश्चिन्त हो गया था। नौकरी की ऐसी-तैसी, जब उनकी साँस-साँस में मेरे लिए उमस भरी थी, मैं जान-बूझ कर चौंकाने वाली हवा जब-तब बहा देता था :

"विश्वनाथ कविराज अपनी स्थापना के पूर्व पूर्ववर्तियों के काव्य-लक्षणों को निशाना बनाते हैं। यह बारीक छान-बीन उनकी प्रतिभा

और व्युत्पत्ति को रेखाङ्कित करती है। सब से पहले मम्मट भट्ट उनके चंगुल में पड़ते हैं। वह उनके काव्य-लक्षण को चंग पर चढ़ा कर उन्हें चुनौती देते हैं। कहते हैं नुकीले तर्क चुभोकर कि आपकी मान्यता बेशक गङ्गा नहा चुकी है; धूम मची है उसकी;—निर्दोष, सगुण, सालङ्कार (कभी निरलङ्कार भी) शब्द और अर्थ को काव्य की संज्ञा देकर आपने बड़ी दूर की कह डाली है; मगर रू-ब-रू हो सकने पर एक बात पूछूँगा : क्या आप बता सकेंगे कि दोष-युक्त होने के कारण आपकी परिभाषा के दायरे में जो नहीं आ सकती उस अकविता को आनन्दवर्द्धन ने असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य के क्रम में उत्तम कविता के रूप में कैसे उदाहृत किया है? तब तो आपका ऊधम उठाना ऊपर-ऊपर चला गया? आपने जिसे विधेयाविमर्श दोष के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया, उसे दूसरे आचार्य ने व्यङ्ग्यमय होने के कारण ध्वनि या उत्तम काव्य के निदर्शन के रूप में उजागर किया है—यह हुआ आपकी परिभाषा में अव्याप्ति दोष। आपकी परिभाषा इस बेजोड़ शिल्प को जज़्ब न कर सकी, उगल दिया।

वह विवादास्पद श्लोक हनुमन्नाटक के चौदहवें अङ्क का है—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सो ऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः
धिक्-धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिका-विलुण्ठन-वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।

राम तथा उनके तमाम साथी-संगियों द्वारा राक्षसों का संहार होते देख रावण अपना गर्वीला रोष-आक्रोश प्रकट कर रहा है—मेरे लिए तो यही डूब मरने की बात है कि मेरे शत्रु हैं। शत्रु (अरिः) भी कोई एक होता, दो (अरी) होते, ऐसा नहीं, एकदम से (अरयः) ढेर सारे। मेरे (मे)—सबको रुलानेवाले के—रावण के, जिसने सभी देवताओं को—देवेन्द्र को भी—कैद कर रक्खा है; जिसे देख यमराज की भी घिग्घी बँध जाती है, उसके शत्रु! वह भी कोई दम-खमवाले समकक्षों की टोली होती तो भी दम-दिलासे की एक बात होती, मगर यहाँ तो मेरे मुकाबले अड़ा खड़ा है बेचारा (तापस) राम! राम भी कहीं, मेरी नजर से दूर, घने जंगल-पहाड़ों में अपनी विजय का झंडा

गाड़ता, तो भी बात कहने-सुनने की ही रह जाती, मगर वह तो यहीं मेरी छाती पर मूँग दल रहा है (अत्रैव निहन्ति); निःशेष किए दे रहा है सभी सूरमाओं को; किसी या किन्हीं एक-दो राक्षस-योद्धाओं को नहीं (राक्षसकुलम्), सारे राक्षस-खानदान को! और इतने पर भी रावण जिन्दा है! सबको रुलानेवाला स्वयं रोने-तड़पने के लिए जिन्दा रह गया है! धिक्कार है मेघनाद को, जो इन्द्रजित् कहलाता है; मगर एक अदना-से आदमी को न जीत सका! और फिर किस ताम-झाम से जगवाया गया था कुम्भकर्ण; परन्तु परिणाम क्या निकला, लड़ाई के मैदान में कौड़ी का तीन साबित हुआ! और अपने बाजुओं को और कितना कोसूँ! इन्होंने एक मामूली-से गँवई-गाँव-जैसे स्वर्ग को क्या लूटा-खसोटा, क्या तहसनहस किया, बस, इसी झूठे घमण्ड में फूले-फूले रहे!

—इसमें दो स्थलों में 'विधेयाविमर्श' दोष है।

'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्!' इस नियम के अनुसार पहले उद्देश्य, फिर विधेय का प्रयोग होना उचित है। जैसे भवभूति के—

'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः' में है। यहाँ 'अयमेव हि न्यक्कारः' की जगह 'न्यक्कारोह्ययमेव' कहा गया है, यही दोष है। चूँकि यह पूरे वाक्य को प्रभावित कर रहा है, इसलिए इसे वाक्य-गत 'विधेयाविमर्श' कहा जायगा।

'वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः?—झूठमूठ फूले इन बाजुओं से क्या?— इसमें पद-गत विधेयाविमर्श है। उच्छूनत्व (फूलने) की व्यर्थता बताना लक्ष्य है; किन्तु समास कर देने पर 'वृथा' गौण हो गया, अतः यह समासगत 'अविमृष्ट विधेयांश' दोष हुआ। पदों का समास होता है, इसलिए इसे पद-गत दोष कहा जायगा।

अब विश्वनाथ कविराज मम्मट भट्ट को यों लताड़ते हैं: यदि भट्ट कहें कि—पूरे पद्य में दोष न होकर आंशिक (दो स्थानों में ही) दोष है इसमें, तब तो जो अंश दोष-युक्त है, वह अकविता और जो ध्वनिमय है, वह उत्तम कविता कहा जायगा। ऐसे में काफी खींचतान, फेरबदल होने पर यह पद्य कविता-अकविता कुछ भी कहलाने योग्य न रह जायगा।

सच तो यह कि श्रुतिकटु, विधेयाविमर्श-ऐसे दोष काव्य के किसी एक अंश को दूषित करते हों,—ऐसी बात नहीं है। वे पूरे काव्य पर हल्ला बोल देते हैं। दोष रस का अपकर्षक होता है। रस काव्य के समग्र शरीर में व्याप्त आत्मा के समान है। वह किसी खास अंश में नहीं रहता। अतः जो दोष उस समग्र काव्यव्यापी रस को दूषित करते हैं, वह काव्य के किसी अंशविशेष को नहीं, समग्र काव्य को ही दूषित कर देते हैं।

यदि रस से दोष का सम्बन्ध न माना जाए तो नित्य दोष, अनित्य दोष का वर्गीकरण भी असम्भव है जब कि यह भेद-व्यवस्था सभी आलङ्कारिकों को इष्ट है। उदाहरण के लिए—शृंगार, करुण, शान्त जैसे कोमल रसों में क्लिष्ट-कठोर वर्णों वाली रचना वर्जित है, श्रुतिकटुत्व के कारण। किन्तु वीर-रौद्र-वीभत्स रसों में श्रुतिकटुता दोष नहीं, गुण है। वह इन रसों को उद्दीप्त करती है। अपकर्ष नहीं, उत्कर्ष प्रदान करती है। इसीलिए श्रुतिकटु दोष अनित्य दोष है। इसके विपरीत 'च्युत संस्कृति'—अव्याकृत शब्दों का अप-प्रयोग करने पर होने वाले दोष सहृदय को रसास्वादन में बाधा पहुँचाने के कारण नित्य दोष हैं। भाषा की अशुद्धि दर्द पर एकाग्र मन को फोड़े की तरफ मोड़ देती है।

आनन्दवर्द्धन ने भी इसी अभिप्राय को पुष्ट किया है—

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः'।

सबसे बड़ी बात यह है कि परिभाषा में निर्दोष होने का आग्रह रहने पर इक्के-दुक्के की बात और है, नहीं तो सर्वथा निर्दोष काव्य मिलना सम्भव ही नहीं है।

विश्वनाथ का अगला झपट्टा है कि यदि मम्मट ने ईषत् (थोड़े) के अर्थ में नञ् का प्रयोग किया हो कि निर्दोष नहीं,—'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्'—थोड़े-बहुत दोषवाले शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं, तब तो क्वचित् कदाचित् कोई निर्दोष शब्द और अर्थ उपलब्ध हो भी गए तो उन्हें काव्य के दायरे में न घुसने देना होगा ?

यदि मम्मट भट्ट 'ईषद्दोषौ' के पहले 'सति सम्भवे' जोड़ना चाहें—

कि दोषों की सम्भावना होने पर भी कम-से-कम दोषोंवाले शब्दार्थ को काव्य कहेंगे तो वह भी ठीक नहीं है। कारण, कोई रत्न की ऐसी परिभाषा नहीं बनाता कि जिसमें कीड़ों ने छेद न किया हो उसे रत्न कहते हैं। रत्न रत्न है, कीड़ों ने उसे छुआ-छेड़ा हो तो उसकी कीमत कुछ कम हो जायगी। वैसा ही यहाँ भी होना था। परिभाषा में 'अदोषौ' विशेषण की कतई जरूरत न थी। दोष रहने पर महज काव्य के दर्जे में फर्क हो जाता है। रस होने पर काव्य तो वह कहलाता ही, दोष उसकी श्रेणी में अन्तर ला सकता, तो लाता। अतः इस परिभाषा में स्पष्ट ही 'अव्याप्ति' दोष है।

इसी प्रकार इस परिभाषा में 'सगुणौ' विशेषण अनावश्यक है। स्वयं मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।

लिखकर गुणों की रसैकधर्मता बखानी है। अर्थात् गुण रस में ही रहते हैं, शब्द और अर्थ में नहीं।

विश्वनाथ मम्मट को अधिक्षिप्त करते हुए कहते हैं कि यदि मम्मट शब्द और अर्थ को रस का व्यञ्जक समझकर, गुण के आश्रय रस को गौण रूप से अभिव्यक्त करनेवाला बताते हैं तो यह उनकी भूल है। पहले वह यह बताएँ कि काव्य का स्वरूप निरूपित करनेवाले शब्द और अर्थ में रस के लिए कोई गुंजाइश है या नहीं? यदि कहें कि नहीं है, तब शब्द और अर्थ के गुणों की छानबीन बेकार है। क्योंकि गुण तो रसाश्रित ही होते हैं!

और यदि वह हाँ कहते हैं; रस के पक्ष में अपना मत व्यक्त करते हैं तब तो 'सगुणौ', न कहकर 'सरसौ' कहना ही उचित होता। क्योंकि रस से गुण बँधे हैं; अङ्गाङ्गिभाव से जुड़े हैं। जहाँ कोई रस होगा, वहाँ कोई-न-कोई गुण होगा ही होगा।

इस पर मम्मट कहें—यही तो; यही तो, अन्वय-व्यतिरेक से गुण और रस का आपसी सरोकार जग-जाहिर है। गुण बिना रस के नहीं रह सकते, 'सगुणौ' कह दिया तो अपने आप 'सरसौ' अर्थ हो गया। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। बात सीधी हो, तो उसे चक्कर में डालना

कौन पसन्द करेगा ?

अब अगर मम्मट पैंतरा बदल कर 'सगुणौ शब्दार्थौ' का यह अभिप्राय बतलाएँ कि गुणों के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ ही काव्य में प्रयुक्त होने चाहिए तो भी बात नहीं बनती। क्योंकि लक्षण स्वरूप का निरूपण है और गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य में उत्कर्ष पैदा करनेवाले होते हैं, काव्य का स्वरूप बतलानेवाले नहीं। कहा गया है कि—शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है, रस उसकी आत्मा है। जैसे शौर्य-वीर्य, वैसे ही ओज, माधुर्य्य और प्रसाद गुण होते हैं, जैसे काना-लूला-लंगड़ा होना दोष है, वैसे ही दोष हैं श्रुतिकटु आदि, और जैसे अनुपात में अवयव की रचना शरीर के सुडौलपन के लिए है, वैसी ही गौड़ी-वैदर्भी-पाञ्चाली रीतियाँ होती हैं और जैसे सज्जा के लिए बहुमूल्य आभूषण होते हैं वैसे ही यहाँ अनुप्रास-यमक या उपमा-रूपक-जैसे अलङ्कार हैं।

अब आखिरी; किन्तु सबसे करारी चोट 'अनलङ्कृती पुनः 'क्वापि' विशेषण पर की है। मम्मट ने इसे यह कह कर स्पष्ट किया है कि यों तो अलङ्कार सर्वत्र होने ही चाहिए। हाँ, कहीं रस की प्रधानता हो और कोई अलङ्कार झटपट पकड़ में न आता हो, तब भी चलेगा।

इस पर विश्वनाथ गुणवाले तर्क के सहारे ही झपटे हैं कि अलङ्कार भी काव्य में उत्कर्ष लानेवाले हैं, काव्य-लक्षण में उनका रहना ठीक नहीं है। अलङ्कार काव्य के स्वरूप के अन्तर्गत नहीं होते, वह काव्य को उत्कृष्ट भर बनाते हैं।

इसके बाद विश्वनाथ ने उनके दिए हुए उदाहरण—'यः कौमार-हरः स एव हि वरः' पर कटाक्ष किया है कि इसमें तो विभावना और विशेषोक्ति नामक अलङ्कारों का संकर स्फुट ही है !

जिनके सिखाए रास्ते पर चल कर विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण की रचना की है उनमें से एक-एक को उन्होंने बड़ी बेरहमी से लताड़ा है। हाँ, अकेले पण्डितराज ने उनके उतने ताम-झाम से बनाए हुए काव्य-लक्षण—'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की बेशक राई-काई की है। पहले तो उन्होंने—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्

परिभाषा बनाई, जिसमें रसात्मकता का स्थान रमणीयार्थ-प्रतिपादकता को दिया। फिर जिस 'रस' से अलौकिक आनन्द की अपेक्षा की जाती है, रमणीयता का अभीष्ट अर्थ उसी से जोड़ दिया :

'रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-जनकज्ञानगोचरता !' – अलौकिक आह्लाद का जनक जो ज्ञान है उसकी गोचरता, अर्थात् विषयता। अलौकिक आनन्द का अनुभव कराने वाली भावना का विषय रमणीय है। अर्थात् काव्यार्थ का ज्ञान सहृदयों को लोकोत्तर आनन्द प्रदान करता है। विश्वनाथ ने रस-प्रसङ्ग में ऐसी लोकोत्तरता की चर्चा की है—

'लोकोत्तर चमत्कार प्राण: कैश्चित् प्रमातृभि:
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस:।'

अलौकिक चमत्कार को ही रस का प्राण बताया है।

यहाँ मुझे पण्डितराज के केवल वही तर्क प्रस्तुत करने हैं जिनसे उन्होंने विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का खण्डन किया है। वह कहते हैं कि साहित्य दर्पण ने जो 'रसवदेव काव्यम्' का निर्णय दिया है, वह उचित नहीं है। 'एव' को विशेषण से जोड़ देने पर 'रसवदेव काव्यम्' का परिष्कृत अर्थ होगा :

काव्यत्व-समानाधिकरण-प्रतियोगि-व्यधिकरणात्यन्ताभावादि-प्रतियोगि-रसवत्त्वाश्रय: काव्यम्। और वह ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थिति में वस्तु-प्रधान अथवा अलङ्कार-प्रधान काव्य को काव्य न कहा जा सकेगा। यदि बिदक कर विश्वनाथ कहें कि ऐसा होना ही तो मुझे अभीष्ट है, तब तो कहना अनावश्यक है कि महाकवियों की पूरी परम्परा में खलबली मच जायगी; वह एकबारगी अस्तव्यस्त हो जायगी। कारण स्पष्ट है। जहाँ महाकवियों ने रस का आग्रह छोड़कर प्रकृतिवर्णन किया है वहाँ उच्च कोटि के कवित्व के बावजूद विश्वनाथ का रसाग्रह उसे काव्य होने का प्रमाणपत्र न देगा ! जैसे आदि कवि के वर्षावर्णन के ये पद्य—

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं नभ: प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति
क्वचित्-क्वचित्-पर्वत-संनिरुद्धं रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य।

व्यामिश्रितं सर्जकदम्ब-पुष्पैर्नवंजलं पर्वतधातुताम्रम्
मयूर केकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं बहन्ति।

अथवा 'पौलस्त्यवध' में गङ्गावतरण-वर्णन के क्रम में जल के प्रवाह और वेग का यह ऐसा चित्रण—

क्वचिद् द्रुततरं याति कुटिलं क्वचिदायतम्
विनतं क्वचिदुद्भूतं क्वचिद् याति शनैः शनैः
सलिलं सलिलेनैव क्वचिदभ्याहतं पुनः
मुहुरूर्द्ध्व-पथं गत्वा पपात वसुधातलम्।

पानी कहीं तेज-तेज बहता, कहीं आँका-बाँका, कहीं सपाट चौरस। कहीं-कहीं झुककर धँसता-सा और कहीं मन्द-मन्थर—आहिस्ता-आहिस्ता। कहीं पानी पानी से टकरा कर हौले उछाल लेता और फिर धरती पर गिरता-पड़ता बह चलता था।

अथवा बन्दरों की उछलकूद का वाल्मीकि का प्राणवन्त वर्णन—

गायन्ति केचित् प्रहसन्ति केचित्
नृत्यन्ति केचित् प्रणमन्ति केचित्
पतन्ति केचित् प्रचरन्ति केचित्।
प्लवन्ति केचित् प्रलपन्ति केचित्।
परस्परं केचिदुपाश्रयन्ति
परस्परं केचिदति ब्रुवन्ति
द्रुमाद् द्रुमं केचिदभिद्रवन्ति
क्षितौ नगाग्रान्निपतन्ति केचित्।

\+ \+ \+

क्षिपन्त्यपि तथाऽन्योन्यं स्खलन्ति च तथा परे
केचित् क्ष्वेडान् प्रकुर्वन्ति केचित् कूजन्ति हृष्टवत्
हरयो मधुना मत्ताः केचित् सुप्ता महीतले
धृष्टाः केचिद् धसन्त्यन्ये केचित्कूजन्ति चेतरत्।

कोई गाते, कोई हँसते, कोई नाचते, कोई झुक-झुक, झूम-झूम कर प्रणाम की मुद्रा बनाते, कोई यहाँ-वहाँ गिरते-पड़ते, कोई जोर-जोर

से चलते; कोई उलछते-कूदते और कोई अनाप-शनाप बकते।

कोई एक दूसरे के पास जा कर गले-गले मिलते, कोई आपस में वाद-विवाद करते, कोई एक पेड़ से दूसरे पर छलाँग लगाते, और कोई डालियाँ पकड़ कर झूलते-झूलते धरती पर कूद पड़ते थे।

कोई एक दूसरे पर शहद उड़ेलते, कोई लड़खड़ा कर गिरते, कोई दाँत किटकिट करते, और कोई-कोई आनन्द-विभोर होकर पंछियों की तरह चहक-चहक उठते थे।

—'रसवदेव काव्यम्' का हठ ठान लेने पर काव्य के दायरे में नहीं आ सकते। ऐसे ही स्वतःसंभवि वस्तु से वस्तुध्वनि के उदाहरण में प्रस्तुत पद्य—

गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति संमुखम्
आवर्तन्ते विवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः

भौंरे लबालब तालाबों में चहुँ ओर गुँजार करते फिरते हैं, कभी जिधर कमल के फूल दिखाई देते हैं, उधर सीधी दौड़ लगाते हैं, कभी यहाँ-वहाँ आते-जाते और मंडलाते हैं।

अथवा

वस्तु से अलङ्कार ध्वनि के लिए उदाहृत पद्य—

न मनागपि राहु-रोध-शङ्का
न कलङ्कानुगमो न पाण्डुभावः
उपचीयत एव काऽपि शोभा
परितो भामिनि ते मुखस्य नित्यम्

सुन्दरि, तुम्हारे सलोने मुखड़े का क्या कहना? उसे न कभी ग्रहण लगने का अन्देसा है, न दागदार होने का खतरा; न कभी फीका पड़ने का खौफ ही, सो जितनी बार देखो, उतनी बार उसकी आभा निखरती ही चली जाती है!

'राहु से घेराव के अभाव आदि निरपेक्ष वस्तुओं से व्यतिरेक अलङ्कार व्यञ्जित होता है।

—ऐसे सारे पद्यों में रस नहीं है; किन्तु चमत्कार है, अतः सुस्पष्ट काव्यत्व है।

और इसी कारण उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष है। इतने पर भी यदि विश्वनाथ गाल मारें; मुँहजोरी करें कि ज्यों-त्यों इन पद्यों में भी रस का स्पर्श अवश्य ही है, तब तो ऐसा रस-स्पर्श 'गाय चरती है, हिरना कुलाँचें भरता है,'—जैसे वाक्यों में भी ढूँढ़ निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारने योग्य है कि आलम्बन में वर्णित पूर्वोदाहृत प्रकृति वर्णन वाले पद्यों में प्रबन्ध-व्यङ्ग्य की दुहाई देकर कवित्व बरकरार रह सकता है; किन्तु तब पण्डितराज के-से मुक्तकों का क्या हश्र होगा जो वस्तु-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि के उदाहरणों में आए हैं? क्योंकि कोई भी अर्थ विभाव, अनुभाव, संचारी भावों में आ सकता है; किन्तु इसी कारण उसमें से रस नहीं निचोड़ा जा सकता।

परत-दर-परत जमी अपनी-अपनी सूझों अथवा पूर्वाग्रहों की धूल झाड़ कर काव्य का प्रकृत रूप ढूँढ़ निकालना कठिन काम था। मैंने गुणों को गौण बनाकर दोषों को उजागर करने का बीड़ा उठाया था। थुक्का-फजीहत वाली भाषा का इस्तेमाल आचार्यों ने किया है, मैं मगर पत्थर की मूर्ति की तरह फटी हुई आँखों से दिन के चाँद (डा० एच० चाँद) को देखता और कही-अनकही कहता जाता था। गवर्निंग बॉडी के लगभग सब सदस्य बाग-बाग थे कि सहज और अति-निर्भय स्वर में लगातार इतने लम्बे समय तक साहस के साथ बोलने वाला मैं अकेला प्रत्याशी था। सब का साक्षात्कार पाँच-सात मिनटों का था, मेरे पचास मिनट पूरे हो रहे थे।

मेरी मस्ती का सबब दूसरा था। जानता था, मेरा होने वाला नहीं है। संस्कृत कॉलेज की छाती के भीतर दिनरात आग जल रही थी—मेरे दबे उच्छ्वास-निश्वास को जलाकर खाक कर देने के लिए।

एक लम्बे बालों वाला लंगूर 'सोने' के महल में घुस आए और शताब्दियों से सोए शान्त सनातन मन में हलचल पैदा करे, यह सम्भावित अपमान उसकी ईंट-गारे की हड्डी में चुभ चुका था। मेरा कुछ अनिष्ट हो; अपकार हो, इस आशय से घास में घूमते समय उसकी धोती के छोर में खौंता लग गया था। पैबन्द की सिलाई भी जरा-सी खुल गई थी। हमेशा से मेरा हाड़-मांस जलाकर वह हँसते-हँसते लोट-पोट होता था। दुनिया के सब तरह के आघात, उपद्रव, उपहास-परिहास मैं ही सहूँ; सहता रहूँ; इस विधि-विधान में वह बाधा

डालना नहीं चाहता था। अभी साल दो साल पहले मैं वहां से वेदान्तशास्त्री और वेदान्ताचार्य्य हुआ था; बिहार का रेकर्ड ब्रेक कर (अपने विषय और सभी विषयों में) दो-दो स्वर्ण-पदक प्राप्त किए थे, यह वह फूटी आँखों देख चुका था। उसके मन में ऐसी आई हो कि कहीं मेरा कृतित्व ऐन वक्त पर आग की तरह भक्-से जल न उठे इसलिए मानसून के सारे बादल मेरे ही माथे पर मंडलाने छोड़ दिए थे; भरे घड़े धप-से रखकर आजू-बाजू को पानी-पानी कर दिया था कि आग न दिखे; धुएँ की कड़वाहट पूरे परिवेश में फैल जाए।

यों मैंने अच्छी-सी साइत सुधवाकर उच्छ्वास-निश्वास को दबाते हुए ही आवेदन पत्र पर हस्ताक्षर किए थे; मगर मेरी लम्बी बीमारी ने मुझे भीतर से तोड़ दिया था। साझीदार की बेतरतीब चर्चा के मारे नाक में दम आ गया था। सो ऐसी बात नहीं, सिर्फ एक बात की बात थी : उन्हें भय था, मैं इण्टरव्यू में अव्वल आ सकता हूँ ! और ऐसा किसी भी कीमत पर न होने देना चाहिए। जलजला आ जायगा। मैं जो खाक-धूल उड़ाऊँगा, लोग-बाग सोने-चाँदी के बुरादे को नकारने लग जाएँगे ! उल्टी पट्टी पढ़ाऊँगा···

मेम्बरों की मंशा थी अब आकाश छोटा हो; भूगोल सिमटे; मगर चेयरमैन साहब ऐन-मैन गणेश हुए सम्मुख सूँड़ फटकार रहे थे कि ऐसे लड़के बहुत खिलाए हैं ! वह सहज ही मेरी बातों में आने वाले नहीं हैं ! ओंठ मटका कर बोले :

"अच्छा; पंडत जी; भामह के काव्य-लक्षण के बारे में आप क्या कहना चाहेंगे—'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्, सौन्दर्य्यमलङ्कारः रीतिरात्मा काव्यस्य।'

'जी'—मैंने कहा—'भामह नहीं, वामन के काव्यमत की बाबत पूछ रहे हैं आप !'

'वामन नहीं, भामह !'

'भामह का ग्रन्थ पद्य-बद्ध है : वामन सूत्रों में फूटते हैं ! आपको भ्रम हो रहा है !'

'मुझे भ्रम हो रहा है ?—त्योरियों में बल पड़ गए उनके ! तोल-तोल कर एक-एक शब्द बोल रहे थे—'भ्रम ? मुझे ?'

'हाँ—मैंने हँसकर कहा : कभी-कभी ऐसा हो जाता है। नहीं तो भामह से वामन तक में पीढ़ियों का अन्तराल है। भामह के आगे या पीछे दण्डी; फिर भट्ट उद्भट, रुद्रट, भट्ट नायक, और तब वामन। पण्डितराज ने लक्षण के अनुरूप नए उदाहरण लिखने का जो दर्प प्रदर्शित किया है—

किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजनन-शक्तिभृता मृगेण ?

कि कस्तूरी पैदा करने वाला हिरना क्या कभी बाग-बगीचे में फूल सूँघता फिरता है! वह बात भी उनके चढ़े-बढ़े होने के कारण ही चढ़ बनी है, वर्ना इस पद्धति के प्रवर्तक भामह ही हैं।

मुझ पर बड़ी कड़ी आँख रखकर उन्होंने हिदायत देने के अन्दाज में कहा—नहीं, वामन नहीं भामह!

'मत भर की बात हो तो मैं उसका खण्डन प्रस्तुत करूँ। मगर यहाँ तो नाम को लेकर विवाद…'

'विवाद क्यों? मुझे धोखा नहीं हुआ। वह भामह का ही कहा हुआ है…'

अब और मैं जब्त न कर सका। सदस्यों को भी, जंतरी खींचने का यह ढंग मुमकिन है, अच्छा न लगा हो! जक बँध गई थी सब की, जब मैं कुप्पा हुए डा० चाँद की नाक पर दिया जला कर अचानक उठ खड़ा हुआ :

यहाँ तो इतनी रिच लाइब्रेरी है, पुस्तकें मँगवाकर देख लें, अगर मेरा दावा गलत हो; 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्, सौन्दर्य्यमलङ्कारः वामन का न होकर भामह का हो तो बस एक इसी मुद्दे पर इस निष्पक्ष प्रतियोगिता से मैं अपना नाम वापस लेता हूँ…

कहा, और बाहर निकल आया। जैसे भब्भड़ पड़ गया हो, मेरे पीछे बाबू उमाशङ्कर प्रसाद और रामचन्द्र (इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स, तिरहुत कमिश्नरी) प्रसाद-जैसे कई सदस्य, उठकर चले आए। सब ने एक स्वर से शाबाशी दी। मैंने बाबू साहब से कहा : पहले तो भुरकुस निकाल दिया सवाल पर सवाल दागकर, फिर घाँइयाँ बताने लगे। मैं

उनकी हर कोशिश नाकाम करता रहा और कैसे भी हत्थे चढ़ने से रहा।'…

हृदय में तो गुब्बार है, गाँठ खुले तो कैसे ? इस दफा मंजिल कटती देख जैसे तिलमिला गए हों, मकदूर से बाहर पाँव रखा, मुझे कुछ जँचा नहीं। मगज भिन्ना गया था…

अब जो चाहें करें।

'चाहना क्या, सबने माना, आपसे अच्छा किसी का न हुआ।'

फिर भी चेयरमैन तो वही हैं !

'इससे क्या फर्क पड़ने वाला है ?'

इतने में एक बेतरह घबराया-सा आफिस का चपरासी आया और ऊबे-उकताए उम्मीदवारों से बोला : आप लोग जाएँगे नहीं, अभी 'रिटन' होगा।

'रिटन' का नाम सुनते ही रामचन्द्र प्रसाद ने एक परम पवित्र शब्द का उच्चारण किया जिससे वह ठूंठ भी हरा-भरा हो गया जिसके नीचे हम इकट्ठे खड़े थे। बाबू साहब दूसरे सदस्यों से मुझ गवई-गाँव के गरीब ब्राह्मण के प्रकाण्ड पाण्डित्य और प्रचण्ड मेधावी होने के दुर्भाग्य की कहानी कहते हुए प्रिंसिपल के आफिस की ओर चलते चले गए कि मैंने इतनी-सी उमर में कितने शीत-धाम, आँधी-पानी सिर पर सहकर पाँव-पाँव चल-चल कर अब तक का रास्ता तय किया है।

मेरी अकड़ की गाँठ तभी ढीली पड़ गई जब खुल्लम खुल्ला बाबू साहब यह कहते हुए अन्दर चले गए कि मैं लिखित परीक्षा में भी मौखिकी की भाँति टॉप करूँगा, कतराना नहीं है। तब मैं भारी असमञ्जस में पड़ गया। आखिर अपना-सा मुँह लेकर हें-हें हूँ-हूँ करती भद्दी-सी भीड़ के साथ कानों में रुई लगाए-लगाए हॉल में हाजिर हो गया। आजादी से मैं इम्तहान छोड़कर चल देता, इसका सुभीता न था। बाबू साहब पर क्या बीतती ? उनका आदेश टाला नहीं जा सकता था। तर्क-वितर्क की गुंजाइश न थी। लम्बी साँस खींचकर आँसुओं-रुँधी आँखें पोंछीं और लिखने लगा। दस मिनट में दो प्रश्नों के उत्तर देने थे। रोग भोगने से उँगलियों की शक्ति क्षीण हो गई थी। झुनझुनी होने लगी। कई बार उँगलियाँ चटखानी पड़ीं।

फिर भी मैं अभी एक सवाल पूरा कर दूसरे का सन्दर्भ ही लिख रहा था कि कॉपियाँ ले ली गईं। मेरे तो काटो तो खून न निकले। आदेश सिर माथे रखकर मैंने कर्त्तव्य ही पूरा किया था। मौखिकी के समय का दर्प-चूर्ण होने से मन हल्का हो गया। साजिश की कामयाबी पर प्रतिद्वन्द्वी को बधाई देने की इच्छा हो रही थी। बाबू साहब मगन मन कार ड्राइव कर रहे थे जब मैंने इस अनहोनी की खबर देकर उन्हें चौंका दिया। मैं शार्ट हैण्ड की गति से लिखता हूँ, दोनों हाथों से एक साथ दो भाषाएँ लिख लेता हूँ, अपनी आँखों देख चुके थे, सो उन्हें किसी भी प्रकार विश्वास न हुआ। उनकी खुशफहमी दूर करना आसान न था। उनके जिस स्नेह-भरे अनुरोध-बन्धन से मैं बँधा था, मन की बात बताने में मुझे सङ्कोच था, मुँह की बात बताने पर उन्हें यकीन दिलाना नामुमकिन था। निराला और पृथ्वीराज के बाद ऐसा हृदय, मन और मनीषा से स्नेह देनेवाला मुझे कोई कहीं न दिखा। मेरी सूखी आँखें सजल हो उठीं।

संस्कृत कॉलेज में पल भर में प्रचारित हो गया कि लेख-परीक्षा में मेरा स्थान अब अनिश्चित हो गया। मौखिक परीक्षा की प्राथमिकता काम न आएगी, हृदय के अन्तस्तल तक मुझे कोई उज्ज्वल दृष्टि अपलक निहार रही थी। मैं विसुध, मौन और म्लान था। सिलसिले से कहने की शक्ति के अभाव में किसी के मुँह से उतराती बातों से विदित हुआ, कॉपियाँ मेरी और 'सर्वप्रिय' की बाहर भेज दी गईं। कुछ दिन सस्पेन्स में निकल जाएँगे, सोचकर मेरे मुँह से एक लम्बी साँस निकल गई।

हफ्ते और पखवारे नहीं, कई महीने निकल गए। आखिर एक रोज लम्बा लिफाफा आया। डॉ० गोडबोले का रिमार्क था:—दोनों उत्तर पुस्तिकाएँ दो स्तरों की हैं। एक छात्र का लेख है जो पूरा का पूरा है और जिसमें भाषा की अशुद्धियाँ नहीं हैं; किन्तु दूसरा चमत्कार-पूर्ण है। भाषा में लालित्य और प्रौढ़ि का प्रकर्ष देखते ही बनता है। दूसरा उत्तर अधूरा है, परन्तु पूरे से कहीं अधिक आकर्षक।

पण्डित रामनारायण शर्मा से मुझे यह जानकारी मिली जो उन दिनों बिहार संस्कृत समिति के अध्यक्ष थे; नियुक्ति-पत्र उन्हीं से प्राप्त होने वाला था। पटाक से जवाब दे दिया ताना कसने वाले पैरवीकारों

को : नियुक्ति शास्त्री की ही होगी। अब मैंने बाबू साहब के आगे अपना कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया। उगलते वक्त झुरझुरी आ रही थी। उन्होंने मेरा टुच्चापन विस्मय से सुना, परिणति पर अपने श्रम की सार्थकता से प्रसन्न भी हुए।

आक्षेपकों के आरोप सत्य थे। तब बिहार के एकमात्र गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज में पढ़ाने की योग्यता मुझमें न थी। बाबू साहब के प्रभाव और अध्यवसाय से हो यह अनहोनी होकर रही। वह चाहते थे, मेरी अकिञ्चनता मुजफ्फरपुर में ही प्रतिष्ठित हो।

जब नियुक्ति-पत्र मिला, मैं बुखार में भभक रहा था; आँखें सूज रही थीं। पत्र पढ़ा, अक्षर जैसे घने अँधेरे में सुनहली बुँदकियाँ हों।

× + +

हृदय ने कहा था : बम्बई ले चलूँगा, डा० ढोलकिया के यहाँ। मेरी गहरी पहचान है।

पथ देखता रह गया, पलटे नहीं। दूसरे की आवाज मद्धम होकर डूब : गई बाहर जाने पर बेमतलब बाही-तबाही होगी।

मेरा मन तब पलाशवन की तरह गहगहा कर फूल उठा—निष्फल निर्गन्ध, जब समझा : पैसे वाले अपनी जेब की सोच रहे हैं, मेरे अभागे अकेलेपन को नहीं। पैसे तो मैं कैसे भी खर्च कर ही सकता हूँ। सवाल है कि जब मेरा अपना-पराया कोई नहीं तो अगुआई कौन करे? कौन मुझे कहीं उठा ले चले? अपना मरीज बनाकर बड़े सर्जनों को दिखाए? जागते हुए यथार्थ का यही दंश मेरी पोर-पोर में, रग-रग में व्याप रहा था। ठीक तभी दिल्ली से एक अनचीता ट्रंक काल आया नई पीढ़ी के एक चर्चित कथाकार अलमस्त पाल भसीन का : पल भर देर न हो। वैसे के वैसे चले आएँ : कुछ लाने की जरूरत नहीं है। पैसे भी नहीं।

+ + +

यहाँ कौन समझेगा गम की ज़ुबां को,
यही सोच कर बेज़ुबां हो गये हम!

चोट तथा भय से मस्तिष्क में धुँधलका-सा छाया रहता था।

गहरी खामोशी में होने का अहसास डूबता चला गया था, फिर भी जब-तब अपने मूक साथियों की याद उसे उतराने पर मजबूर करती थी। एक अजब-सा अलगाव महसूस होता था, जैसे मैं निरा दर्शक होऊँ—चाहा-अनचाहा जो हो रहा है, उसका। तपती स्मृति से चिनगारियाँ फूटती थीं; आँखों की बेबसी से झरने छूटते थे। बाहर से आती आवाजें मेरी जबदी चेतना को चौंका कर किवाड़ों के साथ बन्द हो जाती थीं !

साधना की चक्करदार सीढ़ियाँ चढ़ते समय साक्षी भाव के लिए मैंने प्रचुर पराक्रम दिखाया था; किन्तु वह सधा न था। अब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—सब तुरीयावस्था में परिणत हो गये थे। विषौषधियों का प्रभाव अनुभव के ही योग्य था। ऐसे में, जाने क्यों, अलग से 'मनुआँ'— उमा की नानी की याद आई। मुजफ्फरपुर से आए हुए से उमग कर पूछा। उसकी बोली लड़खड़ाई; घिग्घी बँध गई। खटका हुआ। आते समय देखा था, एकदम ठीक-ठाक थी। ऊपर की मंजिल से उतरते वक्त हर बार सीढ़ियों पर पाँव की धमक सुनते ही बोल उठती है, कृष्णायतन—अपनी गोशाला—की सारी गायों में अकेली वही। मैं भी आते-जाते उसका ही माथा और झालर सहला देता हूँ। वह मुझे दुलराती हैं तो मुँह और माथा—खर्र-खर्र—जीभ से चाटने लगती है। कीमती कपड़ों पर थोंथ से भुस्स चिपका देती है। कितना अच्छा लगता है यह सब !

मङ्गला बेटी नन्दिनी के साथ मेरे घर आई थी। मनुआँ नन्दिनी की बेटी है। शारदाचरण उकील की बनाई तस्वीरों के अलावा गौ की वैसी मूर्ति मैंने अन्यत्र नहीं देखी। नन्दिनी शरद पूनम की चाँदनी थी; बारीक धुनी हुई रुई की राशि; मल्लिका के फूलों से चीती हुई चतुष्पदी मातृ-मूर्ति।

मनुआँ उसी की बेटी है लेकिन इसका रंग साँझ-सकारे के बादलों जैसा है—ललाई लिए हुए सुनहरा। कद मझोला। गुलथुल शरीर। यह मर्म कोई ही कोई जानता होगा कि मेरा उससे किसी जनम का बहुत गहरा लगाव है। जब मैं पटना अस्पताल के लिए रवाना हुआ तो सारी की सारी गाएँ टकटकी लगाए हुए थीं; मगर मनुआँ का तड़पना देखा नहीं जाता था। झरझर-झरझर आँखों से आँसू झर रहे थे और वह खूँटा उखाड़ने के लिए पूरा जोर लगा रही थी। घर से

गेट तक की दूरी तय करने में जितनी देर लगी उतनी देर मैं उसे ही देखता रहा, फिर एम्बुलेंस सड़क पर आ गया।

अब वह नहीं रही, आगन्तुक की भाषा की मूकता चीख-चीख कर यही कह रही थी। छाया ने मना कर दिया था।

तो आते वक्त मनुआँ यही कह रही थी कि "मुझे छोड़कर मत जाओ। इस जनम में अब फिर मिलना न हो सकेगा। मैंने तुम्हें मानने में तो कभी कोताही नहीं की। अपनी जान से बढ़कर माना। तुम्हें ज्यादा और अपने बछड़े को कम दूध पिलाया। फिर ऐसी कौन-सी चूक हो गई, जो मुझे यों ही छोड़े दे रहे हो! तुम्हे देखे बिना मैं तो बचूँगी नहीं। आह! तुम्हें ही देखते-देखते मैं न मर सकी! तुम्हारे पीछे से मेरी मिट्टी गङ्गा न पहुँच सकेगी! अब यहीं मिट्टी में मिल जाऊँगी। लौट कर मुझे पुकारोगे तो मैं न बोलूँगी!···जाओ अन्तिम विदा···

"हाँ,···क्यों नहीं! तुम्हारा मारकेश मैं झेल लूँगी। तुम निश्चिन्त होकर जाओ। तुम्हारी पीड़ा मैं पी लूँगी, तुम्हारा बाल बाँका न होगा। तुम हँसी-खुशी लौट आओगे।

"मेरी नन्हीं-मुन्नी नातिन है न उमा, उसने जानबूझ कर तुम्हें नहीं मारा। उसकी गलती का ख्याल न करना। नातिन के अपराध के बदले मैं अपने प्राण देकर तुम्हें जिन्दा लौटा लाऊँगी। तुम्हारे ग्रहों की मार मैं अपने सिर-माथे ले लूँगी!···उससे बदला न लेना।"

फिर-फिर उसकी डबडबाई आँखें याद आती रहीं। मैं जिस तरह जहाँ गिरा था, पद्मा के सींग से कोंचने भर से वह वहीं उसी प्रकार ढेर हो गई और जिस दिन, जिस समय, मेरा लम्बा आपरेशन हो रहा था, उसने ठीक उसी समय अपनी आहुति दे दी।

"अरी ओ माँ, मुझे बचाने के लिए तूने अपनी जिन्दगी दाँव पर लगा दी! अब मैं तेरी ही अमानत हूँ, तुझे याद कर-कर के आठ-आठ आँसू बहाने के लिए ही बच गया हूँ, कोई मानेगा?"

चार महीने बीत गए। अस्पताल की कैद से छुट्टी मिल गई। एक काफिला मुझे यहाँ ले आया। कार से उतरते ही कुत्ते-बिल्लियों ने घेर लिया। गाएँ खूँटों से बँधी थीं, वहीं से रँभाने लगीं। मनुआँ का खूँटा उखाड़ फेंका गया था। वह जगह खाली थी। मैं पिताश्री की प्रतिमा पर झुक कर सीढ़ियों पर बैठ गया। देखा, मनुआँ के खूँटे को

जगह एक साया, जो जैसे छटपटा कर उठ खड़ा हुआ था, कराह कर बोला : आ गए ? जिओ ! फिर उसकी अपलक आँखों में आँसू चमक उठे !

ऐ गमे दुनिया, तुझे क्या इल्म, तेरे वास्ते
किन बहानों से तबीयत राह पे लाई गई ।

अभी कुछ ही दिन पहले एक हादसा हुआ था । डाक्टर रमेश के ग्रन्थ-विमोचन-समारोह के मुख्य अतिथि की हैसियत से जबलपुर जा रहा था । गाड़ी पर सामान लद चुका था, मैं पिता-श्री की प्रतिमा के पास सिर टेक कर यात्रा के लिए आदेश माँग रहा था कि निनी (बिल्ली) की बेटी किधर से भी अचानक आकर जल्दी-जल्दी मेरा माथा, मुँह चाटने लगी । लाख दुलराने पर भी गोद से उतरती न थी । मैंने छाया से पूछा : यह क्या हो रहा है ? इतने-इतने बिलौटों में अकेली यही क्यों विह्वल हो रही है ? आरक्षण का लफड़ा न होता तो मैं यह गाड़ी छोड़ देता !

हफ्ते भर बाद लौटने पर उत्तर मिला । वह जा चुकी थी । मुझे विदा देने के बाद न दूध पिया न अपनी माँ को कुछ कहा । मेरे बिस्तर पर तकिए पर सिर रख कर जैसे सोती थी, कई दिन सोती रही । तनिक-सी आहट मिलने पर बाहर निकल कर गेट की तरफ ताकने लगती थी । ताकती-ताकती ही चली गई ।

\+ +

नई दिल्ली स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हुई तो सब से पहले भसीन साहब दिखे, फिर इन्द्र जी, गौतम जी, बाबुल आदि । आगे एक्सप्रेस टेलिग्राम से आने की सूचना दे दीथी, यहाँ मालूम हुआ, कोई एलिग्राम -टेलिग्राम नहीं पहुँचा है ! आँखें फाड़े देखता-सुनता रहा । अब तो ये अपने हो लिए हैं, कैसे अलग होंगे मेरे दुर्भाग्य की बढ़ा-बढ़ी, चढ़ा-चढ़ी से ! तलाशता रहा खामोशी तोड़ने का मौका ।

कभी फूलों से हँसी सीखी थी; ओस कणों से निस्तेज आँखें आँजना: । अब मौसम बदल गया है । आँखें आप भरी-भरी रहती हैं । अन्तर तुषार-सा गलकर पलकों से छलक-छलक पड़ता है ।

जगह एक साया, जो जैसे छटपटा कर उठ खड़ा हुआ था, कराह कर बोला : आ गए ? जिओ ! फिर उसकी अपलक आँखों में आँसू चमक उठे !

ऐ गमे दुनिया, तुझे क्या इल्म, तेरे वास्ते
किन बहानों से तबीयत राह पे लाई गई ।

अभी कुछ ही दिन पहले एक हादसा हुआ था । डाक्टर रमेश के ग्रन्थ-विमोचन-समारोह के मुख्य अतिथि की हैसियत से जबलपुर जा रहा था । गाड़ी पर सामान लद चुका था, मैं पिता-श्री की प्रतिमा के पास सिर टेक कर यात्रा के लिए आदेश माँग रहा था कि निनी (बिल्ली) की बेटी किधर से भी अचानक आकर जल्दी-जल्दी मेरा माथा, मुँह चाटने लगी । लाख दुलराने पर भी गोद से उतरती न थी । मैंने छाया से पूछा : यह क्या हो रहा है ? इतने-इतने बिलौटों में अकेली यही क्यों विह्वल हो रही है ? आरक्षण का लफड़ा न होता तो मैं यह गाड़ी छोड़ देता !

हफ्ते भर बाद लौटने पर उत्तर मिला । वह जा चुकी थी । मुझे विदा देने के बाद न दूध पिया न अपनी माँ को कुछ कहा । मेरे बिस्तर पर तकिए पर सिर रख कर जैसे सोती थी, कई दिन सोती रही । तनिक-सी आहट मिलने पर बाहर निकल कर गेट की तरफ ताकने लगती थी । ताकती-ताकती ही चली गई ।

\+ +

नई दिल्ली स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हुई तो सब से पहले भसीन साहब दिखे, फिर इन्द्र जी, गौतम जी, बाबुल आदि । आगे एक्सप्रेस टेलिग्राम से आने की सूचना दे दीथी, यहाँ मालूम हुआ, कोई एलिग्राम -टेलिग्राम नहीं पहुँचा है ! आँखें फाड़े देखता-सुनता रहा । अब तो ये अपने हो लिए हैं, कैसे अलग होंगे मेरे दुर्भाग्य की बढ़ा-बढ़ी, चढ़ा-चढ़ी से ! तलाशता रहा खामोशी तोड़ने का मौका ।

कभी फूलों से हँसी सीखी थी; ओस कणों से निस्तेज आँखें आँजना: । अब मौसम बदल गया है । आँखें आप भरी-भरी रहती हैं । अन्तर तुषार-सा गलकर पलकों से छलक-छलक पड़ता है ।

भसीन साहब ने सर्व-श्री अमिताभ बच्चन और अटल बिहारी वाजपेयी की समवेत आशंसाओं से 'हेड' का चित्त चुरा लिया था; किन्तु उन्हें देश के बाहर का बुलावा था, जाना ही पड़ा। जब मैं पहुँचा, डा० एम० फारूक स्थानापन्न अध्यक्ष थे। लंच आवर होने की वजह से मेरी सीट की व्यवस्था में जो भी थोड़ा-सा समय लगा, मुझे आपरेशन थिएटर से जुड़े हाल में बैठाया हुआ था। भूख जोरों की लग रही थी। मन खिड़कियां तोड़ कर खोमचे वालों के गिर्द मंडरा रहा था। इधर, "पाँव गया कि मैं गया" की बावरी व्याकुलता मुझे यहाँ, इतनी दूर, आयुर्विज्ञान संस्थान में खींच लाई थी, तो भी यह बेशक भूख ही थी जो मुजफ्फरपुर से यहाँ तक बड़ी बेसब्री से मेरा पीछा करती चली आई थी और अभी बेशुमार लजीज चीजों की याद गुनगुना कर पेट में सतरंगी पेंगें भर रही थीं।

इमर्जेन्सी वाले गेट पर अकेली छाया जी भूखी-प्यासी सामान की देखभाल करती बैठी थीं। भसीन साहब अपनी लासानी तत्परता से भागम-भाग कागज-पत्तर की जाँच-पड़ताल करते-कराते चल रहे थे, जब भी मैं 'हिन्दुस्तान' और 'नवभारत टाइम्स' के अनुसार यहाँ तीन दिन पहले ही भर्ती हो चुका था। संभावित सीट की चादर और लिहाफ वगैरह बदलवाने तक में प्रायः तीन बज गए थे। कुछ देर इन्द्र जी मेरे साथ थे, वह डाक्टरों और नर्सों को आदतन ऊँचे-से-ऊँचे शब्दों में मेरा विवादास्पद परिचय दे रहे थे।

भरी दुपहरी की तीखी भूख ने जब सारे विशेषण इन्द्र जी द्वारा बरसा दिए, गौतम जी कहीं फुटपाथ से एक ठंडा डोसा लिए अन्दर आए। षड्रसों की ऐयाशी ऐसे ही समय जहर छहर जाती है। यहाँ पर खाना-पीना कतई मना है, एक आती-जाती नर्स चेतावनी दे रही थी। इतने में ओ० पी० के अँधेरे से बाहर निकले एक डाक्टर पर नजर पड़ी और मैंने सामने रखे डोसे की तरफ इशारा किया : खा लूँ? उन्होंने एक नजर दाएँ-बाएँ देख कर हल्की-सी हँसी बिखेरते हुए कहा : अच्छा खा लीजिए।

पलटकर पूछा : कहाँ से आए हैं? मैंने निष्फल जीवन के निःशब्द सूनेपन से पुलक-सिहर भरे दो शब्द घसीट कर बाहर निकाले : ऐसा भुक्खड़ बिहार के अलावा और कहाँ का होगा।

अरे नहीं!—वह बोले—तीन बज रहे हैं, हम सब लंच से ही तो लौटे हैं! भूख किसे नहीं लगती? दर असल यह जगह खाने की नहीं है! ओ०टी० से जो नीमहोश मरीज निकलते हैं या जो बाहर से आपरेशन के लिए थिएटर ले जाये जाते हैं, दोनों का यही पड़ाव है। फिर भी···अभी लंच आवर होने की वजह से खाली है। एक डोसे की ही तो बात है—कहते-कहते अन्दर चले गए!

सरापा तराशा हुआ-सा व्यक्तित्व, चौड़ा माथा, सरल-निर्मल दृष्टि, शहद-घुली-सी बोली! ये तो सर्जन से कहीं अधिक एक बंगाली प्रोफेसर दिखते हैं। ये अपने हाथों जिन्दा जिस्म पर कैसे छुरियाँ चलाते होंगे।

—कौर निगलते वक्त मैं यही सब सोच रहा था कि वह फिर निकले :

'हमारे हेड ऑफ द डिपार्टमेण्ट—दवे साहब, जो इन दिनों काबुल के दौरे पर हैं, जाते वक्त आपकी बावत बता गए हैं। मुझे डा० एम० फारूक कहते हैं। आपका आपरेशन मैं ही करूँगा!'

"जहे किस्मत। निस्बतन कम मर्तबे के सर्जनों का मारा हुआ हूँ, आसान फ़िक्री से यह कहना मुझे जेब नहीं देता। तमाशा हो गया यह तो, ऐसा समझना भी हिमाकत है।

"दबी जबां से कर्मों को बेशक कोसता हूँ। बजाहिर दुरुस्त नहीं है ऐसा करना, ताहम करता हूँ! दरअस्ल, फारूक साहब, मेरे कोई नहीं हैं जो इस उम्र में अन्धे की लाठी बन सके, बस, यही समझिए, उम्मीद का चिराग मायूसी की हवा के झोंके में ज्यों-त्यों झिलमिल कर रहा है! यूँ बिला किसी इरादे के तो हर्गिज यहाँ नहीं आया। आपकी बातों में कयामत का असर है डाक्टर साहब! मेरी मुसीबतें आपने सिलसिलेवार सुनीं तो हँस कर बोले : आप बेफिक्र हों; अब हमें फिक्र करने दें कि इससे कैसे निपटना होगा!

"और तब तो डाक्टर साहब, मेरे मुर्दा जिस्म में सुबहे-बहार की-सी ताजगी आ गई जब आपने फरमाया : आप यहाँ से अच्छे होकर ही जाएँगे!

'क़फ़स को तोड़कर उड़ जाता, ये तो मुमकिन था,
हमीं को रखना था सय्याद का भरम लोगो।'

अरे नहीं !—वह बोले—तीन बज रहे हैं, हम सब लंच से ही तो लौटे हैं ! भूख किसे नहीं लगती ? दर असल यह जगह खाने की नहीं है ! ओ०टी० से जो नीमहोश मरीज निकलते हैं या जो बाहर से आपरेशन के लिए थिएटर ले जाये जाते हैं, दोनों का यही पड़ाव है । फिर भी···अभी लंच आवर होने की वजह से खाली है । एक डोसे की ही तो बात है—कहते-कहते अन्दर चले गए !

सरापा तराशा हुआ-सा व्यक्तित्व, चौड़ा माथा, सरल-निर्मल दृष्टि, शहद-घुली-सी बोली ! ये तो सर्जन से कहीं अधिक एक बंगाली प्रोफेसर दिखते हैं । ये अपने हाथों जिन्दा जिस्म पर कैसे छुरियाँ चलाते होंगे ।

—कौर निगलते वक्त मैं यही सब सोच रहा था कि वह फिर निकले :

'हमारे हेड ऑफ द डिपार्टमेण्ट—दवे साहब, जो इन दिनों काबुल के दौरे पर हैं, जाते वक्त आपकी बावत बता गए हैं । मुझे डा० एम० फारूक कहते हैं । आपका आपरेशन मैं ही करूँगा !'

"जहे किस्मत । निस्बतन कम मर्तबे के सर्जनों का मारा हुआ हूँ, आसान फ़िक्री से यह कहना मुझे जेब नहीं देता । तमाशा हो गया यह तो, ऐसा समझना भी हिमाकत है ।

"दबी जबां से कर्मों को बेशक कोसता हूँ । बजाहिर दुरुस्त नहीं है ऐसा करना, ताहम करता हूँ ! दरअस्ल, फारूक साहब, मेरे कोई नहीं हैं जो इस उम्र में अन्धे की लाठी बन सके, बस, यही समझिए, उम्मीद का चिराग मायूसी की हवा के झोंके में ज्यों-त्यों झिलमिल कर रहा है ! यूँ बिला किसी इरादे के तो हर्गिज यहाँ नहीं आया । आपकी बातों में कयामत का असर है डाक्टर साहब ! मेरी मुसीबतें आपने सिलसिलेवार सुनीं तो हँस कर बोले : आप बेफिक्र हों; अब हमें फिक्र करने दें कि इससे कैसे निपटना होगा !

"और तब तो डाक्टर साहब, मेरे मुर्दा जिस्म में सुबहे-बहार की-सी ताजगी आ गई जब आपने फरमाया : आप यहाँ से अच्छे होकर ही जाएँगे !

'कफ़स को तोड़कर उड़ जाता, ये तो मुमकिन था,
हमीं को रखना था सय्याद का भरम लोगो ।'

× × ×

महामहोपाध्याय नारायण शास्त्री खिस्ते पधारे थे। कुछ दिन पहले बाबू साहब ने मुझे उनके पास (बनारस) भेजा था, तन्त्र शास्त्र के दो दुर्लभ ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ खरीदने के लिए। मैं खिस्ते जी के घर पर एक दिन रह आया था। दिव्य दमकते बर्तनों में महाराष्ट्र के ढंग का बना भोजन अब भी मुँह में षड् रसों का स्वाद जगा देता है। मैंने उनसे चर्चा नहीं की, उनके सुपुत्र बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते मेरे समवयस्क हैं और आज वह चाहे कितने बड़े कवि और विद्वान् हों, एक समय हम दोनों संस्कृत कवि-सम्मेलनों में साथ-साथ समस्या-पूर्तियाँ किया करते थे। कहीं मैं पदक जीतता था, कहीं वह। 'सुप्रभातम्' के सम्पादक ने मुझे डरा दिया था कि प्राचीन महाकवियों की परम्परा आज नारायण शास्त्री खिस्ते की वजह से ही जीवित है। सो भूलकर भी मैंने उनसे कविता की चर्चा नहीं की थी। मैं बाबू साहब का सन्देशवाहक मात्र था। तो भी चलते-चलते मुझसे एक चूक हो गई। मैंने तन्त्र के कुछ निगूढ़ रहस्यों पर, वार्ता के क्रम में, प्रकाश डालने के लिए अनुरोध कर दिया और उन्होंने मुझे तत्काल यह कह कर निरुत्तर कर दिया कि मैं मूर्द्धाभिषिक्त नहीं हूँ और यह भी कि शिष्य को ही गुप्त रहस्य बताया जाता है, दूसरे को नहीं!

इस पर मैं क्षण भर मौन रह कर, संस्कृत में बोला। संभव है संस्कृत बोलकर मैंने अपनी पात्रता प्रमाणित करनी चाही हो जो 'द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः' अथवा, 'इहाँ न लागहि राउरि माया' के यहाँ नितान्त निष्फल सिद्ध हुई हो!

'पुरस्ताद् भवादृशानां स्वाशय-प्रकाशनं नास्थाने नाकालेऽकाण्ड-ताण्डवमिव स्यादिति मन्ये। कर्णाकर्णिकयाऽऽकर्ण्य तन्त्रतत्त्वं समधिगतप्रत्यग्रचेतनेन तदातिशय्यम्प्रत्याययितुं प्रार्थिता भवन्तो शिष्यत्व-शुल्कं तज्ज्ञानं प्रख्यापयन्तीति विषीदति मन्मनः। भूम्नि सुखमनुमन्यमानानामल्पे पक्षपातः कं न विस्माययेत्? मय्युपदिष्टं नोसरे वर्षितं स्यादिति प्रतिजाने ततोहि धाराधरायतां ज्ञानाग्निरिह भावत्क इति भूयो भूयोऽभ्यर्थये।'

उन पर मेरी इस संस्कृत वक्तृता का कोई प्रभाव न पड़ता देख

× × ×

महामहोपाध्याय नारायण शास्त्री खिस्ते पधारे थे। कुछ दिन पहले बाबू साहब ने मुझे उनके पास (बनारस) भेजा था, तन्त्र शास्त्र के दो दुर्लभ ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ खरीदने के लिए। मैं खिस्ते जी के घर पर एक दिन रह आया था। दिव्य दमकते बर्तनों में महाराष्ट्र के ढंग का बना भोजन अब भी मुँह में षड् रसों का स्वाद जगा देता है। मैंने उनसे चर्चा नहीं की, उनके सुपुत्र बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते मेरे समवयस्क हैं और आज वह चाहे कितने बड़े कवि और विद्वान् हों, एक समय हम दोनों संस्कृत कवि-सम्मेलनों में साथ-साथ समस्या-पूर्तियाँ किया करते थे। कहीं मैं पदक जीतता था, कहीं वह। 'सुप्रभातम्' के सम्पादक ने मुझे डरा दिया था कि प्राचीन महाकवियों की परम्परा आज नारायण शास्त्री खिस्ते की वजह से ही जीवित है। सो भूलकर भी मैंने उनसे कविता की चर्चा नहीं की थी। मैं बाबू साहब का सन्देशवाहक मात्र था। तो भी चलते-चलते मुझसे एक चूक हो गई। मैंने तन्त्र के कुछ निगूढ़ रहस्यों पर, वार्ता के क्रम में, प्रकाश डालने के लिए अनुरोध कर दिया और उन्होंने मुझे तत्काल यह कह कर निरुत्तर कर दिया कि मैं मूर्द्धाभिषिक्त नहीं हूँ और यह भी कि शिष्य को ही गुप्त रहस्य बताया जाता है, दूसरे को नहीं!

इस पर मैं क्षण भर मौन रह कर, संस्कृत में बोला। संभव है संस्कृत बोलकर मैंने अपनी पात्रता प्रमाणित करनी चाही हो जो 'द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः' अथवा, 'इहाँ न लागहि राउरि माया' के यहाँ नितान्त निष्फल सिद्ध हुई हो!

'पुरस्ताद् भवादृशानां स्वाशय-प्रकाशनं नास्थाने नाकालेऽकाण्ड-ताण्डवमिव स्यादिति मन्ये। कर्णाकर्णिकयाऽऽकर्ण्य तन्त्रतत्त्वं समधिगतप्रत्यग्रचेतनेन तदातिशय्यम्प्रत्याययितुं प्रार्थिता भवन्तो शिष्यत्व-शुल्कं तज्ज्ञानं प्रख्यापयन्तीति विषीदति मन्मनः। भूम्नि सुखमनुमन्यमानानामल्पे पक्षपातः कं न विस्माययेत्? मय्युपदिष्टं नोसरे वर्षितं स्यादिति प्रतिजाने ततोहि धाराधरायतां ज्ञानाग्निरिह भावत्क इति भूयो भूयोऽभ्यर्थये।'

उन पर मेरी इस संस्कृत वक्तृता का कोई प्रभाव न पड़ता देख

मन झुँझला गया : ठीक है। तो अपने ही साथ ले जाइए अपना जाना-सुना-देखा और 'गोप्यं गोप्यं प्रयत्नतः' का नारा सारा का सारा ज्ञान-विज्ञान लुप्त कर दे तो कर दे।

उन्होंने शिष्य न होने के मेरे आग्रह पर आपत्ति की तो मैंने निर्भय शङ्का-समाधान की छूट जाती रहेगी, यही कारण बताया। फिर कहा : शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वाम्प्रपन्नम् ! कहने वाले अर्जुन ने भी तो यही कहा था कि मैं आपकी शरण में आया हूँ, शिष्य हूँ आपका, मुझे उपदेश दीजिए।

मन्त्र लेने या दीक्षित होने की तो कोई बात नहीं कही थी अर्जुन ने, फिर 'क्रमशो हीयमाने वैदिकाचारगौरवे, क्षीयमाणज्योतिषि स्मार्त-राजपथे दुर्दिनाच्छन्न-प्रभाकरे कालेऽस्मिन्नौत्सुक्योच्छलच्चेतसो मे जिज्ञासा किमिव न शमनीया प्राक्तन-सर्वाङ्गसम्पन्नमनीषा-महितैर्महद्भिः।''

खिस्ते जी फिर भी टस से मस न हुए।

'जिस शहर में फुटपाथ भी खाली नहीं मिलते
उस शहर में रहने को मकां ढूंढ़ रहा था!,

वही खिस्ते जी श्री-विद्या के श्री-समृद्ध साधक बाबू साहब के काठ बंगले में ठहरे हुए हैं और चटुल चाटूक्तियों से श्रोताओं का मन मोह रहे हैं।

संस्कृत के दो बड़े कवियों की एक-सी आँखें मेरी तितली-चेतना के हरघड़ी फड़कते पंखों में चुभी हुई थीं। यहाँ कविशेखर पण्डित बदरीनाथ झा की आँखें (समदृष्टि; ऐंचाताना) जैसी थीं, खिस्ते जी की भी हू-ब-हू वैसी ही थीं। जब भी भव्यता इनके चेहरे पर अधिक थी जो कई रंगों के चन्दन-टीकों के कारण प्रभाव-विस्तार में विपुल और विस्तृत प्रतीत होती थी। काशी अपने घर में थे, यहाँ दर्शकों और श्रोताओं के बीच में। अन्तर होना ही था।

प्रशस्ति के क्रम में उन्होंने बाबू साहब के भेजे पत्रों की चर्चा की : 'चमत्कार संस्कृत कि पद-पद पर 'दण्डिनः पदलालित्यम्' स्मरण हो आता। मैंने कतिपय विद्वानों को भी सुनाया था। सब आश्चर्य-चकित थे।'

मैंने कहा : बचपन में बाबू साहब को बच्चा झा जी संस्कृत पढ़ाते थे। लघु सिद्धान्त कौमुदी का मङ्गलाचरण आरम्भ किया तो 'शुद्धां गुण्याम् पर सप्ताह भर तक गड़गड़ाते रहे। फिर क्या? 'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्' का ही प्रताप है यह सब···

मैं अभी बोल ही रहा था कि बाबू साहब ने हँस कर मेरी ओर संकेत किया : किन्तु वे सारे के सारे पत्र मेरे नहीं, इन्हीं के, शास्त्री जी के ही, लिखे हुए थे···

नारायण शास्त्री जी ने अपनी श्रीचक्र-जैसी आँखें उठाकर कहा : ऐसा? मुझे एकबार सन्देह हुआ था, जब यह काशी में मुझसे मिले थे। जब-जब संस्कृत बोलते, भवभूति की-सी लच्छेदार भाषा···हाँ', बाबू साहब अधबीच में ही बोल उठे—इन्हें भवभूति अत्यन्त प्रिय हैं। एक दिन मुझे भी सस्वर चण्डिका-ताण्डव सुनाया तो मैं निर्वाक् रह गया था। शिवताण्डव के साथ शङ्कराचार्य्य का अम्बाष्टक सुना कर भी मुझे इन्होंने इसी प्रकार अभिभूत किया था। इनका श्लोक पढ़ना आपने नहीं सुना, मैंने तो वैसा अन्यत्र कहीं सुना ही नहीं।

खिस्ते जी ने आग्रह के साथ मुझसे पूछा—

'कालिदास को छोड़कर आपको भवभूति क्यों प्रिय हैं?'

'छोड़ कर नहीं—मैंने कहा,—'कालिदास तक तो कोई पहुँचता ही नहीं। उनके बाद·········और वह भी उसी गुण के कारण जिसके वह स्वयं दावेदार हैं—वाग्वश्येवानुवर्तते ! भाषा पर ऐसा अद्भुत अधिकार और कहाँ देखने को मिलता है? महाकवि धनपाल ने अपनी 'तिलकमञ्जरी' में भवभूति की भारती की तुलना नटी-नर्तकी से की है जो भाव और रस की स्पष्ट अभिव्यक्ति देती है, और पद-विन्यास भी उसी हाव-भाव से करती है—

स्पष्ट-भाव-रसा, चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना।

आचार्य्य गोवर्द्धन ने कहा है—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति
एतत्कृत-कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा !

भवभूति (शङ्कर की विभूति) के सम्बन्ध से भारती गङ्गा ही हो गई हैं। और नहीं तो क्यों, जब यह करुणा की धारा बहाते हैं, तब और तो और, पत्थर भी रो पड़ते हैं?

कालिदास में पारदर्शिता है, इनमें गहनता। कालिदास कैलास हैं, भवभूति हरित-श्याम सागर। ऊँचाई दिख जाती है, गहराई डूबकर मापी जाती है। बाण ने अलङ्कृत गद्य लिखा है और माघ ने अलङ्कार-झङ्कार-भरे पद्य। भवभूति गद्य में पद्य में समाभ्यस्त हैं। मुरारि में प्रौढ़ि और परिणति तो है, किन्तु भवभूति का-सा (एते ते कुहरेषु गद्‌गद-नदद्-गोदावरी-वारयो) प्रचण्ड प्रवाह नहीं है। मुँदरी में नगीने जड़े हैं। खूब फबते हैं।

मुरारि तक राम कथा नाटकीय शाखा-प्रशाखाओं में फैल कर भास, दिङ्नाग, भवभूति आदि को साहित्य में पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान कर चुकी थी। रामायण का उत्तर काण्ड इन कवियों को कलम के जादू के सामने फीका पड़ गया था। महावीर चरित के बाद अनर्घराघव की रचना करना मुरारि के ही बल-बूते का काम था। 'भवभूति मनादृत्य मुरारि मुररी कुरु' महावीर चरित को ध्यान में रखकर ही कहा गया होगा, उत्तर रामचरित के 'एको रसः करुण एव' का आस्वादन कर चुकने पर कदापि नहीं।

अनेक भावनाओं के संश्लेषण का परिणाम भाव होता है। सुख-दुख के द्वन्द्वात्मक भावों के घात-प्रतिघात से जीवन में नाटकीयता आती है। केवल सरल संवादों से नाटक की रूप-रेखा नहीं तैयार होती। इस दृष्टि से भवभूति मुरारि से कहीं बड़े नाटककार सिद्ध होते हैं जब भी नाट्य-कला-कौशल में कालिदास का समकक्ष कोई नहीं है।

भवभूति के पहले रामकथा को नाटकीय रूप देनेवाले भास हैं। भास के अभिषेक और प्रतिमा नाटक ही भवभूति के महावीर चरित तथा उत्तर रामचरित के प्रेरणा-स्रोत हैं। इतने पर भी भवभूति ने कालिदास का ही अनुसरण किया है। उनकी दृश्य-रचना, चरित्र-चित्रण आदि सकल नाट्य-काव्यकला को भरपूर पचाया है और अपनी ओर से उसे आगे बढ़ाने का भी जी-तोड़ प्रयास किया है। हाँ, माँ से अधिक माने, वह डायन कहलाए! कोई कालिदास की भूमि से उड़े तो आकाश कहाँ पाए?

सुस्पष्ट शब्दों में नाटक की आत्मा रस है। प्लाट या इतिवृत्त तो भरत के शब्दों में 'इतिवृत्तं तु नाट्यस्य (काव्यस्य) शरीरं परिकीर्तितम्' शरीर भर है। भवभूति शरीर की,—शब्द और अर्थ की रम्य रचना में रम जाते हैं तो परिसंवाद की सहजता की चिन्ता ही छोड़ देते हैं। कवित्व नाटकीयता पर यों चढ़ जाता है कि उनके प्रत्येक पात्र को पण्डित होना आवश्यक है। पण्डित भी निरा वैयाकरण या मीमांसक नहीं, गद्य-पद्य की रुचिर रचना को प्रौढ़ि एवं विदग्धता के साथ शाब्दिक प्रस्तुति देनेवाला।

खिस्ते जी ने कहा—

भवभूति ने तो स्वयं स्वीकार किया है—यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च (हँसकर पूरा श्लोक मैंने पढ़ा और बाबू साहब को उसका अर्थ भी समझा दिया—)

ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः कश्चिद् गुणो नाटके
यत्प्रौढित्व मुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्य-वैदग्ध्ययोः

कि मैंने जो चारों वेद पढ़े; उपनिषदों और सांख्य-योग-दर्शनों का गम्भीर ज्ञान अर्जित किया, उनकी यहाँ विस्तृत चर्चा बेकार है, क्योंकि' उस सबसे नाट्यकला का क्या आता-जाता है?

हाँ, वाणी में प्रौढ़ि, उदारता और अर्थ गौरव हो तो पाण्डित्य और वैदग्ध्य का उसी से अनुमान हो जायगा! पढ़ने-सुनने वाले समझ जाएँगे कि यह किसी कोरे नाट्य-शिल्पी का कला-कौशल मात्र नहीं है! प्रत्युत इसका प्रयोक्ता शास्त्रज्ञ महापण्डित नाटककार है!

यह दर्पोक्ति भी कालिदास की अतिशय विनम्रता—

[आपरितोषाद् विदुषां
न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्
वलवदपि शिक्षिताना—
मात्मन्यप्रत्ययं चेतः।

जब तक सहृदय दर्शकों को पूरा-पूरा सन्तोष न हो; वह दिल खोल कर न सराहें, वाह-वाह न कह उठे, तब तक अपने शिल्प पर

भरोसा करना बेकार है! सच तो यह कि कोई कैसा भी लिखा-पढ़ा हो; तत्त्वज्ञ और मर्मज्ञ हो; अपने विषय में औरों की क्या राय है—यह जानने के लिए उसके हृदय में हलचल मची ही रहती है!] का विलोम है; दूसरा छोर है।

नहीं तो एक ओर इनका दम्भ-दर्प वेद-वेदाङ्ग के साङ्गोपाङ्ग ज्ञान का, दूसरी ओर कालिदास की तिनके की-सी विनय और वह सारस्वत सामर्थ्य कि उन्होंने वेद पढ़ने की नहीं, ऋचाएँ गढ़ने की क्षमता प्रदर्शित कर विद्वान कवियों के समक्ष अदृष्टपूर्व प्रतिभा का एक रजत-शिखर ही उद्घाटित कर दिया है—

अमी वेदीम्परितः क्लृप्त धिष्ण्याः
समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः
अपध्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै
र्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु!

To spend too much time in studies is sloth; to use them too much for ornament is affectation; to make judgement wholly by their rules is the humour of the scholar. —Bacon.

शङ्कर की 'आनन्द लहरी' में एक अद्भुत उक्ति है—गाढ़े औटे, बलाईदार दूध, घी, अंगूर और शहद की मिठास को एकदम खोलकर नहीं बताया जा सकता। जीभ अनुभव तो करती है, पर साफ-साफ बता सकना उसके बूते के बाहर है। उसी प्रकार तुम्हारी सुन्दरता परम शिव ही ठीक-ठीक निहार सकते हैं। वह उन्हीं की आँखों में समा सकती है। दूसरे देखने वालों की तो आँखें ही चुँधिया जाएँगी। 'शिव' हो 'सुन्दर' देख सकता है! मैं उसे अटकल से कैसे बखान सकता हूँ?

घृत-क्षीर-द्राक्षा-मधु-मधुरिमा कैरपि पदै—
विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः
तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः
कथंकारं ब्रूमः सकल-निगमागोचरगुणे!

कविता का सत्य सौन्दर्य्य है। सौन्दर्य्य बाह्य जगत् में भी है,

अन्तर्जगत् में भी। शेक्सपियर दोनों के अकेले चितेरे थे—

O Nature ! O Shakespeare !
Which of ye drew from the other !

मैं इसे कालिदास की बोली में बोलना चाहूँगा—

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेष—
मधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्य—
स्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ?

बड़रा अँखियोंवाली पार्वती ने हवा में झुक-झुक उझक-उझक कर झूमते हुए नीलकमलों-जैसी चकित चितवन हिरनियों से पाई या हिरनियों ने उनसे चुराई ?

सुन्दरता कालिदास की ही आद्य सृष्टि है, कौन कह सकता है !

महामहोपाध्याय जी ने कहा कि वह कुमारसम्भव को कालिदास की कृति नहीं मानते, क्योंकि उसमें माता-पिता के समान शङ्कर-पार्वती का शृङ्गार वर्णित है !

मैंने कहा, इस अनौचित्य की ओर उँगली उठानेवाले आनन्दवर्द्धन ने हजार बरस पहले उसे संकेत से, कालिदास की ही रचना मानकर समाधान निकाला है। अब आप उन्हें भी न मानें, तभी आपकी बात बनेगी। क्योंकि आप जिसे अश्लीलता कहते हैं उसका आरम्भ शकुन्तला या कुमारसम्भव से नहीं हुआ है। मैं यहां ऋग्वेद, यजुर्वेद की चर्चा न करूँगा, व्यर्थ ही विस्तार में जाना होगा। कालीकर्पूर के-से—

श्मशानस्ये तल्पे शवहृदि महाकाल-सुरत-
प्रसक्तां त्वां ध्यायन् जननि जडचेता अपि कविः

× × ×

त्रिपञ्चारे पीठे शवशिवहृदि स्मेरवदनां
महाकालेनोच्चैर्मदनरसलावण्यनिरताम्
समासक्तो नक्तं स्वयमपि रतानन्दनिरतो
जनो यो ध्यायेत्त्वामपि जननि स स्यात् स्मरहरः।

तान्त्रिक-मान्त्रिक चमत्कारों का प्रसङ्ग उठाना भी नहीं चाहता। हाँ, आदि कवि के सुन्दर काण्ड के बारे में आपका क्या विचार है? आप उसे वाल्मीकि की रचना मानते हैं या नहीं? उसमें ब्रह्मचारी हनूमान सती-शिरोमणि देवी सीता से जिस भाषा में वार्तालाप करते हैं उसे याद कीजिए। रचना महर्षि वाल्मीकि की, वक्ता ब्रह्मचारी, बोद्धव्य देवी सीता। ब्रह्मचारी पूछता है—

का त्वं पद्म-पलाशाक्षि क्लिष्टकौशेयवासिनि

× × ×

वसूनां वा वरारोहे ! मरुतां वा वरानने !

× × ×

त्वामाह स वरारोहे वसन्तीं रावणालये !

× × ×

को नु पुत्रः पिता भ्राता भर्ता वा ते सुमध्यमे !

× × ×

कोपाद्वा यदि वा मोहाद् भर्तारमसितेक्षणे !

—अरी ओ कमल की पाँखुरियों-सी आँखोंवाली !
सुन्दर जांघोंवाली ! भोले-भाले मुखड़ेवाली !
पतली कमरवाली ! कारी-कजरारी आँखोंवाली !

आप इन ऐसे सम्बोधनों से क्या निष्कर्ष निकालेंगे? यही न कि ब्रह्मचारी के मन में मैल नहीं है। वह सीता की जैसी छलकी पड़ती सुन्दरता देख रहा है, निश्छल भाव से उसे ही खोले दे रहा है।

कुमारसम्भव के ब्रह्मचारी स्वयं भगवान् शङ्कर हैं, उनसे पार्वती की तपस्या का रहस्य अविदित नहीं। वह जानते हैं कि—

'बरौं संभु न तु रहौं कुमारी'

का संकल्प लिए हुई को परखने का स्वाङ्ग रच रहे हैं वह। इसलिए

जव कवि-गुरु कालिदास उनसे—

'वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ?'

पुछवाते हैं, तब सुन्दरता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। प्रत्येक सम्बोधन पार्वती के प्रति उनके निगूढ़ अनुराग को परत-दर-परत उघाड़ता चला जाता है। यही कालिदास की कला है; एक-एक रेखा दो-दो तसवीरें उरेह रही है।

कालिदास ने तहजीब और तरतीब दोनों को समतोल रक्खा है। क्रान्तदर्शी वाल्मीकि को आधुनिक सभ्य लोगों का ध्यान न रहा, इसलिए वह कुछ का कुछ लिख गए।

ब्रह्मचारी हनूमान को बन्दर-भालू घेर कर बैठते हैं और सती सीता का हालचाल पूछते हैं तब वह आँखों देखी, कानों-सुनी यों बखानते हैं—

(क) **कथंचिन्मृगशावाक्षी तूर्णमासादिता मया।**

(ख) **तं दृष्ट्वाऽथ वरारोहा सीता**..........
संकुच्योरू स्तनौ पीनौ बाहुभ्यां परिरभ्य च। इत्यादि

इस यथातथ्य वर्णन को सहज-सरल भाव से लेने पर अनिष्टकारी प्रभाव नहीं पड़ सकता। बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अजन्ता के भित्तिचित्रों और एलोरा की निष्प्रतिम प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। कोई रसिक लालसी वैसी अनवद्य सुन्दरता गढ़ ही नहीं सकता। कालिदास ऋषि थे, कला के देवता थे, तभी कुमारसम्भव की सुन्दरता सिरज सके; मेघदूत में सौन्दर्य के बादल उमड़ा सके। यहाँ फ्रायडपंथी भी दमित वासना का कलात्मक विस्फोट ही बताएँगे। शमित न मानने वाले दमित ही मानें, किन्तु ललाटन्तप लम्पटता तक पहुँची हुई भोगलिप्सा—

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ
गन्तुम्प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन
व्यलीकनिःश्वासभिवोत्ससर्ज।

तान्त्रिक-मान्त्रिक चमत्कारों का प्रसङ्ग उठाना भी नहीं चाहता। हाँ, आदि कवि के सुन्दर काण्ड के बारे में आपका क्या विचार है? आप उसे वाल्मीकि की रचना मानते हैं या नहीं? उसमें ब्रह्मचारी हनूमान सती-शिरोमणि देवी सीता से जिस भाषा में वार्तालाप करते हैं उसे याद कीजिए। रचना महर्षि वाल्मीकि की, वक्ता ब्रह्मचारी, बोद्धव्य देवी सीता। ब्रह्मचारी पूछता है—

का त्वं पद्म-पलाशाक्षि क्लिष्टकौशेयवासिनि

× × ×

वसूनां वा वरारोहे ! मरुतां वा वरानने !

× × ×

त्वामाह स वरारोहे वसन्तीं रावणालये !

× × ×

को नु पुत्रः पिता भ्राता भर्ता वा ते सुमध्यमे !

× × ×

कोपाद्वा यदि वा मोहाद् भर्तारमसितेक्षणे !

—अरी ओ कमल की पाँखुरियों-सी आँखोंवाली !
सुन्दर जांघोंवाली ! भोले-भाले मुखड़ेवाली !
पतली कमरवाली ! कारी-कजरारी आँखोंवाली !

आप इन ऐसे सम्बोधनों से क्या निष्कर्ष निकालेंगे? यही न कि ब्रह्मचारी के मन में मैल नहीं है। वह सीता की जैसी छलकी पड़ती सुन्दरता देख रहा है, निश्छल भाव से उसे ही खोले दे रहा है।

कुमारसम्भव के ब्रह्मचारी स्वयं भगवान् शङ्कर हैं, उनसे पार्वती की तपस्या का रहस्य अविदित नहीं। वह जानते हैं कि—

'बरौं संभु न तु रहौं कुमारी'

का संकल्प लिए हुई को परखने का स्वाङ्ग रच रहे हैं वह। इसलिए

जब कवि-गुरु कालिदास उनसे—

'वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ?'

पुछवाते हैं, तब सुन्दरता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। प्रत्येक सम्बोधन पार्वती के प्रति उनके निगूढ़ अनुराग को परत-दर-परत उघाड़ता चला जाता है। यही कालिदास की कला है; एक-एक रेखा दो-दो तसवीरें उरेह रही है।

कालिदास ने तहजीब और तरतीब दोनों को समतोल रक्खा है। क्रान्तदर्शी वाल्मीकि को आधुनिक सभ्य लोगों का ध्यान न रहा, इसलिए वह कुछ का कुछ लिख गए।

ब्रह्मचारी हनूमान को बन्दर-भालू घेर कर बैठते हैं और सती सीता का हालचाल पूछते हैं तब वह आँखों देखी, कानों-सुनी यों बखानते हैं—

(क) **कथंचिन्मृगशावाक्षी तूर्णमासादिता मया।**

(ख) **तं दृष्ट्वाऽथ वरारोहा सीता**...........

संकुच्योरू स्तनौ पीनौ बाहुभ्यां परिरभ्य च। इत्यादि

इस यथातथ्य वर्णन को सहज-सरल भाव से लेने पर अनिष्टकारी प्रभाव नहीं पड़ सकता। बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अजन्ता के भित्तिचित्रों और एलोरा की निष्प्रतिम प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। कोई रसिक लालसी वैसी अनवद्य सुन्दरता गढ़ ही नहीं सकता। कालिदास ऋषि थे, कला के देवता थे, तभी कुमारसम्भव की सुन्दरता सिरज सके; मेघदूत में सौन्दर्य के बादल उमड़ा सके। यहाँ फ्रायडपंथी भी दमित वासना का कलात्मक विस्फोट ही बताएँगे। शमित न मानने वाले दमित ही मानें, किन्तु ललाटन्तप लम्पटता तक पहुँची हुई भोगलिप्सा—

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ
गन्तुम्प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन
व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज।

बेशी देखने को नहीं मिलता।'

खिस्ते जी और बाबू साहब अभी और क्या-क्या बोलते-बतराते रहे। मैं मगर नमस्कार कर उठ खड़ा हुआ कि कालेज जाने का समय हो गया है।

पण्डित धर्मदत्त झा जी बच्चा झा के नाम से विख्यात थे। वह मिथिला के विद्वानों के सिरमौर थे। इधर बाबू उमाशङ्कर प्रसाद जी भी घर और नगर में बच्चा बाबू के नाम से ही जाने जाते थे। जब यह कालेज स्थापित हुआ था (यह एक विचित्र योगायोग है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और मुजफ्फरपुर के धर्मसमाज संस्कृत कालेज की स्थापना मेरे जन्म के साल ही हुई थी।) बच्चा झा जी ही इसके संस्थापक प्राचार्य्य हुए थे और वह यहीं (बच्चा बाबू के यहाँ) रहते थे। यहीं के फिटन से कॉलेज जाते थे। आज दिन वही सुविधा मुझे प्राप्त थी। डेढ़ टके की नौकरी; कौड़ी का तीन मैं; किन्तु दो घोड़ों-जुते लैंडो पर बैठकर ही पढ़ाने जाता था।

शहर की मशीनी जिन्दगी एक पल को दिखती थी फिर लैंडो की मेहरबानी से गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के कैम्पस में दाखिल। पोर्टिको में घोड़ों की टाप गूँजती तो व्यङ्ग्य-भरी मुस्कान चन्दन-चर्चित चेहरों पर खिल उठती थी।

इस सुख-सौभाग्य-सुविधा को मैं बहुत दिन न झेल सका। एक झटके में रमना छोड़ दिया। चौरस्ते की जिन्दगी में लौट आने पर भाग कर पैदल कॉलेज पहुँचता था और कूदकर अपनी जगह जा बैठता था। और उतने जप-तप और बाबू साहब की मेहनत-मसक्कत से मिली यह नौकरी भी मैंने आठवें साल एक अदना-सी बात पर, आन की आन में ठुकरा दी। बड़े ही तनावपूर्ण वातावरण में मेरी नियुक्ति हुई थी। विद्यार्थियों की बेपनाह खुशी के सबब ही मैंने आठ साल पार किये थे, नहीं तो उस दकियानूस माहौल में, अपने ही बनाए घेरे में घूमते हुए बड़े-बुजुर्गों के साथ ताल मेल बैठाना हँसी-खेल न था। मेरी विनय भी विद्या की तरह ही प्राचार्य्य को अग्राह्य थी। जो उन-जैसा नहीं, वह और कैसा भी हो सकता था। वह ज्योतिषी थे, उनके आधुनिक शिक्षा-दीक्षा-सम्पन्न सभी लड़के मुझे बहुत मानते थे। सरल भी थे कि वह यह सब स्वयं मुझ से कहते रहते थे। किन्तु

बेशी देखने को नहीं मिलता।'

खिस्ते जी और बाबू साहब अभी और क्या-क्या बोलते-बतराते रहे। मैं मगर नमस्कार कर उठ खड़ा हुआ कि कालेज जाने का समय हो गया है।

पण्डित धर्मदत्त झा जी बच्चा झा के नाम से विख्यात थे। वह मिथिला के विद्वानों के सिरमौर थे। इधर बाबू उमाशङ्कर प्रसाद जी भी घर और नगर में बच्चा बाबू के नाम से ही जाने जाते थे। जब यह कालेज स्थापित हुआ था (यह एक विचित्र योगायोग है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और मुजफ्फरपुर के धर्मसमाज संस्कृत कालेज की स्थापना मेरे जन्म के साल ही हुई थी।) बच्चा झा जी ही इसके संस्थापक प्राचार्य्य हुए थे और वह यहीं (बच्चा बाबू के यहाँ) रहते थे। यहीं के फिटन से कॉलेज जाते थे। आज दिन वही सुविधा मुझे प्राप्त थी। डेढ़ टके की नौकरी; कौड़ी का तीन मैं; किन्तु दो घोड़ों-जुते लैंडो पर बैठकर ही पढ़ाने जाता था।

शहर की मशीनी जिन्दगी एक पल को दिखती थी फिर लैंडो की मेहरबानी से गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के कैम्पस में दाखिल। पोर्टिको में घोड़ों की टाप गूँजती तो व्यङ्ग्य-भरी मुस्कान चन्दन-चर्चित चेहरों पर खिल उठती थी।

इस सुख-सौभाग्य-सुविधा को मैं बहुत दिन न झेल सका। एक झटके में रमना छोड़ दिया। चौरस्ते की जिन्दगी में लौट आने पर भाग कर पैदल कॉलेज पहुँचता था और कूदकर अपनी जगह जा बैठता था। और उतने जप-तप और बाबू साहब की मेहनत-मसक्कत से मिली यह नौकरी भी मैंने आठवें साल एक अदना-सी बात पर, आन की आन में ठुकरा दी। बड़े ही तनावपूर्ण वातावरण में मेरी नियुक्ति हुई थी। विद्यार्थियों की बेपनाह खुशी के सबब ही मैंने आठ साल पार किये थे, नहीं तो उस दकियानूस माहौल में, अपने ही बनाए घेरे में घूमते हुए बड़े-बुजुर्गों के साथ ताल मेल बैठाना हँसी-खेल न था। मेरी विनय भी विद्या की तरह ही प्राचार्य्य को अग्राह्य थी। जो उन-जैसा नहीं, वह और कैसा भी हो सकता था। वह ज्योतिषी थे, उनके आधुनिक शिक्षा-दीक्षा-सम्पन्न सभी लड़के मुझे बहुत मानते थे। सरल भी थे कि वह यह सब स्वयं मुझ से कहते रहते थे। किन्तु

अपना प्रण तोड़ते न थे। वह बन्द गले का कोट और विलायती जूते पहनते थे, उनकी दृष्टि में यही वेश ब्राह्मणोचित था। मैं जो बंगाली कुर्त्ता और कानपुरी चप्पल पहनता था, वह अशोभन था और लम्बे बाल रखना तो ठेठ उदयशङ्कर होने का प्रमाण भी था, विवेकानन्द के चरण-चिह्नों पर चलने का किसी भी मूल्य पर नहीं!

B.H.U. के ओरिएण्टल कॉलेज ऑफ लर्निंग में, गुरुदेव श्री महादेव शास्त्री जी कहते थे, मैं वहाँ इस लिए नहीं चुना जा सकता था कि सरयूपारीण न था। यहाँ इतनी विनम्रता दिखाने के बाद भी आरम्भ में इस लिए स्नेह का अधिकारी नहीं समझा जा रहा था कि मैं मैथिल न था।

'तीन कनौजिए, तेरह चूल्हे'—कहावत भर है। ब्राह्मण, सभी हाँफते-हाँफते एक दूजे पर दोनों हाथ लट-पट करते देखे जा सकते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रवर्तक चाहे जो कोई भी रहे हों, क्रमशः उसके टूटते चले जाने की खास वजह ब्राह्मणों की लाल-पीली धर्म नीति और भैंसालोटन सङ्कीर्णता ही है। ठकाठक बजती खड़ाऊँ आज जूते बेच रही है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का पौराणिक महोच्चार जमी हुई सभा में दिङ्नागों के स्थूल हस्तावलेप का तमाशबीन भर रह गया है।

कॉलेज से लौटते समय, रास्ते-रास्ते, खिस्ते जी से, मन ही मन बतिया रहा था—"प्रत्यागमं पुनरिह स्वगतचिन्तयाऽभिहतो भवत्सान्निध्यसुखमनुभवितुम्। नापराद्धं यद्यपि सकृदपि मया विप्रवंशविशेषे लब्धजन्मना, व्यक्तं विपरिणामस्तथापि बहुशोऽनुभूत इति। 'दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुष'मित्युक्ति र्नोत्पादयति प्रभूतं विस्रम्भसंरम्भम्। नापराध्यति तदपि न शुध्यतिमनोमे। अकथितोऽप्यनुमीयत एव चलदक्षि-भ्रूकुटि-खलाखिलव्याहारोऽशनिप्रहारसमशीर्षः। भवन्तमुपागतः प्रष्टुमुद्धर्तुंकामोनिपानसलिलाद् गाङ्गेयपुलिनप्राप्त्युपायम्।'

वह हँसे कि सरकारी नौकरियों में सब जगह ऐसा ही कोई-न-कोई चक्कर रहता है। स्थानीय रीति-नीति के दलदल से ऊपर उठकर सुगन्ध फैलाने का प्रयास करें, यही श्रेयस्कर है। कठिनाइयाँ हमने भी बहुत झेली हैं—

यह मेरा मानस एकालाप मात्र था जो डेरे पर पहुँचते ही समाप्त

हो गया। गालिब वाला किस्सा दुहराया गया था। नौकरी के मजे मुझे रास नहीं आ रहे थे। मन ही मन बुद्‌बुदा रहा था—

'प्रतिजाने पुनः पुनर्भणिति-परिवृत्तिमसहमानो नानुमातुं विपक्ष-दक्षताम्। विश्राम्यामि तावन्निर्मक्षिकं पदमेतदच्छम्।'

शाम के झुटपुटे में बाहर निकल कर उँगलियाँ चटखा रहा था जब बंगले से बुलावा आया। खिस्ते जी ने याद किया था। जाने पर सस्मित सुहाना प्रश्न पूछा—आज क्या-क्या पढ़ाया? मैंने कहा—काव्यप्रकाश और नैषध। काव्यप्रकाश में क्या?—उनका अगला सवाल था। 'अर्थ-व्यञ्जकता', मेरा अति संक्षिप्त उत्तर था।

बाबू साहब ने बताया कि वह आपकी अध्यापनशैली की बानगी चाहते हैं।

मैं हँसा—माइक पर जैसा बोलता हूँ, वैसा यहाँ कहाँ बोल पाता हूँ? माहौल से उत्तेजना होती है, स्वर में प्रखरता आती है, कम्यनिकेशन की सामर्थ्य बढ़ जाती है। बन्द कमरे में घुटती-घुटती-सी आवाज, मिमिया कर सानुनासिक स्वर में विषय बोलना,—बात बनती नहीं है। क्लास का आभास तो मिलने से रहा, हाँ, मेरा कुछ टेस्ट-वेस्ट हो सकता है तो हो जाए!

अकबर को नींद आ गई सहरा को देख कर
अब्बास झूमने लगे दरिया को देख कर

"मम्मट भट्ट आगे तीन प्रकार के शब्द बता चुके हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक। अर्थ भी उनके तीन प्रकार के—वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य बताए जा चुके हैं। इतना ही नहीं, शाब्दी व्यञ्जना का स्वरूप-निरूपण उदाहरणों-समेत किया जा चुका है अब वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य—तीनों प्रकार के अर्थों की व्यञ्जकता पर प्रकाश डाला जा रहा है; लक्षण और उदाहरणों द्वारा अर्थों के व्यञ्जकत्व की सामर्थ्य विशद की जा रही है।

'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते'—इति कारिकया ऽऽचार्य्य मम्मटो द्वितीयोल्लासेऽर्थव्यञ्जकतां यथायथं प्रोक्तवान्। इह पुनः स तत्स्वरूपं निरूपयितुं प्रयतते। अर्थ-व्यञ्जना किंरूपेत्येव

व्याकर्तुं चेष्टते।

उद्योतकृता प्रदीपमनुवर्तमानेन—'नियन्त्रितार्थधी-जनकत्वं शब्द-व्यञ्जनायाः स्वरूपमित्यभाणि। अस्यैतत्तात्पर्य्यम् यद् व्यङ्ग्योऽर्थो यदा शब्दविशेषेण नियन्त्रितश्चकास्ति तदा शब्दव्यञ्जना, यदा पुनः वक्तृबोद्धव्यादीनां वैशिष्ट्यादेव सहृदयानामर्थान्तरावगतिस्तदा ऽर्थव्यञ्जना।

अर्थात् शब्दव्यञ्जनाया स्स एव समयो यदा प्रमादादपि प्रयुज्य-मानः पर्यायशब्दविशेषस्याभीष्टमर्थं न व्यनक्ति। कवेरभिप्रायो विनश्यति संकल्पितः। वल्गु फल्गु च जल्पन्निव प्रतीयते काव्यकृत्। अतः परिवर्तनमसहमानैरेव शब्दैर्या व्यञ्जना सा शाब्दी। या पुनः परिवृत्तिशतैरपि काव्य प्रयुक्तशब्दानां वक्तृबोद्धव्यादिवशादेवा-भीष्टमर्थं व्यञ्जयितुं क्षमा सा ऽऽ र्थी। उदाहरण द्वारैतदेव विशदी-क्रियते—भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोः ······

खिस्ते जी परम प्रसन्न होकर साधु-साधु कहते हुए आशीर्वाद बरसे—मैं तो केवल आपकी शैली देखना चाह रहा था—

'बोझ वह सर से गिरा है कि उठाए न उठे
काम वह आन पड़ा है कि बनाए न बने !'

जी, मैंने कहा—दरअस्ल मैं न वैयाकरण हूँ, न नैयायिक। अवच्छेदका-वच्छिन्न की विदग्ध भाषा में अपना जी नहीं जलाता। प्रथमा में तर्कसंग्रह और मध्यमा में भाषा-परिच्छेद पढ़ा था। प्रौढ मनोरमा के बाद व्याकरण भी नहीं पढ़ा। गुरुवर महादेव शास्त्री जी से काव्यप्रकाश पढ़ा था। महामहोपाध्याय पं० बालकृष्णमिश्र जी से रसगङ्गाधर। रस तो मेरे नैयायिक साथियों ने पिया, मुझे छिलके-छिलके हाथ लगे। फिर भी मैं मस्त हूँ कि न्याय न पढ़ कर मैंने साहित्य के साथ अन्याय नहीं किया।······

थोड़ी देर के हँसी-ठट्ठे के बाद बात फिर कुमारसम्भव के श्लील-अश्लील पक्ष पर पलट आई। सम्भव है, उनके लड़के भी मुझसे बड़े हों, बाबू साहब तो चौदह वर्ष बड़े थे ही। उनसे इस विषय पर बोलने का जी नहीं करता था। ऐसे सजे-सजाए बंगले में तो सों-सों सोना अच्छा

लगता। लपक कर पलंग पर पसर जाते। जहाँ सतरंजी पर सफेद चादर बिछी थी, वहीं गाव-तकिए के सहारे लुढ़क जाते। लेटने से एतराज होता तो बाहर मखमली दूब पर फेरे करते। हे ईश्वर, जरा दम तो लेने देते ! मैं कहाँ कहीं भागा जा रहा था, मगर वह थे कि तुले बैठे थे ! तमाशा हो गया यह तो ! जैसे मेरा ऐसा वैसा फैसला कोई मामूली फैसला नहीं, एकबारगी, राम शास्त्री का जज्मेंट सुनाया जाने वाला हो !

मेरे अन्दर के दीदे खुल गए। कृष्ण बक-बक कर थक गए थे, अर्जुन मानता न था। तभी मेस्मरिज्म कृष्ण का बला का काम कर गया। ऐसा जादू किया उस सधे जादूगर ने कि अर्जुन को आकाश-पाताल उसी के गहरे साँवले रंग में भासने लगा। उसने हाथ जोड़ लिए "मैं बिना बूझे बाप-भाई—सबको मारूँगा। मगर मुझे इजाजत हो, मैं अभी माथे में चुल्लू भर जवा कुसुम डालूँगा। बुरी तरह चकरा रहा है। कभी आप पहाड़ दिखते हैं, कभी समुन्दर ! मैं कहूँ, मुझे बनाने में क्या मजा है ! दुर्योधन को यह आकाश-बातास पिलाइए तो जानूँ। फुर-फुर कर के फेंक देगा ! यहाँ तो रसा-बसा सो फँसा !"

हँसी से मुँह तप उठा। बात निभाने को बोला—फायदामन्द है यूँ तो बुजुर्गों से इस पेचीदे मसले पर गुफ्तगू करना; फिर भी मेरा दिल कहता है—कोई हद है ? कुछ तो लिहाज हो !

बैठ जाते हैं जहाँ छाँव घनी होती है !

यह तो नीली छतरीवाली की मेहरबानी है ! जबान के रचाव के लिए जबानदराज़ी पर आमादा हूँ। बाबू साहब के दरबार ने जिसकी दाग बेल डाली, उसे पर्वान चढ़ाने की फिकर भी उसी को करनी है। शोखियाँ सादगी और मासूमियत में क्यों कर बदलें, बड़े-बड़ों के मुकाबले खड़ा कर शायद बाबू साहब मुझे इसी तहजीब से वाकिफ करा रहे थे ! इधर मैं था जो दिल ही दिल बुदबुदाता था—

तेरे कूचे इस बहाने मुझे दिन से रात करना
कभी इससे बात करना, कभी उससे बात करना !'

और नहीं तो क्या, गरीब की जिन्दगी भी कोई जिन्दगी है ? कभी

कोई ख्वाहिश पूरी न हुई; अपना सोचा-समझा कुछ भी काम न आया। बस यूँ ही कीचड़ में पत्थर फेंक-फेंक कर छींटे उड़ाया किए !

जिन पैसों के बिना मेरी यह गत बनी, उन्हें बटोरने में ही जान लड़ा देता ! मन में मन्दराचल चलता तो चलता, गालों पर तो गुलाब खिले होते ! इर्द-गिर्द चापलूसों की टोली महक से मतवाली हुई रहती ! फिर मैं क्यों मोम की नाक बना रह गया !

खिस्ते जी दाँतों में हँसे—'आप किसी गहरे सोच में डूब गए !'

मैंने कसमसा कर कहा—नहीं तो, कोई काहे से बेशर्म होता है, यही सोच रहा था। बाबू साहब हँसे, मैं कट-कट मरा—

"ऋग्वेद का यम-यमी-संवाद अश्लील है या नहीं ? यजुर्वेद का अश्वमेध-प्रकरण—अम्बे, अम्बिके अम्बालिके' हो (जिसे पुरोहितों ने कलश में आम्रपल्लव रखने का मन्त्र बना डाला है) या 'गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे' अश्लील है या नहीं ? (गोबर गनेस यजमानों के लिए जिसे गणेश जी का मन्त्र बना डाला है ? उस गणेश का, जो वैदिक देवता है ही नहीं। सम्भवत: वह महर्षि वेदव्यास हैं जो महाभारत लिखने के क्रम में पहली-पहली बार गणेश जी का नाम उजागर करते हैं !)

वेद से उतर कर रामायण पर आएँ। गुह्य, गहन अन्तरङ्ग वार्ता द्वारा राम की स्मृति को धधकाने के लिए सीता कहती हैं—मेरे प्रियतम को याद करने कहना वह दिन, जब चित्रकूट पर्वत पर मन्दाकिनी के किनारे आश्रम में हम रह रहे थे, वह कैसे जल-विहार कर भीगे-गीले आए थे और मेरी गोद में धप-से बैठ गए थे ! फिर वह छिन भी याद दिलाना, इन्द्र का बेटा जयन्त कौआ बन कर आया और चोंच मार-मार कर मुझे क्षत-विक्षत करने लगा। मैं उसे मारने के लिए करधनी निकालने लगी तो मेरी साड़ी हल्के-हल्के सरक गई। उस पर आप मुसकिराए तो जैसे जले पर नमक छिड़क दिया गया ! यहाँ तो मैं ढेले मार-मार कर थक चुकी थी। वह पल भर को झाड़ी-झुरमुट में छिप-छुप जाता था, फिर अचानक आ धमकता और छेड़ना शुरू कर देता था। इस बार मैं करधनी फेंक कर उसे मारना चाह रही थी जब आप सोए-सोए विहँसे। थकी-थकी तो थी ही, कुछ क्रोध से और कुछ लज्जा से बिंधी-बिंधी-सी मैं इस बार आपकी गोद में

दुबक गई। सिसकती-सुबकती और आँसुओं से डलबल आँखें पोंछती हुई कभी मैं आपकी गोद में और कभी आप मेरी गोद में सोया किए। तभी वह फिर किधर से भी निकला और इस बार चोंच चुभो कर स्तनों के बिचले हिस्से को चींथ डाला। रक्त बह चला और झरते रक्त-कणों ने ही आपकी नींद भिगो दी। आप अचकचा कर उठ बैठे। मेरी छाती का घाव देखकर तिलमिलाए भी। उठे और इधर-उधर घूर कर बोले—

केन ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम्
कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना ?

—अरी ओ हाथी की सूँडों-जैसे चढ़ाव-उतार लिए हुए सुन्दर जाँघोंवाली, किसने तुम्हारी छाती छील दी ? कौन ऐसा ढीठ और मरने पर उतारू हुआ है जो क्रोध से फन फैलाए पाँच-मुँहवाले साँप से खेल रहा है ?

[कहना न होगा, यह फन उठाए पाँच मुँहे साँप से मिलान विशाल स्तनों की बेसँभाल उठान की ही ओर संकेत है, राम-बाण की ओर कदापि नहीं। क्षेमेन्द्र की भाषा में—

अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि
वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि]

यह सब अश्लील है या नहीं ? अब वाल्मीकि से बड़ा कौन कवि होगा और सीता-राम से अधिक मर्यादित चरित्र कहाँ से ढूँढ़ निकाले जाएँगे ?

मैं कहता हूँ, दावे के साथ कहता हूँ कि यह सब अश्लील नहीं है। हृदय की पारदर्शिनी निश्छलता की निर्दोष अभिव्यक्ति है। ऐसा प्रसङ्ग जानबूझ कर उठाया गया है। यह राम के हृदय के सुकुमार कोनों को छूने वाला है। उनके वियोग को और अधिक उद्दीप्त-उत्तेजित करने वाला है कि वह अपनी ऐसी प्रिया को पाने के लिए विकल-व्याकुल हो उठें; अब और देर न करें !

प्रश्न यह है कि यदि कवि सौन्दर्य-स्रष्टा है तो उसे सुन्दरता उरेहने में मीन-मेष नहीं निकालना चाहिए। रस का पूर्ण परिपाक ही उसका

लक्ष्य होना चाहिए। और जो रसैकदृष्टि कलाकार होगा, सन्तुलन का बोध उससे अधिक किसे होगा ?

ध्वन्यालोककार ने श्लील-अश्लील की तो कोई चर्चा भी नहीं की है। उचित-अनुचित की ओर इङ्गित भर किया है। वह भी अनुचित ठहराने के लिए नहीं, बल्कि यह बतलाने के लिए कि प्रतिभा हो तो कुमारसम्भव में जैसे पार्वती का संयोग-शृङ्गार वर्णन ग्रामीण नहीं प्रतीत होता, ऐसे ही किन्हीं देवी-देवताओं का शृङ्गार वर्णन नहीं अखरता; नहीं खटकता—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तया संव्रियते कवेः
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।

अव्युत्पत्ति के कारण जो दोष एक टुकड़ा अँधेरे का-सा दिख सकता है, वह भी कवि-प्रतिभा के प्रकाश में जगर-मगर हो जाता है। हाँ, अगर प्रतिभा का दिवाला निकल चुका हो, तब तो, कोकशास्त्र की दीवाली सजाने पर भी सरस्वती के सुवर्ण-सदन में अँधेरा ही अँधेरा रहेगा।

एक बात और। गोस्वामीजी के—जगत मातु-पितु 'संभु-भवानी' कालिदास के 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ' ही हैं। वह उनका शृङ्गार बखानें या न बखानें; किन्तु उनकी पार्वती का सीता का रूप धरना अवश्य अश्लील है। अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक' के प्रणेता परम शैव होने के कारण ही अपनी ओर से (आनन्दवर्द्धन ने ऐसी कोई उपमा नहीं दी है) 'पितृसम्भोग इव' उपमा देकर उस शृङ्गार-वर्णन को लज्जा और आतङ्क का पर्य्यावरण दे डालते हैं कि जिससे रस-भङ्ग होने का खतरा बढ़ जाता है। (अनौचित्यादृते नान्यत् रस भङ्गस्य कारणम्) खीझने की कौन कहे, यहाँ तो वह रीझ-रीझ उठे हैं यह कहते हुए कि प्रतिभाशाली कवि ने उस शृङ्गार को कुछ ऐसे साकार कर दिया है कि मन घूम-घाम कर वहीं स्थिर हो जाता है और सब ऊँच-नीच भूल जाता है। रस के आस्वाद में मगन हुआ मन औचित्य-अनौचित्य के विचार के उपयुक्त अवसर ही नहीं पाता।

जैसे तुलसीदास जी ने कामिनी और कांचन पर मरने वालों को

याद किया है—

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम !'

लिखकर। यहाँ अपनी भक्ति की तीव्रता का आभास प्रदान करना ही उनका लक्ष्य है। उत्कट कामवासना और धन-लिप्सा का सब को अनुभव है। मैं समझता हूँ, आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रतिभा की ज्योति में अनदेखी प्रखरता दिखलाने के अभिप्राय से ही माता-पिता के शृङ्गारवर्णन की चर्चा की है। शायद वह यह कहना चाहते हैं कि निर्मल प्रतिभा की अतिशयता अत्यन्त अनुचित को भी अपनी चन्दनी चाँदनी से ढक लेती है।

× × ×

बस, अभी नया-नया ही सीखा था उछलना-कूदना हिरन के छौने-सा, नहीं, बदन उसका बेल-बूटेदार कहाँ था! खरगोश के-से सफ़ेद रेशमी रोएँ, जिन पर हथेली घुमाओ तो उसे भी गुदगुदी लगे और अपनी भी आँखें झपकने लगें।

नाम उसका शची रखा था छाया ने। आवाज देते ही भरपूर मायूसी महसूस करती थी। एक आध दफा तो माँ से सटकर माथा उचका भर लेती थी, जैसे कहना चाह रही हो: 'अरे रहने भी दो। मुझे झूठा प्यार अच्छा नहीं लगता।'

'झूठा'? छाया तिनक कर कहती: अरी ओ गैया-मैया की बिटिया-बछिया! माँ के कान से मेरी न सुन! गरदन उठाकर तनिक ताक तो इधर। सकपकाई-सी क्यों है?

और वह मुन्ने-मुन्ने पाँवों तरन्नुम में चलकर शरीफे की छाँव में आ खड़ी होती, जहाँ पछोरन के साथ भुस्स और हरी-हरी घास के तिनके बिखरे-फैले होते।

हेमा का लाडला इससे महीना-डेढ़ महीना बड़ा है। किधर से भी पूँछ उठा कर भरतनाट्यम् करता-करता आ जाता और फिर दोनों की खुर्छाल गेट से मन्दिर और मन्दिर से पेड़ की छाँह तक चालू हो जाती। सिनेमा के हीरो-हिरोइनों का बन्दर-भालुओं जैसा रियाजी

नाच देखते-देखते जिसका जी भर गया हो उसकी आँखें भर-भर आतीं यह कुदरती खेल देख कर। मेरी तनहाई तो कुछ ऐसी ही ब्लेक एण्ड व्हाइट यादों का एलबम है।

'भलि बनाय विधि बात बिगारी !'

शाम की ललाई पेड़-पौदों की परछाई में घुल रही थी जब वह पूँछ उठाकर छलाँग लगा रही थी। हैंड पाईप के पास हरी-ऊदी काई आई तो पहले घास समझकर सूँघा, फिर मेमने की तरह फलाँग गई। नौकर की शनि दृष्टि को उसकी ऐसी दिलचस्प हरकतें—सुन्दरता की यह सृष्टि सुहाती न थी। शची को जबरदस्ती खींच ले गया और खूँटे से बाँध दिया। काली रात की शुरुआत थी। शायद ही कभी अँधियारा गहराने के बाद छाया उधर जाती हों। उस शाम गईं तो देखा, रस्सी छोटी करके नौकर उसे यूँ बाधे हुए था कि वह गर्दन तानकर बाहर नयनों से एक टक अनुराधा (अपनी माँ) को देख रही थी। कह-सुनकर रस्सी बड़ी करवाई।

जंगली कौए की बोली बोलकर नौकर ने मुँह अन्धेरे छाया को जगाया। ऐसे में बाजार से खरीदी हुई अपनी ऊँची खामखयाली मुझे बेहद खुरदरी लगती है। वह अपनी बातचीत में जैसी बेतकल्लुफी बरतता है; जैसे अल्फाज इस्तेमाल करता है, मेरे दिल का तालाब एक ही बूँद से भर जाता है। छाया घबराई-सी सामने खड़ी हो गईं जब उसने सख्त और तेज कुल्हाड़े से बोल चलाए : शची मर गई।

पौ फटने वाली थी, आसमान कैसे फट पड़ा ! डाक्टरों ने मुझे कड़ी हिदायत दी है कि आगे की तरह गायों के बीच जाकर बेझिझक खड़ा न हुआ करूँ, मगर जोर-जोर से रोती हुई छाया के पीछे हक्का-बक्का-सा मैं चुपचाप चलता चला गया जहाँ शची किसी औचक आई आँधी में दीवार से उखड़कर गिरी एक आदमकद तस्वीर-सी निःस्पन्द पड़ी थी।

आवास की सारी सुविधाओं के अलावा सात सौ रुपये मासिक वेतन देता हूँ इस एहसानफरामोश नौकर को, गो-सेवा ही यहाँ जिसका एक मात्र काम है। मैं अलग से एक ग्लास पानी भी नहीं माँगता उससे। दरअसल मैंने अपने लिए अब तक कभी कोई नौकर

रखा ही नहीं। फिर भी गउओं की सेवा में उसका छन भर भी मन नहीं रमता। मेरी नजर में शची की इस दर्दनाक मौत का जिम्मेदार उसी का काला कारनामा था। जो बोरी उसे उढ़ाई हुई थी उसी में ज्यों-त्यों उलझ कर दम घुटने से उसकी मौत हुई दिखती थी। कभी उठते-बैठते गले का फंदा कस गया होगा और वह तड़प-तड़प कर मर गई होगी !

काटो तो एक बूंद खून न गिरे की हालत हो रही थी मेरी। किस्म-किस्म का शगल करनेवाले नौकर का यह भी एक शगल था। उसकी ऐसी ढेर सारी तारीफों को नाकाफी समझकर छाया रोए जा रही थीं। गोशाला (कृष्णायतन) में तमाशबीनों का एक-दल दाखिल हुआ और मैं दबे-पाँवों चुपचाप अपनी जगह लौट आया।

अब यह न कह सकूँगा कि जिन्हें याद रखने की शिद्दत में अपने को भूलता ही रहा हूँ उनसे मेरी क्या गुजरी; और शची को देख-देख कर जो सपने बुना करता था, उन पर क्या बीती !

मैं जिस पगडंडी पर चलने को लाचार हूँ, वह कहाँ पहुँचती है, उस पर कोई फतवा लगाना नासमझी है, सोचकर बुत बना बैठा रहा।

कफन, धूप, अगरबत्ती, फूल,—सब मँगवा दिए। लोग मृगछौने को सजाकर दफनाने ले गए। मैं टुकुर-टुकुर देखता रह गया। दम न मारने की आरजू पूरी हुई, अपनी खातिर सरापा वैसे का वैसा बचा रहा। ऊटपटांग बातें बहुतेरी सुनीं, मगर दाँव हारे जुआरी की मुखालफत करने की जुर्रत न हुई—

'सौदागरी नहीं य इबादत खुदा की है,
ओ बेखबर, सजा की तमन्ना भी छोड़ दे !'

पैंतीस साल से इनके साथ हूँ। यह कोई पहला वाकया तो न था। शची की सुन्दरता मेरे बदरंग झोंपड़े में अटती न थी। वह सही जगह चली गई। फूल उड़ गया, काँटों से तो पूरी फुलवारी अटी पड़ी है।

अभी तो जुम्मे-जुमे आठ रोज भी न हुए थे चैपलीन और अप्पन के तीन बिलौटों के दफ्न हुए। कलेजे से जुदा कर कुदाल को हवाले करते वक्त क्या बीतती है उनके बेदम हमदम पर, यह अपने ही ऊँट की बदलती करवट भर देखने वाले क्या जानें !

मुझे तो कभी अपनी जिन्दगी की बारीकियाँ नहीं सूझीं; दिल की गरमी जबान में उतार कर कलाम चमकाने का चस्का न लगा। सान पर रगड़ा जाने वाला लोहा ही तो होता है।

ऐसे जीने का मकसद कभी किसी पर खुले न खुले, मैं तो इतनी दूर घिसट ही आया।

कुछ न सूझा तो बस, दिन भर का निर्जल उपवास कर डाला। छाया आँसू पोंछ-पोंछ कर मुझे समझाती रहीं। फिर स्वयं उसकी एक-एक अदा की याद कर बिसूरती भी रही—

मुनिहु कहे जल काहु न लीन्हा।

अपने मन-मुताबिक सही लगने पर मैं हर की नहीं सुनता। सादा, बेलौस और अडिग मुझे मुफलिसी ने ही बनाया है। बहुत बड़ी तादाद में मेरे पास क्या था, क्या है, जिसे लुटा-खरच कर इतमीनान की साँस लेता? जो कमाता हूँ, वह इन्हें खिला-पिला कर छुट्टी पा लेता हूँ। लोग-बाग मेरी इस शाहखर्ची (!) से तिनकते हैं; नसीहत से वातावरण को गँधा भी देते हैं।

'मैं कभी किसी (!) का हमपल्ला हूँगा और नामी-गिरामी इनामों का मुस्तहक समझा जाऊँगा—जैसे शब्दों से असीसने वाले भी मेरी जिन्दगी के बेशकीमती लमहे कुत्ते-बिल्लियों या ऐसे ही दूसरे जीव-जन्तुओं में जाया होते देख मुझ पर बेतरह तरस खाते हैं···

× × ×

निराला की विरासत का दम भरनेवाली जमात कभी झलक दिखाने न आई, एकबारगी ऐसा तो नहीं, क्योंकि विष्णु प्रभाकर जी आज आए थे, कल डॉ० प्रभाकर माचवे जी भी सदल-बल पधारे थे। कुछ खुद बीमार थे। जैनेन्द्र जी तो यहीं उपरले तल्ले में हैं। अज्ञेय जी कल चले ही गए।

नई पीढ़ी के बहुतेरे आए जो कट्टर जनवादी नहीं हैं। सुरेश शर्मा ने बेशक एक नया रेकार्ड कायम किया। वह आते ही आते रहे, कभी गुलदस्ते लिए, कभी फलों से झोली भरे हुए।

निराला की-सी बेफिक्री और फक्कड़ाना अन्दाज नागार्जुन का है।

सुना, वह खुद कहीं हास्पीटलाइज्ड हैं। फरवरी में मैं यहाँ (आल इण्डिया मेडिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) आया हूँ, जनवरी में, मेरे जन्म-दिन पर त्रिलोचन शास्त्री ने याद किया था; शुभकामनाएँ भेजी थीं और यह सूचित करना भी नहीं भूले थे कि उन्होंने अपनी सबसे नई कविता-पुस्तक 'चैती' मुझे ही समर्पित की है।

डॉ० शम्भुनाथ सिंह सपरिवार पधारे थे। उनकी पत्नी अकेली भी आई थीं। गाजियाबाद से डॉ० कुँअर बेचैन, मुरादाबाद से डॉ० माहेश्वर तिवारी और दिल्ली से मोहनचन्द्र मण्टन और कितने ही दूसरे नए जब-तब समय निकाल कर आते रहे।

निराला पर कालजयी काव्य लिखने वाले नवगीत के आचार्य्य-कवि प्रो० देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' और निराला को आदि नवगीतकार के रूप में अपने बहुचर्चित ग्रन्थ में प्रतिष्ठापित करने वाले डा० राजेन्द्र गौतम कितनी बार आए; कितनी दौड़-धूप और तीमारदारी की, इसका लेखा-जोखा लेना मेरे बूते के बाहर है। बिना काम के महज घूमने के लिए घूमने की सुविधा वे पूरी जिन्दगी में भी उगाह न पाएँगे; मगर इस अस्पताल में मेरी देख-रेख के लिए कैसे समय निकाल लेते हैं, कैसे यह सिलसिला कायम हो गया है, कौन-सो तरकीब ईजाद की है इन दोनों ने,—कहना कठिन है। इन्हीं की बदौलत मैं भी किसी शुमार में आ गया; वर्ना कहाँ मैं, और कहाँ दिल्ली की आलीशान साहित्यिक हस्तियाँ! मुझे यह गुर हाथ लग जाता तो मैं इसे ताबीज बना कर बाजू पर बाँधता। मुजफ्फरपुर के रास्ता चलते दोस्तों से अपने इस एकबारगी बदले मिजाज को अटेस्ट करा लेता। रास्ते-रास्ते की छेड़-छाड़ से मेरी शख्सियत चमक उठती और तब कौन जाने, कभी कोई ऐसा कद्रदान इन्हीं में से निकल आता जो जब-तब मेरे गरीबखाने पर तशरीफ लाकर भी मुझे इज्जत बख्शता; सेहत के बारे में हँसते-हँसते कुछ पूछताछ कर लेता! और मैं गद्गदायमान होकर सोचने लगता—

बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी
आजु दीन्ह विधि बनि भलि भूरी!

इस दौरान पूछताछ करने वाले क्यों इतना याद आते रहे, मुझसे

कौन उगलवाता ? और इस दर्म्यान जो कटे-कटे-से रहे, दरअस्ल उनकी अपनी कोई-न-कोई मजबूरी ही रही होगी। हकीकत तो यह है कि मुझमें ऐसे कौन-से सुर्खाब के पर लगे हैं जो कोई ईमानदार साहित्यकार 'बेफजूल' मुझे जरूर देखने आए !

जो कोई मेरी तारीफ में अपनी जबान पर सान चढ़ाता है वह मुझे धोके में रखना या रास्ते से दूर हटाना चाहता है,—यह कहना, खासकर इस उम्र में, मुझे जेब नहीं देता। गुड़ से फुसलाए जाने का गुर किसे नहीं मालूम है ? किसी पारखी की जुबान में चाशनी नहीं भी हो सकती है। जो मेरी तारीफ नहीं करते, मैं उन्हें खुद सराहता हूँ, क्योंकि वह मुझे धोके में तो नहीं रखते !

हर युग का अपना एक तेवर होता है। इस मामले में मेरी दकियानूसी जग-जाहिर है। मैंने रुत के मोताबिक अपनी आवाज नहीं बदली। दलबदलू मुनाफे में रहे तो रहे। मैंने वह कमाल नहीं हासिल किया।

अस्पताल के दवा-छिड़के बिस्तर पर पस्त लेटा हुआ कुछ ऐसे ही बीमार विचारों में उलझा-पुलझा-सा था कि जहर पीकर आबेहयाती मुस्कान छिटकाए हुए भसीन साहब हाल में दाखिल हुए। उनकी दिव्य दृष्टि को दाद देता हूँ जो उन्होंने देखते ही भाँप लिया कि मेरी गमगीन सूरत का राज कोई अनाप शनाप सोच है जिसमें मैं अक्सर डूबा-डूबा रहता हूँ, जब भी तनहा होता हूँ। दरहकीकत सूफियाना अन्दाज से वह चिढ़ते नहीं हैं, मुसका भर देते हैं। मेरे सोचने-समझने का कोई एक खास अन्दाज या तर्ज तो है नहीं, कुल मिलाकर मैं एक लबड़धोंधों-किस्म का आदमी हूँ। मुझ नाचीज के लिए उनकी बेपनाह भाग-दौड़ और परेशानियों को पड़ा-पड़ा देखता हूँ, तो बस यही-यही सोचने लगता हूँ—

'होत न भूतल भाव भरत को
अचर सचर, चर अचर करत को ?'

आगे उन्होंने मुसीबत को न्योंता। फिर पूरे परिवार की जिम्मेदारी अपने चोट खाए जिस्म पर एकबारगी ओढ़ ली। अस्पताल से पालम बीस-बाईस मील के फासले पर है। दिन भर में कई-कई बार उनका परिवार अप-डाउन करता रहता है। और कुछ लेने की तो

बात ही क्या, मैंने कभी अस्पताल का एक बूंद पानी भी नहीं पिया, मेरा यह ठस्सा भसीन-परिवार की वजह से ही कायम रह सका।

जबलपुर में छाया बीमार हुई थीं तो डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र और उनकी विदुषी पत्नी ललिता जी ने महीने भर इसी धूम-धाम से उनकी परिचर्या की थी। मगर भसीन-परिवार के मुकाबले उन्हें बहुत कम परेशान होना पड़ा था। एक तो हम उनके घर में थे; दूसरे, रमेश स्वयं डाक्टर थे। यहाँ मुझ फितूरी की तीमारदारी का सवाल था। क्या दिन, क्या रात, भसीन साहब आते-जाते पाव किलो पसीना जरूर पोंछते हैं। माहौल की उमस में घुटते रहते हैं या फिर फाँक देखकर रसिका पी आते हैं। दस चक्कर लगाना रोजमर्रा है—दिल्ली जैसे छोटे-से शहर का। शिद्दत की गर्मी। मैं एयरकंडिशण्ड में लेटा-लेटा फरमान जारी करता रहता हूँ, गोया उन्हें चैन से न बैठने देने की कसम खाए बैठा होऊँ।

खालिस सूफियाना समझ कर सब जिसे सुनते-सराहते थे, वह कोरी बकवास ही होती थी मेरी। मेरी सुन ख्वाह-म-ख्वाह सिर धुनने वाले अब भी इक्के-दुक्के हैं। मैं जब भसीन साहब को उलटबाँसियाँ सुनाया करता तो ये आसपास बैठे हुए हजरत मुनासिबत की तलाश करते होते। जो निहायत उन्हीं की तजबीज की उपज होती, उसके मुकाबले मेरी उलटबाँसी में वह बात कहाँ? उनके कहकहों का यह आलम होता कि वहाँ वही-वही होते और मेरा नाक पर चढ़ा गुस्सा हौले हौले उतर जाता!

प्रीति आती रही प्रतीति जमाने कि मैं अस्पताल में फेंका हुआ नहीं हूँ। उसे देखते ही इस चौपाये को एक चौपाई याद आ जाती है—

'देह दिनहुँ दिन दूबरि होई
घटइ तेज, बल, मुख-छबि सोई'

भसीन साहब के साथ सैर पर निकली थी, अंजर-पंजर ढीले कर लौटी है। कुछ दिन अस्पताल भी आबाद किया है।

इधर मेरे हलक के नीचे कुछ नहीं उतरता, उधर वह बंगाली और पंजाबी ज़ायकों की कितनी ही चीजें बना-बनाकर कभी खुद लाती,

कभी बरखुरदारों से भिजवाती। भसीन साहब वाला ठस्सा भी है—उससे एक दिन झी ने पूछा—'इनि अपनार के !' (ये तुम्हारे क्या लगते हैं ?) मैंने सुनना चाहा था कि वह उमग कर कहेगी—'इनि ? इनि आमार बाबा !' मगर प्रीति ने छुटते ही कहा—केउ ना। (कोई नहीं।) सुनकर दिल पर एक आलम गुजर गया। बुद्धि स्तब्ध हो आई; किन्तु 'बुद्धि नाइ हारियेछे ज्ञान।' दरअस्ल ये ही वे सही अल्फाज हैं जो मुझ पर सादिक आते हैं। होऊँ चाहे मैं अपना-पराया कोई भी नहीं, किन्तु दो-तीन महीने लगातार घर की सारी सुख-शान्ति जिसे भेंटकर आने-जाने की कष्ट-क्लिष्ट प्रक्रिया में तुम इस कदर छीजती रहीं, वाकई वह तुम्हारा कोई नहीं ?—

जानि लेहु जो जाननि हारा।

महाभारत में पढ़ा था। युधिष्ठिर जुए में सर्वस्व गँवाकर जंगल जाने लगे तो उनके साथ चलने के लिए कुछ भीख माँगकर जीविका चलाने वाले ब्राह्मण आकर सामने खड़े हो गए। युधिष्ठिर ने मना किया कि जंगल तो जंगल ही है, द्रौपदी और हम पाँचों भाई किसी प्रकार कन्द-मूल-फल खाकर निर्वाह करेंगे। साँप-बिच्छू और भयंकर जीव-जन्तुओं से भरे जंगल में आप लोगों को बहुत कष्ट झेलने पड़ेंगे और आप जानते हैं, ब्राह्मणों को दिया हुआ क्लेश देवताओं का भी नाश कर सकता है, मेरी तो भला बिसात ही क्या है ?

ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत्।

इस पर ब्राह्मणों ने कहा कि युधिष्ठिर जिस स्थिति में रहेंगे, उसी में वे खुशी-खुशी रह लेंगे। लौटेंगे नहीं। अब उस धर्म-विहीन दुर्योधन-राज्य में उनके लिए कोई ठौर नहीं है। असमंजस में पड़े युधिष्ठिर की दारुण दशा देखकर शौनक को दया आ गई। उन्होंने समझाया कि राज्य गँवाने से ऐसा कुछ नहीं बिगड़ गया। अब आध्यात्मिक शक्ति अर्जित करनी चाहिए। जो कैसे भी नहीं सिद्ध होता वह तप से हो जाता है। तप करें, इससे आपके सारे क्लेश जाते रहेंगे।

ऐसे धार्मिक विद्वान ब्राह्मणों का कहा तब माना जाता था। युधिष्ठिर ने तप करके सूर्य को प्रसन्न किया तो सूर्य ने उन्हें ताम्बे की

एक पतीली दी और कहा कि इसे द्रौपदी को दे दो। वह पका कर इसमें जो रखेगी वह कितने भी अतिथि-अभ्यागतों के खा लेने पर खत्म न होगा। हाँ, जब वह खुद खा लेगी तब इस बरतन का जादू बे-असर हो जायगा।

अब ब्राह्मण होना एक अपराध है। आचारवान् होना तो प्रत्यक्ष देश-द्रोह भी है। सूर्य खत्री या क्षत्रिय हैं, झटपट पतीली दे दी। मैं तो 'वेस्टलैंड' में उद्धृत होने के कारण 'दत्त, दम्यत, दयध्वम्' पर प्रवचन भर कर सकता हूँ। कुछ दिया भी चाहता हूँ, अब मेरी यह साध कैसे पूरी हो!

मुझे महीने-दो-महीने एक समान अकवान-पकवान बना-बना कर खिलाने का तप करने वाली प्रीति को मैं क्या दूँ! सूरज भी तो सोने-चाँदी की पतीली न दे सके, मैं ऐसे में उन्हीं की नकल क्यों उतारूँ? ताम्बा क्यों दूँ? अच्छा तो देशबन्धुओ, देश की दशा देखते हुए लोहा कैसा रहेगा? यह सच है कि भसीन साहब मुझसे लोहा लेना न चाहेंगे। फिर क्या हो? कलई और मुलम्मे का तो छुट्टा जमाना है, लोहा न सही, स्टेनलेसस्टील चलाऊँ तो चल सकेगा?

तुलसी दास जी की जय हो—'पुरोडास चह रासभ खावा' को मैं महीनों नया-नया अर्थ देता रहा। अब 'मनुज कि अस बरिबंड' भसीन साहब 'जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा!'

मैं धर्म निरपेक्ष भाव से एक कलईदार कढ़ाई देकर प्रीति को भर मुँह असीसना चाहूँगा कि यह हमेशा चूल्हे पर चढ़ी रहे और मुझ-जैसे स्थायी अतिथि उसीके घर के गिर्द डेरा डालकर पड़े रहें, फिर वे चाहे वाकई बीमार हों या मुझ-जैसे निरे खाऊ मल्ल!

× × ×

(१)

कर्पूरी जी चाहते थे, इलाज दुबारा भी मैं पटना में ही कराऊँ। छाया मुझे डा० अग्रवाल की सलाह से आयुर्विज्ञान-संस्थान ले आईं।

'पाँवों को बहुत झटका, पटका,
जंजीर के आगे कुछ न चली!'

यह और है कि यहाँ भी वह न हुआ, जिसकी तमन्ना थी। हजरत खिज्र सिकन्दर को आबेहयात के चश्मे से प्यासा ही लौटा लाए थे। तकदीर का रोना रोते उमर सिराई :

'बिस्मिल नहीं है तू तो तड़पना भी छोड़ दे!'

इधर कई रोज से कर्पूरी जी गुलाब की एक ही शाख पर दो बुलबुलें बैठाने के चक्कर में हैं। दोनों एक साथ तराने छेड़ती हैं तो 'मेलोडी' 'न्वायज़' बन जाती है। मगर वफा की शर्त ऐसी आसान तो नहीं होती।

अखबार गोले उगलते हैं : कर्पूरी जी यहीं कहीं हैं :

'बहना कुछ अपनी चश्म का दस्तूर हो गया।'

आज उनकी बहुत याद आ रही है···

जीभ लड़खड़ाने लगती है; आँखों से आँसू ढलक पड़ते हैं, जब रुचि, जिज्ञासा और लगाव पैदा करनेवाले किसी बहुत अच्छी तरह से जाने हुए के बारे में, खास माप-तौल से, कुछ कहना पड़ता है।

सिर तब और ठनकता है जब उसका जीवन में बहुत कुछ के लिए आभार स्वीकार कर लिया गया हो और उसके प्रति एक ही दृष्टि हो—श्रद्धा की।

जननायक कर्पूरी जी ऐसे ही हैं मेरे लिए। भरे घाव के निशान की तरह वह जन-जन के मन में बने हुए हैं। सबल-संचित स्मृतियाँ किसी और की होंगी, कर्पूरीजी को याद रखने के लिए आधी-अधूरी सावधानी बरतने की भी जरूरत नहीं होती। सबसे ज्यादा भीड़

जुटाने वाली उनके नाम की सुगन्ध फैलती-ही-फैलती है; उड़ती कभी नहीं।

जिसने उन्हें एक बार भी देख लिया—(भीतर लहरें लेता शक्ति का सागर, बाहर सूफियों की-सी सादगी; मासूमियत की सीमा पर पहुँचा हुआ बेचारा) उन्हें भूल कैसे सकता है!

जिसने उन्हें भारी भीड़ की कतार से भी सुना (स्वर में मेघ-मन्द्र आतिशी ओज, शब्द-शब्द में सदाकत का सोज, जमाने भर के उपेक्षितों, प्रताड़ितों के लिए न सिर्फ सूखी नमी, न सिर्फ गीली-गीली चिन-गारियाँ। खुरचे फफोले पर न निरी चकमक चाँदनी, न लहू-लुहान जिस्म पर धुन्ध-भरे सवेरे की पियराई-ललौंही धूप। झङ्कार-भरी-सी ललकार, गुलाब की पंखड़ियों से ढका सूर्यमुखी का लहकता लावा, कान खोलकर सुना) सुन-सुनकर न सिर्फ सिर धुना, जिसका कलेजा भी मुँह को आया, वह उन्हें कैसे भूल सकता है?

सन् बावन के आसपास मैंने उन्हें पहली बार देखा था। मेरी निज की अकिञ्चन नीति कभी राजनीति की कायल न रही। तब भी जाने क्यों, एक दिन रामचन्द्र शर्मा 'वीर' (जेल में एक लम्बे अरसे तक अनशन करने के कारण उन्हें 'वीर' की उपाधि प्राप्त हुई थी।) मेरी ढुलमुल दृढ़ता को सहारा या ढील देने मेरे घर पधारे। फिर उनकी बहन श्रीमती रमा सिंह आईं; फिर श्रीमती तारारानी श्रीवास्तव और फिर······

ऐसा कौन-सा जादुई करिश्मा हुआ कि मेरा घर (निराला निकेतन) समाजवादियों की अतिथिशाला में परिवर्तित हो गया।

महल्ले का माथा ठनकता : कोई-न-कोई साजिश है यह आपको काँग्रेसी सरकार की सिर्फ सुनी-सुनाई देखने वाली निगाह से गिराने की।

मेरा मुँह उदास न होता तो इसलिए कि मैं प्रकृति से उदासीन था। यों जी जान से अपने को सँभाल कर कहता था: कब किस काँग्रेसी ने महलों की चहल-पहल छोड़कर मेरी सुनसान कुटिया में पधारने की कृपा की, जिसकी मेहमाननवाजी में मुझसे जानते-अन-जानते कोई चूक हो गई? खड़े-खड़े कहकर धम्म-से जमीन पर बैठ जाता था।

बेशक समाजवादियों को इतना आता था। आचार्य नरेन्द्रदेव काशी में निराला जयन्ती का उद्‌घाटन करते हुए कुछ ऐसा बोले थे जैसा और कभी कोई न बोला। निराला तो खैर ऊँचाई के भी प्रतिमान थे, उनकी बोली सतह से उठते हुए को हाथ बढ़ाकर सहारा देती-सी जान पड़ती थी। सोच-सोचकर मेरी आँखें ऊपर तक आँसुओं से भर-भर आई थीं।

एक दिन शर्मा जी जल्दी-जल्दी तैयार हो रहे थे। रमा जी भी अन्दर जल्दी मचाए थीं। पूछने पर मालूम हुआ : एरोड्रोम जाना है लोहिया जी की अगवानी करने। मैं छाया जी को भी उन लोगों के साथ जाने की इजाजत दे दूँ।

मैं सरकारी नौकर था। नौकरी भले ही दो टके की थी, मगर मैं नौकर था। तो भी कभी अपने को निकम्मा न माना। हँसकर कहा : जो होगा सो तो चौड़े दिखाई देता है, मगर ठान ली तो पूरा होना जरूरी है। कैसे भी छाया के मुँह पर उजाला छाए।

घंटे भर में खाली-खाली पलटी गाड़ी देख मेरी जीभ लड़खड़ा गई। लोहिया जी न आ सके थे।

मीटिंग टाउनहाल में थी। अब के उतरे गले से शर्मा जी ने मुझे भी चलने कहा। आगे कहा होता तो लोहियाजी भी आए होते !

'आटे का चिराग घर में रखूँ तो चूहा खाय, बाहर रखूँ तो कौआ ले जाय' कुछ ऐसी ही कश-म-कश में खिंचा चला गया।

यहीं पहली बार—तरुण अरुण वारिज नयन—कर्पूरीजी को देखने और सुनने का सुयोग जुटा। जब हम पहुँचे, वह बोल रहे थे। बोलते क्या थे, तोलते थे जन-मन को अपने बाट से। कोई मन से सुने तो उसका फलसफा बदल जाए !

'और बात खोटी; सही दाल रोटी।' की समझ उसे गजदन्ती मीनार से ठोस धरती पर उतार दे।

सुना, दस वर्षों की हो यह तैयारी थी। महज बयालीस में इस गैल में पाँव रखा था। दरअसल स्वराज्य मिलने के पहले नौजवानों में उत्सर्ग का जो अपूर्व उत्साह था; अब की तरह अपने कैरियर को फिक्र में मन यहाँ-वहाँ भागा-भागा नहीं फिरता था; देश और समाज के बाद ही अपनी सुध आती थी; सब कहीं कर्तव्य, लगन, निष्ठा,

उत्साह की ही पुकार सुनाई देती थी। —यह धारणा आज भी कर्पूरीजी जैसे कष्ट-सहिष्णु, पर-दुःख-कातर, कर्मठ व्यक्तित्व को देख कर ही बनती है। इकबाल के शब्दों में—

हो मेरा काम गरीबों की हिमायत करना
दर्दमन्दों से, जईफों से मुहब्बत करना।
हो मेरे दम से यूँ ही मेरे वतन की जीनत
जिस तरह फूल से होती है चमन की जीनत।

मैं जब बनारस में था, कोई एक कलेण्डर दे गया था— जयप्रकाशजी, लोहियाजी, आचार्य नरेन्द्रदेव, अरुणा आसफ अली आदि कतिपय नये समाजवादियों के चित्र थे उसमें। आज के भाषण से दिल्ली की पिछली किसान-रैली तक के तेजस्वी भाषण सुनने के बाद मुझ पर यही प्रतिक्रिया हुई कि अगली बार कैलेण्डर छपा तो उसमें यह नाम अवश्य होगा। लोकनायक जयप्रकाशजी की अगली कड़ी में जननायक कर्पूरीजी का ही नाम जुड़ेगा।

(२)

उस साल जयप्रकाशजी कविसम्मेलन का उद्‌घाटन करने वाले थे। दुनिया का दुर्भाग्य कि जात-पाँत से ऊपर उठे हुए महापुरुष को भी जातवालों की ही गिरफ्त में रहना पड़ता था। यहाँ संयोजकों से आमन्त्रित कवि तक अधिकांश एक ही जात के थे। मैं गया तो जाते-ही-जाते बुरी तरह अपमानित हुआ। संयोजक मेरे नाम तक से वाकिफ न थे। डाँटा कि आगे मेरी स्वीकृति नहीं पहुँची, मैं कैसे आ धमका! मुझे संयोजक से कोई शिकायत न थी। छुरी खरबूजे पर गिरी तो खरबूजे का जरर, खरबूजा छुरी पर गिरा तो खरबूजे का जरर। उल्टे पाँव लौटना चाह रहा था कि वर्माजी ने बीच-बचाव कर मुझे रोक लिया। चोर से कहे, चोरी करो; शाह से कहे, जागते रहो।

जयप्रकाशजी उन दिनों डायलेसिस पर हुआ करते थे। जवानी के दिनों में जेल से छूटकर आए थे तो मैंने मुजफ्फरपुर में उनका मंच पर अभिनन्दन किया था। आज भी कुछ दूर की सोच कर दर्शनार्थ उपस्थित हुआ था कि फालूदा खाते दाँत टूटे। मन मसोस कर मंच

पर बैठा ही था कि कर्पूरीजी आए। मन्त्री होने के बावजूद सरापा सादगी उनके उदात्त व्यक्तित्व में चार चाँद लगा रही थी। उत्साह-भरे सवेरे और श्रम-सिक्त सांझ ने उनकी कठोर कर्मठता माथे में आँक दी है। भार सौंपने के लिए प्रदेश ने कैसे चौड़े और पुष्ट कन्धों की तलाश की है!

कर्पूरीजी के अचानक आने के कुछ माने थे। बारीक अक्ल वालों ने भरसक अनुमान लगाया: जयप्रकाशजी अभी-अभी डायलेसिस पर चले गए, अब कर्पूरीजी ही उद्घाटन करेंगे।

कर्पूरीजी कौंधते-से विद्युत् स्वर में माइक पर बोले: 'आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की मौजूदगी में मैं कविता और साहित्य पर कुछ बोलूँ तो यह सरासर मेरी हिमाकत होगी। मेरा उनसे अनुरोध है, वही इस कार्य को विधिवत् सम्पन्न करें!"

सभा में सन्नाटा छा गया। संयोजक और उनके नाकद्र साथियों को जिसका यहाँ आना भी नागवार था, उस नाकाबिल की ऐसी कद्र!—'का दिखाइ विधि काह दिखावा!' मेरी आँखें छलछला आईं। यह विनम्रता की पराकाष्ठा है: कर्पूरीजी ऐसे सौम्य और सरल क्यों हैं? ऊँची अशिष्टता झेल जाते हैं! ऐसे-वैसों की बोली-ठोलियाँ अनसुनी कर देते हैं!!

न तितिक्षा-सममस्ति साधनम्।

इस घटना ने मुझे वर्षों पहले की एक भूली-बिसरी कहानी याद दिला दी। व्यर्थ साँझें तो कितनी ही काटी हैं, कभी-कभी सभा-सम्मेलन इन्हें सार्थकता देते रहे हैं। पटोरी कालेज में एक जलसा था। देश के अनेक कवि-कलाकार पधारे थे। अध्यक्ष होने के नाते अन्तिम काव्य-पाठ मेरा था। काव्यपाठ के चिह्नित काल में देखता क्या हूँ कि इधर मैं गाये जा रहा हूँ, उधर कर्पूरीजी श्रोताओं की गैलरी में शामियाने के खम्भे के सहारे मेरी एक-एक पंक्ति लिखते चले जा रहे हैं! इतना ही नहीं, सभा की समाप्ति पर जब मैं बाहर निकल रहा था, अनथकी उँगलियाँ कागज में उलझाए हुए छूटी-भटकी हुई पंक्तियाँ मुझसे पूछ-पूछ कर दुरुस्त करने लगे। मैं अपने अन्तर की अँधेरी गहराइयों में धँसता जा रहा था। आधी रात का सकपकाया-सा आकाश मेरी सूखी आँखों में भींग रहा था। मैं अपनी ही छाँह में प्रकाश के एक

टूटे हुए सन्दर्भ के समान डूबता जा रहा था। शील और शालीनता, सरलता और पारदर्शिनी विनम्रता का यह युगपुरुष आगे क्या होगा?

सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम् ।

शिखरों की नींव कौन टटोले? अँधेरे से ढका अँधेरा खोदकर कौन-सा पारस पत्थर पाना हो सकता है? साधारण जन की अनछुई आजादी के लिए अपनी अस्मिता को ठंडे-ठंडे झोंक देने वाले ऐसे कर्पूर-प्रदीप कितने होते हैं!

(३)

सामान्य जन की झपट ली गई आजादी की वापसी जिसकी अनथकी यात्रा की दूर-सुदूर झिलमिलाती मंजिल है; जिसने देश-विदेश घूमकर सुदृढ़ इरादे में अपने सपने रूपान्तरित कर दिए हैं, राष्ट्रीय स्तर पर चूसे जाते छोटों के लिए जिन्होंने बड़ी-से-बड़ी कुर्बानियाँ दी हैं और स्वार्थी मदान्धों की दी हुई लच्छेदार गालियों को जिन्होंने कभी न लिया, उनका अपने हो बिहार के प्रति अटूट अनुराग निश्चय ही एक विराट् विस्मय का विषय है। अपने निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं की कौन कहे, विमतदाताओं की भी कभी न समाप्त होने वाली सेवा-शुश्रूषा में जो कभी ढीले न पड़े; दुरन्त दुराव को बाँहों के हँसमुख कसाव में बदलते रहे; पददलितों के आदृत अभ्युत्थान के लिए जिन्हें स्वस्थ, शतायु होना ही होना है, इस बार वह अकस्मात् अस्वस्थ हो गए। पाँवों के पिराते रहने की परवा किए बगैर पद-यात्रा करते रहे। उन्हीं की तरह उनका हृदय भी सहृदय है; वह पाँवों कर किए गये इस अत्याचार को न सह सका, एकबारगी आक्रमण पर बैठा। चेतावनी दी : 'खबरदार जो फिर कभी ऐसी गलती की! पदों को उचित पदों पर बिठाना हो तो मुझसे छेड़खानी न चलेगी। मैं माथा नहीं हूँ, जो पद ढोता फिरूँगा। हाँ…'

जिन्हें संघर्ष छात्र-जीवन से अब तक लगातार चलाता ही रहा, उन्हें आराम करने के लिए उस आरामदेह कमरे में बन्द कर दिया गया जो इन्दिरा जी के नाम से खुला है, हृदय-रोग वालों के लिए, पटना मेडिकल कॉलेज के सिर-माथे पर।

अखबार में पढ़ा तो सिर चकरा गया। ऐसा भी क्या? दीन-

दुखियों के दुख में हाथ बटाना ही जिनके पुरुषार्थ का व्रत रहा, वह हाथ-पाँव बाँधकर किस प्रकार बन्द कमरे का अन्धकार पीते पड़े रहेंगे !

मैं भी उन दिनों पाँव तोड़कर उसी अस्पताल के कॉटेज के एक कोने में पड़ा था। मुझे देखने जो-जो आए, बारी-बारी से सबके हाथ-पाँव टूटे, इस दुरूह रहस्य से अनभिज्ञ कर्पूरी जी बार-बार मुझे देखने आते। मतदाताओं के कन्धों पर चढ़कर जो चुनाव लड़ते हैं, वे पैदल चलने वालों को फूटी आँख देख भी कैसे सकते हैं ? फिर उनका नाम गाँधी, चन्द्रशेखर, कर्पूरी,—कुछ भी क्यों न हो !

मैं यहाँ महीने-डेढ़ महीने पहले से था। पदयात्रा प्रारम्भ करने की पूर्व संध्या पर भी वह मिलने आना न भूले थे।

माननीय लहटन चौधरी जी कई-कई बार देखने आये, यहीं मेरी बगल के कमरे में उन्हें अपने नाती से हाथ धोना पड़ा। स्वास्थ्य-मंत्री सरयू मिश्र जी प्रायः सुध लेने पधारते, उनकी पत्नी को ऐक्सिडेंट में भयानक चोट आई। अब और किस प्रकार ईश्वर सबको सावधान करते ? कर्पूरी जी ने किसी की एक न सुनी। आना जारी रखा। अपने डाक्टर लड़के वीरेन्द्र को रोज-रोज मुझे देखने आने की हिदायत दे दी। सो डाक्टर वीरेन्द्र तो जल्दी ही चौड़ी सड़क पर चोट खा गये; और भी कुछ पुरानी बीमारियों ने उन पर चोट खाये साँपों की तरह फन फैला दिये। नियति की भिची उँगलियाँ निठुराई करते न काँपीं। मेरे बुझे-से लोचनों में साँझ के बादल दिप उठे। कैलास पर चढ़ने की हिम्मत कभी भादों की कादों-भरी रात ने की होगी या नहीं ? बर्फ धुआँए बला से, कभी किसी तीरन्दाज ने उस पर अग्निबाण छोड़े होंगे या नहीं ? मैंने तो धूप में बाल सफेद किए हैं। लिखे मूसा, पढ़े खुदा,—वाली लिखावट में मेरी अक्ल मकड़ी के जाले-सी छितरी है। मैंने दिन ईद और रात शबरात वाली प्रकृति भी नहीं पाई है। कैसे मालूम हो, यह अनहोनी क्योंकर हुई ?

अपराध-बोध से मन म्लान हो गया। संकल्प-विकल्पों से खुँदा अहं खाट की पाटी पकड़कर उठ खड़ा हुआ। बार-बार देखने आने वाले को एक बार देख सकने के लिए पल-छिन गिनने लगा।

कर्पूरी जी मन्त्री, मुख्यमंत्री—क्या न हुए; किन्तु न कोई महल

खड़ा किया; न रेशम-पशमीना पहना, न कीमती कार खरीदी। ग्लैमर की ओर कभी ध्यान ही न दिया। दिया होता तो आजकल अखबारों में रोज-रोज डाक्टरों का बुलेटिन छपता होता, मिजाजपुरसी के लिए आने वालों का मेला लगा रहता, मगर उन्होंने तो—

दिल में किसी के राह किये जा रहा हूँ मैं !

का रास्ता पकड़ कर लम्बी मंजिल तै की है ! जिन निरन्नों को मुँह के निवाले छीननेवालों के चक्रव्यूह में अभिमन्यु की तरह निर्भय विचरना सिखाया है; कंगूरों में छिपे अँधेरों ने जिन्हें अरुण किरणों की तरह उजागर करने का निर्मल पाठ पढ़ाया है, उनकी दुआएँ उनके साथ हैं; सौ-सौ आनेवालों के घुटते-घुटते-से बोल उन्हें शीघ्र स्वस्थ होने और सौ कर्मठ साल जीने के लिए असीस रहे हैं यह क्या कोई उपलब्धि नहीं है ? साधारण जन का नेतृत्व केवल कर्म का क्षण है; उसे अवकाश का स्वागत-गान नहीं, स्व-गत संवेदनाएं ही सुलभ होती हैं।

आकाशवाणी हुई : कर्पूरीजी ने पर्याप्त स्वास्थ्य-लाभ कर लिया है और अब 'थॉरो चेक-अप' के लिए दिल्ली (आयुर्विज्ञान केन्द्र) जा रहे हैं।

बेपर की उड़ाना तो दर किनार, पर चला था डाक्टरों के आगे जबान हिलाने कि जाते-जाते एक दफा उन्हें देखना चाहता हूँ, मेरे लिए स्ट्रेचर और एम्बुलेंस का इन्तजाम करा दें।

कि तभी कर्पूरीजी की गाड़ी हमारे कॉटेज के बाहर, सीढ़ियों के पास, पोर्टिको में आकर खड़ी हो गई। उसके दाएँ बाएँ और भी कई गाड़ियाँ। जिसे कितने शास्त्र-पुराण बरजबान हैं उसके मुँह से एक हकलाता-सा-शब्द भी न निकला। अलबत्ता आँखों ने बगावत कर दी, जिन्दगी-भर का पिया हुआ उगलने लगीं। मेरे तीमारदार व्हीलवाली गाड़ी पर जल्दी-जल्दी मुझे बिठलाकर बाहर ले आए। लाकर बरामदे में ही सीढ़ियों के पास खड़ा कर दिया।

कार से उतर कर खड़ा होना मना था, फिर भी कर्पूरीजी उतर कर देर तक खड़े रहे। सीढ़ियाँ चढ़ने की सख्त मुमानियत थी, किसी ने उन्हें चढ़ने न दिया। नहीं तो···

ऊपर बरामदे में मैं काँपते पाँवों खड़ा हुआ, मुझे सीढ़ियाँ उतरना

कतई मना था। दिल ही दिल बुदबुदा रहा था—

रिहाई की खुशी क्या,
आशियाँ गुम-कर्दा बुलबुल को
सितम सैयाद का है,
वह अगर आजाद हो जाए

मैं गुमसुम निहार रहा था, राष्ट्र की उस महान विभूति को, जिसकी शोहरत सिर्फ एक संजीदा सियासतदां होने की वजह से नहीं है, बल्कि मुझ-जैसे नाचीज जिसे गरीबनवाज के रूप में ही ज्यादा जानते हैं, कि जो ऊँचे उठते गए और फलों-लदे दरख्त की तरह झुकते ही चले गए। और नहीं तो जिन्दगी की इस कशमकश में पाबन्दियों की परवा किये बगैर मुझ मालंग मरीज को देखने आने की गलती और कौन करता ?

दिल्ली से जल्दी और पूर्ण स्वस्थ होकर उनके लौटने की सजल कामना हृदय में दुहराई—

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं
पुनरस्तु त्वरितं समागमः।'

मुँह खोलकर इतना ही कहा :

आपकी इन्सानियत की सतह पर उतर आने के लिए अभी मुझे तीन जनमों की तीन सीढ़ियाँ तय करनी होंगी !

× × ×

तेवर मेरा आह-कराह के आलम में सोए पड़े गुमसुम सोचते रहने का था। कोई-से आस पास बैठे लोगों के निर्मम निर्णय पर ध्यान न जाता था। बहुत पास वाले मुझे होड़ बद कर तोड़ चुके थे। दोस्तों की लापरवाही छिपी चुनौती-सी बिस्तर पर करवटें बदलती होती थी। जहाँ आकाश का विपुल विस्तार भी सिकुड़ कर मेरे माथे में सिमट आया था और जहाँ की वातानुकूलित हर घड़ी की चाँदनी में सारे तारे अपनी ही टिमटिमाहट में डूब-से गए थे, वहाँ अभी अचानक 'दिनकर' के अस्त होने की स्मृति करुणा में डूबी रागिनी-सी मन के वन में गूँज उठी।—

मैं बंगला का प्रधान परीक्षक नियुक्त हुआ था दरभंगा के जिला

स्कल में हो रहे उत्तर पुस्तिकाओं के सामूहिक मूल्याङ्कन में। रोज सवेरे बस से दरभंगा जाता और शाम को लौट आता था। उस शाम मेरी तबीयत नासाज थी, मैं मुजफ्फरपुर न लौट सका । जे-पी आन्दोलन के दिन थे। मिलिटरी के कड़े पहरे में यह काम हो रहा था। हेड मास्टर ने मुझे अपने क्वार्टर में ठहरा लिया। सुबह-सवेरे चाय आई, वह चुस्कियाँ लेने लगे, मैं भाप की गर्मी मापने लगा। ठीक तभी रेडियो ने दिनकर के स्वर्गवास का समाचार प्रसारित किया। हेड-मास्टर साहब ने सुना, तो चाय पीते-पीते ही, उनसे अपनी घनिष्ठता और रिश्तेदारी के अनेक छोटे-मोटे संस्मरण सुना डाले। अब कहीं उनका ध्यान मेरे भरे प्याले की ओर गया। बोले गीता के श्लोक; सुनाई विश्व की नश्वरता पर सन्तों की अमर वाणी। मुझे वह सब पीने की विवशता थी, चाय पीने की नहीं। हाथ जोड़ लिए।

दिनकर कवि और विचारक के रूप में ऐसे ख्यात थे कि हजारों लोग उनसे आशा और विश्वास का पाठ पढ़ते थे। वह निराश मरे और अविश्वास के वातावरण में मरे, मेरे लिए यही शोचनीय विषय था—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता: —

तो मैं सौ साल पहले पढ़ चुका था। ख्वाहिशें सिलसिले को तोड़कर आगे निकल जाती हैं। जो अपनी यादगार तस्वीर छोड़ गए हैं और जिनके रंगारंग व्यक्तित्व को नजीर के बतौर पेश किया जाता है और जो बनावटी खाइयां पाटने के लिए ही पैदा होते हैं उनकी याद, दम लेने के लमहों में, न आए, ऐसा कैसे हो सकता है ?

'अपनी हिम्मत है कि हम फिर भी जिये जाते हैं !'

× × ×

पण्डित श्री रामदयाल पाण्डेय टीचर्स् ट्रेनिंग स्कूल के गेट पर खड़े थे। मैं संस्कृत कॉलेज से लौट रहा था, जब वह हँसते हुए राह रोक कर बोले—'जी० बी० बी० कॉलेज में कोई समारोह है। दिनकर जी आए हुए हैं। चलिएगा ?'

मैंने पिछले आठ वर्ष पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी के सान्निध्य में बिताए थे। आगे दिनकर जी का नाम भर सुना था। अजमेर की 'त्याग भमि' और कलकत्ता के 'विशाल भारत' में प्रकाशित उनके

कुछ पद्य भी पढ़े थे।

एक दिन सारनाथ जाते समय कुमार केदारनाथ सिंह 'सरोज' ने मेरे पहले छपे लेख, जो कालिदास पर था, और पण्डित रूपनारायण पाण्डेय द्वारा सम्पादित 'माधुरी' में अभी महीने भर पहले ही छपा था, की तारीफ करते हुए कहा था—आप दिनकर पर क्यों नहीं लिखते ? बिहार के हैं। यों भी दिनकर से बड़ा कौन है ?

मैंने पुचकार कर पूछा—अभी कल तक तो तुम निराला के फैन थे, अचानक विचार में फेर-बदल कैसे हो गया ?

बोला—'विशाल भारत' में बनारसी दास चतुर्वेदी ने जो लिखा है, मुझ पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। फिर भी मेरी छोड़ आप अपनी बताइए—लिखेंगे ?

क्यों नहीं ?—मैंने कहा,—तुम कहते हो तो लिखूँगा। वैसे अपना इरादा निराला पर ही लिखने का है। कालिदास पर लिखा था, वह छप गया।*

*** प्रकृति : पुरुष**

[वैदिक काव्य में प्रकृति पूर्वराग की सात्विकता लिए हुए है। अनुराग की प्रिय पीड़ा उसे कालिदास की कृतियों में मिली। प्रकृति के स्वभाव का निखार यह इसी प्रकार हुआ है कि उसके निजी सुख-दुःख एवं मोह उदात्त आनन्द में परिवर्तित हो गए हैं। उसकी त्रिगुणात्मकता समरसता में बदल गई है।

वैदिक प्रकृति क्वाँरी थी। उसकी चारुता 'प्रियेषु सौभाग्य-फला' न थी। कालिदास ने उसकी अहल्या भूमि में पहले-पहल शिलीन्ध्र उगाए और जुत जाने पर उसकी सोंधी गन्ध का पहले-पहल आभास आकाश को दिया। प्रकृति के मधुर भाव का अविर्भाव कालिदास के कवित्व में ही हुआ। वाल्मीकि-व्यास तक वह अधिक-से-अधिक दास्य से सख्य की ओर अग्रसर हो सकी थी। प्रकृति प्रकृष्ट कृति के रूप में वाल्मीकि के नयन-मन से नित नए चमत्कार उत्पन्न करती रही; व्यास के लिए वह श्लिष्ट जीवन की गहनता का प्रतीक ही बनी रही; किन्तु कालिदास की आँखों में आँखें डालने पर उसके पर निकल आए और बस उसके पाँव ही धरती पर रहे; किन्तु उसका अन्तर अम्बर के स्तर-स्तर पर तैरा किया ! वैदिक प्रकृति ने, संभव है, वाल्मीकि-व्यास को प्रेरित-प्रभावित किया हो; किन्तु कालिदास की प्रकृति ने तो समस्त भारतीय कविता को ही सुरीला कर दिया है।

वाल्मीकि की प्रकृति ने अरण्य से आगे बढ़कर नगर तक की यात्रा की थी। प्रकृति का अतिशय सान्निध्य आदि काव्य की बड़ी विशेषता है। अवश्य ही

दो लेख रवीन्द्रनाथ पर लिखे हैं, 'चाँद' में छप रहे हैं। अब निराला की काव्य-कला पर लिखना चाह रहा हूँ। कालिदास बर-

---

सान्निध्य और साहचर्य्य में कुछ अन्तर है और प्रकृति कालिदास की सहचरी है। रामायण प्रकृति की गोद में पली है; किन्तु प्रकृति का कवि-प्रियावाला रूप कालिदास की कृतियों में ही विद्यमान है।

कविप्रिया प्रकृति कालिदास के काव्य-कानन में विचरती है तो उसके पदतल की लाली कुसुमित पगडंडियों में रच जाती है और उसकी साँसों की सुगन्ध से वातावरण महमह कर उठता है। उसकी अलङ्कार-झङ्कार मधुमत्त मधुकरों को निस्तन्द्र करती और उसकी मृदु-मुस्कान चाँदनी का वितान तान देती है। वह चिर-तरुणी है, और उसके स्पर्श से प्रियङ्गु खिलखिला उठता है। वह विलासिनी है, और उसके उच्छिष्ट मधु से मौलसिरी के लता-पत्र फूलों से लद जाते हैं। वह मदभरी मतवाली है और उसके नूपुर-रणित चरणों के आघात से अशोक रंगीन हँसी में फूट पड़ता है। उसके चञ्चल कटाक्ष से बिंधकर तिलक बरबस हँस पड़ता है और उसकी लचीली बाँहों से बँधते ही कुरवक का आन्तरिक आह्लाद पुष्पों के उज्ज्वल स्तबकों में भर आता है। उसकी चाटूक्ति की शुक्ति का मुँह खुला नहीं कि मन्दार के मोती बिखरे। और उसकी हँसी तो चम्पे की पंखड़ियों तक को गुदागुदा देती है और वह नव पल्लव-से लाल-लाल होंठों से तनिक फूँक क्या मारती है, रसाल-साल में नए प्राण ही फूँक देती है। और अगर कहीं वह कोयल की तार-तरल तान छेड़ बैठी तो बस, नमेरु जड़ से फुनगी तक फूल-फूल उठा। और भावोच्छ्वसित या रसोन्मत्त होकर उसके नाचने पर कर्णिकार लाल-गुलाबी उजले-पीले गुच्छों समेत झुक-झुक पड़ता है। और···

किन्तु और उसकी कितनी भङ्गिमाएँ गिनाई जा सकती हैं? वह सकल गुणों की खान होकर कवि की प्राण-प्रिया है।

प्रकृति चाहे आश्रमवासिनी शकुन्तला हो और तपोवन ने उसके सहज निर्दोष रूप पर चाहे जितना नेह बरसाया हो, कालिदास ने उसे दुष्यन्त के श्रीमन्त शृङ्गार से सजाया है। निश्चय ही दूर्वाङ्कुर का वर्णन नहीं हुआ; किन्तु वल्कल का स्थान कौशेय वसन ने ग्रहण कर लिया। अशोक के पुष्प-स्तवक सीमन्त में सजे सही, पर उनमें पद्मराग की गुणात्मक भावना आरोपित हो गई। अर्थात् जूड़े में पद्मराग मणि नहीं जड़ी गई, अशोक का लाल-लाल गुच्छा गुँथ गया,—यह भाव काम करने लगा। सुनहरे कनेर को सोने के गहने की नजर से देखा गया और सिन्दुवार के छोटे-छोटे उजले फूलों को मोतियों के हार के विचार से अपनाया गया।

ऋतुओं के शृङ्गार तो कवि ने ऐसी तन्मयता से किए कि प्रकृति दुल्हन-सी

जबानी याद हैं। इन दिनों संचयिता और गोल्डन ट्रेजरी उलट-पलट रहा हूँ।

'फिर ?'

'कहा न, तुम्हारी इच्छा है तो दिनकर पर भी लिखूँगा। कहोगे तो

सज गई। ग्रीष्म की भीष्मता पर चन्दन छिड़का और सद्य:स्नाता के केशों ने जल की बूँदें छहराईं। पाकड़ की कलियों की गन्ध लिए हवा बही और बड़-पीपल की पलकें झपकने लगीं। रेशमी तारों से बुने-से शिरीष के कर्णफूल झुलाती हुई प्रकृति भौरों की चितवन से जैसे उत्सुक मन के वातायन खोलने लगी।

वर्षा के घन-केश इन्द्रधनुष से बँध गए। कुटज की कलियाँ, हरे पीले रेशोंवाले कदम्ब के फूल, केवड़े की धारदार कोंपलें—सब जैसे सीमन्त और चूड़े की सतरंगी भङ्गिमाओं में चुन दिए जाने की खिली आस से सुरभित साँस लेने लगे। तार हार की तरह उज्ज्वल जलधार लहरें लेने लगी। गगन में मङ्गल मृदङ्ग बजा और पंख फैलाकर मयूर नाच उठे। मौलसिरी, मालती और जुही की दीप्ति से दिशाकाश के चित्र दहकने लगे। पलकों तक बिथुरी लटें उलट कर प्रियतम की बाट जोहती हुई सती वियोगिनियों के दिल की धड़कनें मोर और पपीहे के स्वरों में घुल-मिल गईं।

शरद आई तो प्रकृति को कांस के रुपहले कपड़े पहना गई, कमल की तरह उसके चेहरे को खिला दिया; मतवाले हंसों की ध्वनियाँ पैरों में पायल की जगह सजा दीं और अधपकी बालियों से झुके धान के पौदे की तरह बल खाती हुई उसकी दुबली-पतली काया जैसे लावण्य की माया में झीमने लगी। उसके गोरे-गोरे पाँव कुमुदों-भरे तालाब में हंस के जोड़े की तरह तैरने लगे। छितवन के फूलों से अठखेलियाँ करके अभी चुकी ही थी कि हवा को दुबारा बालियों की याद आई और वह सरपत के रन्ध्रों से भागती-भागती कुश-काँस-भरे मेड़ों से फिसल कर खेतों में खेलने चली गई। खंजन आँख आँजने आए और हरसिंगार के फूल गुँथे-गुँथे मोती-मूँगे की तरह किरनीले वक्ष: स्थल पर झलमला उठे।

हेमन्त आया। सुनहली बालियाँ शबनम के मोतियों से सज गईं। सूरज की गुदगुदाती-सी गुलाबी किरणें उनके रूप-रंग उभारने-निखारने लगीं। कुन्द की कलियाँ लचीली बेलों में पैंगें भरने लगीं। प्रकृति के केशपाश अगुरु-धूम से धूपित हो लहर पर लहर उठाने लगे। नीलकण्ठ की वृत्ताकार उड़ान की छाँव में कल-हंसों के उन्मद निनाद से सरवर मुखर हो गए। चकवा-चकई के अनुराग-राग से पुलिनों का एकान्त प्रतिध्वनित हो उठा।

शिशिर का आगमन हुआ। वन-वन में निरावरण श्री धूसर हँसी हँसने लगी। नंगी डालें नव पल्लवों की प्रतीक्षा में तुषार में तपने लगीं। ऐसे में प्रकृति-प्रिया

विशाल भारत में ही छपने भेजूँगा। हाँ, मेरे पास दिनकर की कोई किताब नहीं है।' सरोज ने वरुणा पार करते समय अपने थैले से निकाल कर मुझे **रेणुका** की एक प्रति दी !

पन्त जी का 'पल्लव' तो बहुत ही सुन्दर छपा था, उसे छोड़कर तब तक प्रसाद, निराला, महादेवी,—किसी की भी कोई पुस्तक ऐसी सजधज के साथ नहीं छपी थी। उसमें दिनकर का एक चित्र भी था जो भव्य होने से साथ-साथ अत्यन्त आकर्षक था। ···वही दिनकर जी आज यहाँ आए हैं। अतीत के चित्र की एक पूरी रील माथे में घूम गई। मैंने हड़बड़ाकर कहा—

जरूर चलूँगा।

ने अपने हृदय-स्थल को कुङ्कुम से चित्रित किया; गोरोचन का टीका लगाया और कस्तूरी का तिल। फिर उसने ईख के लहराते खेतों के मेड़ पर बैठ कर मालकोस छेड़ दिया। दिशाओं ने नीहार का अवगुण्ठन हटा कर उसकी मस्ती देखी और भाप-भरे दर्पण-से आधे चमकते चाँद की ओर उच्छल हँसी उछाल दी जो टिमटिमाते तारों के रूप में ढल कर ओप चढ़ाती-सी छा गई अगम गगन में।

अब आया वसन्त। आम्र की स्वर्ण-ताम्र मञ्जरियाँ सौन्दर्य के भार से थर-थर काँपने लगीं। कोयल की 'कूऊ-कूऊ' से उनके गोपन मन में गुदगुदी-सी लगने लगी। वह नव पल्लवों की लाल-गुलाबी उँगलियों से बरजती रही, पर भौरों की भीर ने उसकी पीर पर थोड़ी भी संवेदना नहीं प्रकट की ! कुसुंभी साड़ी पहने, कानों में कनेर के गुच्छे लटकाए और केशों में अशोक के फूल खोंसे हुए प्रकृति-प्रिया मल्लिका की प्रफुल्ल हँसी हँसती रही।

कविप्रिया की सरलता ने भावुक मन को मोहा है; उसके अलङ्करण ने विद्वत्समाज को चकित-चमत्कृत किया है। जब वह कवि की उँगली पकड़ कर हिमालय की चोटियों पर विचरती है तो त्र्यम्बक का अट्टहास कैलास बना देता है। जब वह तमाल-ताली-वनराजि नील-सागर के किनारे-किनारे मचलती चलती है तो ताड़-नारियल के पेड़ पत्तों की ओट में मर्मर कर उठते हैं और लवङ्ग-पुष्पों की सुरभि लिए हवा उसके मुख-स्वेद को पोंछने के लिए दूसरे-दूसरे द्वीपों से भागी आती है। कभी वह स्वर्ग की सैर करने निकल जाती है तो कभी पाँताख की पड़ताल में गहरे उतरती है। कभी वह दार्शनिक की मुद्रा अपनाती और कभी आध्यात्मिक ज्योति बिखेरती है।

कालिदास प्रकृति के पुजारी हैं या स्वयं प्रकृति कालिदास की पुजारिन, कौन कहे !]

जब हम जी० बी० बी० कॉलेज पहुँचे, समारोह सम्पन्न हो चुका था। दिनकर जी हाथ में माला लिए हुए कविवर रमण और कुछ अध्यापकों के साथ बाहर निकल आए थे। रमण जी को मैं कुछ-कुछ पहचानता था और शायद वह भी मुझे···

क्रमशः अध्यापकगण लौट गए और दिनकर जी पैदल चलकर रमण जी के नयाटोलावाले मकान पर आ गए।

रास्ते में दिनकर जी ने कई-कई बार मेरी ओर देखा था, पर न उन्होंने मुझसे कुछ पूछा, न और किसी से। यहाँ आकर मेरे बारे में पूछा तो रामदयाल पाण्डेय जी ने कुछ ऊँचे ही स्वर में बहुत कुछ बता दिया। मेरा नाम सुन कर वह चिहुँके—मैं इन्हें जानता हूँ, कहीं इनका लिखा कुछ पढ़ा भी है। अच्छा लिखते हैं···अरे देखो, याद आ गया। इन्होंने निराला जी की गीतिका की बड़ी बेबाक आलोचना की है। उस लेख में इन्होंने निर्भयता से निराला को ललकारा है।

पाण्डेय जी ने कहा—वह इनका गौण पक्ष है। मूलतः कवि हैं।

दिनकर जी ने अपनी भारी आवाज में मुझे कुछ सुनाने का आदेश दिया। मैं सकपका गया।

इसके पूर्व मैंने किसी भी दिशा के कैसे भी बड़े की ऐसी कड़क-कौंध-भरी भारी आवाज नहीं सुनी थी। सबको तो सुना था,—महात्मा गाँधी, कवीन्द्र रवीन्द्र, निराला, ओङ्कारनाथ ठाकुर, गामा, राममूर्ति, पृथ्वीराज-चन्द्रमोहन;—सबको तो सुना था, ऐसी आवाज किसी की भी कहाँ थी!

मैं सकपका गया। अभी-अभी मेरा कण्ठ फूटा था। फिर मेरी आवाज दूसरे ध्रुव से आती-सी पतली, धीमी, उनके लिए एकदम ही अनजानी थी। पाण्डेय जी ने उत्साहित किया तो मेरी धँसी-धँसी आँखें उभर-सी आईं। मालव-विहाग की धुन हल्के गुनगुनाया तो उनके भरे चेहरे पर एक अजब-सी टेढ़ी-बाँकी मुसकान फैल गई। मैंने सिसकियों-सी सुर-धुन में अपनी एक बन्दिश सुनाई—

मुकुल-मुख, फूलो ना, फूलो ना!
देखो रेख, सुनो धुनि पग की,
भूलो ना, भूलो ना!

दिनकर की दृप्त हुङ्कार को यह झींगुर की झनकार रास न आई।

मगर अपनी ताकतवर आवाज में उन्होंने फिर कहा—एक और···

इस बार आटा-दाल का भाव मालूम हो चुकने के सबब गड़बड़ न हुई। मैंने महादेवी जी की तरह दूसरा स्वर निकाला और बगैर तरन्नुम के एक नृत्यगीत सुनाया—

मेघ-रन्ध्र में मन्द्र, सान्द्र ध्वनि
द्रिम् द्रिम् द्रिम्
उन्मद मृदङ्ग की !

यह गीत उन्हें बहुत पसन्द आया और मैं उनके गरुड़ मन को उड़ान पल भर रोकने में समर्थ हुआ।

अन्त तक, जिस किसी कवि-सम्मेलन में हम दोनों गए होते थे, वह आग्रहपूर्वक मुझसे इसे अवश्य सुनते-सुनवाते थे। वह कहते—अब वह सुनाइए—'द्रिमि, द्रिमि, द्रिमि' वाला गीत।'

मैं कहता—'द्रिमि-द्रिमि-द्रिमि' नहीं, दिनकर जी! द्रिम्··· ! द्रिम्··· !! द्रिम्··· !!! उन्हें सुनाने के क्षण प्रत्येक बार अग्नि-परीक्षा के क्षण होते। मुझे उस बदले गले पर काबू पाने और तार सप्तक के तीव्र गान्धार पर कायम रहने में अपने आपसे कठोर संघर्ष करना पड़ता था।

मेरी दूसरी मुलाकात चित्रा सिनेमा में हुई। वह काली कोठी वाले मिस्टर अग्रवाल के साथ बॉक्स में बैठने जा रहे थे, मैं नीचे फर्स्ट क्लास का टिकट लिए लम्बी कतार में खड़ा था। उन्होंने ऊपर चलने का संकेत किया। मैंने नीचे का टिकट दिखलाते हुए कहा—यहीं ठीक है।

लौटते समय मुझे सीतामढ़ी आने का आमन्त्रण दिया। वह उन दिनों वहीं सब-रजिस्ट्रार थे। मैं गया तो मुझे हफ्ते भर तक लौटने न दिया।

मैंने वहाँ मार्क किया था कि अकेले-अकेले में वह मेरी बड़ी बड़ाई करते थे, मगर अपने तबके के लोगों के बीच ऐसा भाव प्रकट करते थे जैसे मैं वहाँ हूँ ही नहीं। महादेवी जी ने भी ऐसा सार्वभौम चैतन्य केवल एकबार प्रकाशा था जब वह रायकृष्ण दास के यहाँ ठहरी हुई थीं।

दिनकर जी अपने समय के सूर्य थे। उनके प्रकाश में दूसरे अपने-

पराये को जानते-पहचानते थे। वह आरम्भ से ही ऐसे थे। उन्हें समझने का दम भरनेवाले नर्मसचिवों पर भी वह समझ-बूझ कर ही रीझते थे। भाग्यवानों को भी उनसे क्षणिक गौरव ही मिलता था।

तीसरी मुलाकात रमना में हुई थी। बाबू साहब को कुरुक्षेत्र सुनाने आए थे जो अभी निर्माणावस्था में ही था। मैंने आजीवन अपने को ही खोजने, तलाशने और पाने का प्रयास किया है। दिनकर जी बड़े जमींदारों, सेठ साहूकारों और ऊँचे ओहदे के अफ़सरों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर कविताएँ सुनाते थे, फिर वह मुजफ्फरपुर के बाबू उमाशङ्कर प्रसाद-जैसे सहृदय जमींदार हों या बम्बई के श्रेयांस प्रसाद जैन-जैसे विद्वान धन्ना सेठ; कोई महामहिम हों, मुख्यमन्त्री हों या एम० एल० ए०—उनकी दृष्टि में सभी अमीर-उमरावों के लिए समान समादर का भाव था। उनकी तरफ से यहाँ मेरी हाजरी जरूरी न थी, बाबू साहब ने ख्वाह-म-ख्वाह मुझे बुला लिया था। वहाँ उन्होंने जिन आँखों से मुझे देखा था, वह पूर्व परिचय का आभास भी नहीं दे पा रही थीं। तब मुझे एक श्लोक याद आ गया था—

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमाने च तप्यते
गाङ्गो हृदइवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते।

प्रसाद, पन्त या निराला—दस लोगों से घिरे बैठे होते, किन्तु मैं यदि उस घड़ी वहाँ दिख जाता तो सम्भ्रम के साथ बुलाकर मुझे अपने पास बैठाते रहे थे। उसी अभ्यास ने मुझे यहाँ चौंकाया, नहीं तो उनके बोलने-न-बोलने से क्या फर्क पड़ता था ?

बाबू साहब ने ऊँचे लहजे में मेरा परिचय दिया और बताया कि जब भी लाइम लाइट में नहीं हैं, इन्होंने राधा नामक एक महाकाव्य लिखा है।

दिनकर जी ने कहा कि वह मुझे जानते हैं और कवि से बड़ा विद्वान मानते हैं।

मैंने उन्हें हँसाने के लिए एक जुमला अर्ज किया—दिनकर जी, बड़ा विद्वान् कहलाने के चक्कर में मैं अपने छोटे कवि को चरका न दूँगा, आलोचक बनकर दूसरों की मणिमुक्ताओं में पत्थर और कोयला मिलाने का धन्धा न करूँगा।

उन्होंने आचार्य्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम लिया।

तो मैंने कहा—न दो रामचन्द्र हुए, न दो शुक्ल होंगे। फिर भा क्या वह एलियट की तरह एक ही स्तर के कवि और आलोचक हैं? आचार्य्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह कविताएँ बेशक लिख लेते हैं, कवि नहीं हैं।

तब दिनकर जी बतरस के मूड में न थे मगर दुर्भाग्य ऐसा कि बाबू साहब के बार-बार फोन करने पर भी कोई सुयोग्य श्रोता उपलब्ध न हुआ। ऐसा आगे और एकबार हुआ था, जब पं० ओङ्कार नाथ ठाकुर के गुरुभाई, शास्त्रीयसंगीत के महान स्तम्भ पं० नारायण राव व्यास पधारे थे। उस दिन भी कठिन प्रयासों के बाद कोई विशिष्ट श्रोता हाथ न लगा था। ले-दे कर एक नवलकिशोर गौड़ आए थे।

जैसे रोगी की नाड़ी पकड़ते ही अगड़धत्त वैद्य श्लोकों के गोले दागना शुरू कर देता है, उसी प्रकार मुझे ठाँव-कुठाँव श्लोक याद आने लगते हैं। एक आया—

जले तैलं, खले गुह्यं, पात्रे दानं मनागपि
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तित:

जल में तेल डालते ही वह दूर-दूर तक फैल जाता है; किसी एक दुष्ट से कोई गोपनीय बात बता दी जाए तो उसे अग-जग में फैलते देर नहीं लगती। संजय धृतराष्ट्र को महाभारत दिखा देता है—ऐसे ही किसी सुपात्र को थोड़ा भी दान दिया जाए तो वह देनेवाले का यश कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है। और ठीक उसी प्रकार किसी प्रतिभाशाली को शास्त्रों का थोड़ा भी ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह परवान चढ़ जाता है। गूढ़ से गूढ़ तत्वों को खोल कर सबके सामने रख देता है। सच तो यह कि बात की करामात होती है। कुछ अनूठा, अजूबा बिना भीड़-भाड़ के भी प्रकट हो जाए, तो उसका किस्सा अपने आप दूर-दूर तक फैल जाता है।

और भले ही दिनकर जी सीतामढ़ी-कोर्ट में सब-रजिस्ट्रार हों और जैसा वहाँ रहकर मैंने देखा, वह वहाँ के वकीलों और शेरोशायरी के शौकीन किसी मुसलमान डिप्टी साहब को अपनी हिन्दी कविताएँ सुनाया करते हों; किन्तु उनका प्रतापादित्य दोपहर के आकाश में पहुँच गया है। जैसे ओजस्वी शब्द, वैसी ही तेजस्वी आवाज, जहाँ

पढ़ते हैं, छा जाते हैं। कानपुर के शिवनारायण टंडन को बाबू साहब की बहन व्याही है—वह जब आते हैं, दिनकर जी की 'हिमालय' कविता की अवश्य चर्चा करते हैं। आज वह होते तो उछल कर दाद देते। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के घनिष्ठ मित्र हैं टण्डन साहब !

किन्तु यहाँ तो हमीं हम हैं। तलाश का सिलसिला बनता नहीं दिखता। दिनकर जी बाबू साहब को सुना कर, यहाँ के दूसरे बड़े जमींदार श्रीनारायण महथा को सुनाने चले जाएँगे। मैं संकोच के बोझ से जहाँ दब जाता, वहाँ नर-नाहर दिनकर दहाड़ते। रचाव शब्दों का उनका अपना था, पूरी शक्ति से कथ्य को साकार करते थे। लगाव श्रोताओं का देखते ही बनता था, फिर वह चाहे जिस श्रेणी के हों।

एक अनोखा अन्दाज था उनका चीजों का जायजा लेने का। किसी भी माहौल में वह अपनी शख्सियत का एहसास करा देते थे। जब उनके सुयश की सुगन्ध फैलने लगी थी, मैं बिहार के बाहर था। जब सब अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलाप रहे थे, तब मुझे उनकी अहमियत को करीब से महसूस करने का मौका नहीं मिला। वह दूसरों से तनिक हटकर कुछ नया कर दिखाने का साहस जुटा चुके हैं, इसका सही-सही विश्लेषण मैं मुजफ्फरपुर में आने के बाद ही कर सका।

उनके प्रशंसकों में बेनीपुरी जी ही ऐसे थे जो कविता-प्रेमियों की मनःस्थिति को शुरू से समझते थे। लोगों को इससे कोई सरोकार न था कि दिनकर जी छायावाद युग की ही देन थे या डा० मुल्कराज आनन्द ने प्रेमचन्द की अध्यक्षता में जिस प्रगतिशीलता का हिन्दी साहित्य में सूत्रपात किया था, उसका प्रतिनिधित्व दिनकर जी नहीं करते थे। इतना ही नहीं, उनकी स्वदेशी कविता के तत्त्व भी प्रायः विदेशी थे और उनकी राष्ट्रीयता सरकारी नौकरी में बने रहने के कारण मैथिलीशरण या माखनलाल जी-जैसी न थी।

रामकुमार वर्मा की 'चित्ररेखा' के साथ 'रेणुका' भी देव पुरस्कार के लिए भेजी गई थी। निर्णायकों की मानसिकता को रेणुका न छू सकी। कारण कोई व्यक्तिगत राग-द्वेष न था। वस्तुतः वह युग छायावाद का था और छायावाद की ही शब्दावली में 'आमि झञ्झा

आमि घूर्णि'-जैसा नजरूली क्रान्ति का यह अनिर्दिष्ट स्वर पूर्वाग्रहियों के कानों को तब तक नहीं स्पर्श कर सका था।

ऐसे ही जब 'पल्लव' के साथ गई हुई 'वीर सतसई' पुरस्कृत हुई थी तो निराला बहुत बिदके थे। पल्लव की कमजोरियाँ पहले-पहल निराला ने ही भरपूर उजागर की थीं; मगर जब अँधेरी दुनिया ने उसी की आड़ में गलत कदम उठाया तो वह निराला को बेहद नागवार लगा और उन्होंने युवा पीढ़ी के सामने उत्पन्न हुए इस खतरे की कतई अनदेखी नहीं की। वह नएपन की हिलती नींव को कारगर ढंग से मजबूत और सुदृढ़ बनाने के लिए छटपट कर उठे।

दिनकर के लिए यह रवैया किसी ने नहीं अपनाया था। दरअस्ल बिहार इस मामले में एक सदी पीछे है। वियोगी जी ने मसखरी बेशक की थी कि रेणुका की पहली ही रचना—

'**नाचो हे नाचो नटवर**' अटपटी है। कारण, शङ्कर नटराज कहलाते हैं', नटवर नहीं। नटवर कृष्ण कहे जाते हैं। और यह ताण्डव, कहना न होगा, शङ्कर को सम्बोधित है।

दूसरी ओर दिनकर के पक्ष में बेपर की भी उड़ाई गई थी कि इसी कविता की वजह से बिहार में भूकम्प हुआ। नटवर ने दिनकर की सुन ली और उन्होंने, बिहार में, खासतौर से दिनकर जी के नगर मुँगेर में प्रलय मचाकर ही दम लिया।

सच तो यह है कि न निराला के पक्ष-विपक्ष में बोलने से स्थिति में कोई अन्तर आया था, न यहाँ किसी की वकालत से कोई फर्क पड़ा।

समय ने दोनों को सम्मानित किया। सही शक्ल लेने के लिए किसी भी आड़े-तिरछे, स्याह-सफेद रेखाङ्कन को थोड़ा इन्तजार करना ही पड़ता है।

एक खास कालखण्ड में दिनकर का एक खास किस्म का लेखन हिन्दी की अपनी धरोहर है। और इसमें भी दो मत नहीं कि लेखन उनका सर्व-सम्मत या महत् न भी हो, उल्लेख्य अवश्य है।

मैं समय के समुद्रों के बीच रेत के सागर की कल्पना नहीं करता। और छायावादियों के इरादे को पूरे सन्दर्भ में समझे बगैर उसे कोहरा कहना लिटरेरी सेंसिबिलिटी की पकड़ के बाहर की बकवास मानता हूँ।

कोरी समसामयिक राजनीतिक हलचलों को कलमबन्द करना कोई कामायनी रचना नहीं है। रामायण का प्रधान रस करुण और महाभारत का शान्त है। मध्यकालीन दरबारी भाटों और चारणों की शौर्य-दर्प-दहाड़ अन्नदाताओं की नमकअदायगी ही अधिक, वीर रस का मार्मिक निर्माण कम है।

दिनकर की शख्सियत को मैंने सदा स्वीकारा है। मुखालिफत मैं तभी और सिर्फ तभी करता था जब वह बहुत पैनेपन के साथ प्रसाद आदि की आलोचना करते थे। उनके नकली अध्यात्म को निशाना बनाते थे :

'अरुण यह मधुमय देश हमारा !'

अथवा

हिमाद्रि-तुङ्ग-शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती !' को सन्दर्भ से काटकर—

'ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे।

—जैसी विशिष्ट रचनाओं का, पलायनवादी कहकर मजाक उड़ाते थे। मैं किसी कवि की ऐसी संवेदनहीनता नहीं गवारा कर पाता। बिफर कर बुदबुदाने लगता था कि नकली अध्यात्मवाद की तरह नकली समाजवाद भी तो हो सकता है। जीवन भर सत्ता से जुड़े रह कर गवर्नर और केन्द्रीय मन्त्री या एम्बेसडर होने की ही तमन्ना हर घड़ी दिल में पालनेवाले का—

दूध, दूध ओ वत्स, तुम्हारा
दूध ढूँढ़ने हम आते हैं ![१]

नकली समाजवाद क्यों नहीं है ?

तमाम विरोधों के बावजूद जो अपनी जगह अचल रहे वह निरे संवेदनशून्य 'अचल' ही न थे। उन पर उगे हरी-भरी डालियों वाले लहलहे पेड़-पौधे चहकती चिड़ियों के स्वर में अपनी शाश्वत आनन्दमयी ऊर्जा का ही इजहार करते हैं।

अदृश्य में विश्वास आस्था है। आस्था अदृश्य को दर्शनीय बना देती है।

छायावाद न तो कुढ़न और कुण्ठा का कुहासा है, न धुन्ध का चौफेर घेरा। वह साहित्य की अन्तर्मुखी साधना है। जो बाहर-बाहर की ही हलचलें देखता और चीख-चिल्लाहटें सुनता है वह शान्ति-समुद्र को निष्क्रियता और जड़ता की अभिशप्त तप्त मरुभूमि बखाने और शान्ति-समुद्र की आनन्दमयी लहरीली ध्वनियों को रेत उड़ाती हवा की सायँ-सायँ बताए तो इस पर हड़बड़ा कर व्यक्ति-आत्मा को विश्वात्मा से एकाकार होने की प्रक्रिया पर प्रवचन पिलाने लगना बेकार है क्योंकि अभी तो वह स्थूल देह की सपाट सतह से आत्मा की गहराई तक उतरना भी नहीं जानता।

× × ×

यह किसी के कान में कुछ-न-कुछ फुसफुसाने का बहाना तलाश करना नहीं है। वाकई दिनकर जी ने बिहार में कविता के श्रोता पैदा किए थे। उनके श्रोताओं की परिधि भी बहुत विस्तृत थी। एम० पी० होकर दिल्ली में आ बसने के बाद तो उनकी बिजली-सी कौंधती भाषा और हिमशुभ्र व्यक्तित्व से कढ़ी बादलों की गड़गड़ाहट-सी आवाज ने पूरे देश के श्रोताओं के दिल और दिमाग पर गहरा असर छोड़ा था। अशआर की ऐसी कद्रदानी फरमाते ही कितने हैं। दिनकर की खुशकिस्मती थी कि बेपनाह कद्रदानी ने उन्हें एक और ही आलम में पहुँचा दिया था। यूँ भी उनकी तबीयत बहुत बुलन्द थी।

दिल्ली की एक साहित्यिक संगोष्ठी में, जिसका संचालन विष्णु प्रभाकर कर रहे थे, आचार्य चतुरसेन शात्री ने हजारी प्रसाद जी के बारे में मुझसे कहा था कि उनके लेखन ने पाठक पैदा किए हैं। यही बात मैं दिनकर जी के लिए कहता हूँ कि उन्होंने कविता के श्रोता पैदा किए थे। पाठक भी। एक तो उनकी लगभग सारी की सारी कृतियाँ 'टेक्स्ट बुक' हुआ करती थीं, दूसरे अगर हड़बड़ी या विश्व-विद्यालय के अध्यापक-लेखकों की आपाधापी में एकाध छूट भी जाती थी तो सरकारी थोक खरीद के जरिए वे हर स्कूल-कालेज के पुस्तकालयों में पहुँच जाती थीं और वहाँ भी बहुत चाव से पढ़ी जाती थीं। छुटपुट खरीद कर पढ़ने वालों की तो गिनती करना कठिन था।

दिनकर को जो मिला, कायदे से यह उनका हक बनता था। मेरी सोच का लब्बो लुआब था तो यह कि इतना धन, मान, यश पाकर

भी वह अशान्त, अतृप्त और असन्तुष्ट ही क्यों मरे ?

उनके मुकाबले अपनी बदहाली पर एक नजर डालता हूँ तो कोई और ही मंजर नजर आता है। कूड़े-कंकड़ की तरह मैं दशक-दशक के शशक-सिंहों के मन्दर-कन्दर से उठा-उठा कर फेंका जाता रहा। किसी ने पलट कर नहीं देखा। मेरी बेहाली की खबर पाकर भी अतिव्यस्तता के सबब अच्छी हैसियत रखने वाले अपने रचे-रचाए दहलीज से बाहर निकलकर तहकीकात करना तक नामुनासिब समझते रहे। उनकी निगाह की लम्बाई मेरी परिधि पार कर फालतू बहसों में फँसी रह गई। पुराने पड़ चुके ढाँचे के खिलाफ डाँट-फटकार सुनने में मजा ही आता रहा। जो सही है वह पुराना क्या, नया क्या, मेरे लिए अनिवार्य है। जो गलत है वह चाहे जैसा नया, ताजा या टटका हो, एक खूबसूरत खतरा है, और मैं उसके खिलाफ हूँ।

× × ×

मैं तो बचपन से उत्तर प्रदेश, पञ्जाब और मध्य प्रदेश की हवा खाता रहा था। मैंने कहीं किसी भी कवि के लिए ऐसा आग्रह नहीं देखा था। दिनकर का दबदबा देखते ही बनता था।

एक बार कविवर आरसी प्रसाद सिंह किसी गाँव में गए। वहाँ के बड़े बुजुर्गों ने इनका परिचय जानना चाहा। नौजवानों ने बताया : कवि हैं।

बुजुर्ग भौंचक : यह कवि क्या होता है ? ये करते क्या हैं ? क्या वह जो दिनकर करते हैं ?

कालिदास ने यह परिसंवाद सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया होता तो वह "उदयन-कथा-कोविद-ग्रामवृद्धान्" के बजाय 'दिनकर-कथा-कोविदग्राम्य वृद्धान्' ही लिखते।

जिन दिनों कवि का अर्थ रवि या सूर्य नहीं, दिनकर हुआ करता था, मैं मुजफ्फरपुर आया था। अब तो निराला पर कुछ कहे-सुने बिना किसी की साहित्यिक पहचान ही नहीं बनती, तब किसी भी सभा-सम्मेलन में निराला का नाम-गुण-कीर्तन करने वाला मैं अकेला ही था। और आज जनवाद ने जिन्हें खारिज कर दिया है, निराला की उन्हीं रचनाओं के रस और सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा किया करता।

था। दरअस्ल मुझमें क्या था? निराला की आड़ में मेरे खड़ा होने की यही वजह थी। जो स्वयं प्रतिभाशाली हैं, जिनके कलाम में कलम की नोक-सी चुभन होती है; जिसमें आँधी-बँडोवे की तरह युग को झकझोर देनेवाला जोर होता है, वह क्यों दूसरे का सहारा ले?

आजकल कोई किसी को अपने से बड़ा मानता है? मैं मानता था। निराला को मानता था।

× × ×

बिहार में मैंने पहला काव्य-पाठ मुंगेर में किया था। प्रो० कपिल शान्तिनिकेतन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से निकट से जुड़े थे। उन्हीं की सिफारिश पर मुझ 'अज्ञात-कुल-शील' को बुलाने का साहस किया था।

आजकल की केन्द्रीय मन्त्री श्रीमती राजेन्द्र कुमारी वाजपेयी के पिता श्रीकृष्ण मिश्र मुंगेर के जाने-माने वकील थे। वह दिनकर जी के मित्र भी थे, प्रशंसक भी। यों भी मुंगेर दिनकर जी का अपना शहर था।

मिश्र जी इस सम्मेलन के भी; ठीक याद नहीं; कुछ थे। वह बड़ी बेसब्री से दिनकर जी का इन्तजार कर रहे थे, मगर सम्मेलन का दुर्भाग्य कि उसे उस दिन उनके दर्शनों से वञ्चित रहना पड़ा।

मिश्र जी बेहद गोरे थे। हँसते-बोलते वक्त उनका चेहरा लाल हो जाता था। नेपाली जी के साथ मैं टाउन-हॉल के अन्दर दाखिल हुआ तो प्रो० कपिल ने ही मुस्कान घोलकर मुँह मीठा किया। स्वच्छ खादी के लिबास में, गाँधी टोपी पहने हुए मिश्र जी का रोबीला व्यक्तित्व अधिक आकर्षक जान पड़ा। हम उन्हीं के पास बैठे। उन्होंने हमारे स्वागत में कुछ पिघले ऐसे बोल छिड़के कि उस फुहार से रास्ते की थकन एक बारगी मिट गई। यूँ हम लक्ष्य मिलने तक चलते रहने की सौगन्ध खाए हुए ही यहाँ बैठे थे। हम मानते ही मानते हैं कि जब तक समुद्र प्यासा है, हिमालय को तिल-तिल गलना होगा। उमस-भरे माहौल में जमे प्राणों को पिघलना होगा।

मसलन उन्होंने अपनी सखुनफहमी का इकरार यह कह कर किया कि जिस कवि-सम्मेलन में दिनकर न हों वह भी क्या कवि-सम्मेलन! हमें ऐसी गहरी नजर से देख रहे थे जैसे उनके न आने की वजह हम

ही हों।

जौहरियों ने मेरी कीमत कब कूती थी ? कहाँ मैं किसी की नजर पर चढ़ा था ? अपने को कुसूरवार मानने का सबब समझ में नहीं आता था। शुरू-शुरू में थोड़ा सकपकाया; फिर साहस बटोर कर बोला : जो उनके खास दोस्त अहबाब है उन्होंने शायद उनसे रूहानी ताल्लुक का जिक्र नहीं किया ?

मिश्र जी ने जवाब देकर मेरा हौसला नहीं बढ़ाया। स्वागत-भाषण करने मञ्च पर चले गये। ऐसे भावावेश में थे कि बोलते वक्त हर बार राष्ट्र-कवि दिनकर की जगह राष्ट्रपति दिनकर ही बोले।

नेपाली जी ने किस्म-किस्म की रचनाएँ सुना कर सभी स्तर के श्रोताओं को आनन्द-विभोर कर दिया। सुनकर पहली ही बात जो जहन में आई वह थी कि काव्यपाठ का यह जादूई ढंग उन्हें किस तरह आ गया ! मैंने तो सबको सुना था, यह सहजता, यह तरन्नुम, यह ओज-भरी मिठास, यह किलोलती हुई वाग्धारा—कोई ऐसी-वैसी बात नहीं, बहुत बड़ी बात है। आज भी एक अकेले वीरेन्द्र मिश्र के काव्यपाठ में ही ये सारे के सारे गुण दिखाई देते हैं, नहीं तो···खैर। सोचा था, विकट जी और एक बार मञ्च पर आ जाते, छा जाते, वातावरण थोड़ा बदल जाता, तब मैं बलाया जाता; मगर 'आपन चेती होत नहि !'

गर्मियों के दिन। पसीने से लथ-पथ था ही, ऊपर से नेपाली जी ने लहर-लहर स्वर में रस बरस कर पूरी तरह भिगो दिया था। मिश्रजी को नमस्कार कर उठा और निराला के स्वाभिमान के एक समादृत हिस्से पर हरताल फेरता हुआ हिरनौटे की तरह कुर्सियाँ फलांग कर मञ्च पर पहुँच गया। महज मिश्र जी को चौकाने के लिए माइक से तीन बालिश्त पीछे हटकर 'बहार' गुनगुनाने लगा : **सा म प ग म रे सा: सा म प ग म नी ध नी प म प नी नी प म प ग ऽ म ऽ रे सा।** देखा, श्रोता सुरों से नहीं जुड़े।

भागलपुर के श्री सत्येन्द्र नारायण अग्रवाल अध्यक्षता कर रहे थे। मैंने पिछले क्षणों की परछाइयों और आगे के सपनों को एक ही धागे में पिरोकर अनुरोध किया : पंखे बन्द करवा दें। मेरी कमजोर आवाज इनकी घनघनाहट में खो-बिखर जाएगी। सहसा सन्नाटा

छा गया। मैं पहली बार आया था। मेरे गीतों का स्वाद अनचखा था। कुछ चेहरों पर ग्रहण-सा लग गया : सभी पसीने से नहाए हुए थे। कुछ खुसर-पुसर हुई मगर कपिल जी के इशारे से पंखे बन्द हो गए। बगैर किसी की अमलदारी उखाड़े एक खास मतलब से गीत सुनाने से पेशतर मैंने इस बदतमीजी के लिए मुआफी तलब की और अपने अजनबीपन की पहचान निखारते हुए श्रोताओं की मानसिकता को हल्के छेड़ा :

मैं न गगन हूँ, मैं न मही हूँ !
जिसी नाम से मुझे पुकारो,
उसी रूप में ढला, वही हूँ !

आखिरी अन्तरा था :

यों हम दोनों हिले-मिले हैं,
एक डाल पर खुले, खिले हैं,
'नाम'—मात्र का अन्तर फिर भी,
तुम हो 'हाँ'! मैं आह ! 'नहीं हूँ।

सुनने पर उन्हें एक अलग तरह का अनुभव हुआ होगा, मगर वह राग बहार का करिश्मा था या एक अधखुले दरवाजे में दाखिल होने का, कहना कठिन था। साफ-सुथरी जुबान में खूबी-खराबी की तलाश आसान है। खुश था कि सब कर रहे थे। मेरी खस्ताहाल जिन्दगी में बदहाल भाव ही हैं। अनुभव का फैलाव बेकाबू नहीं है, गम्भीरता से गौर करने पर पता लगना मुश्किल न होगा कि क्यों राग बहार में विराग गाया गया ?

'और-और' के लिए करतल-ध्वनि को केदारा ने शान्त किया :

किसने बाँसुरी बजाई ?
जनम-जनम की पहचानी,
वह तान कहाँ से आई।

श्रोताओं ने सबूत पा लिया था : अब वह किसी के बहकावे में आने वाले न थे। राजनीति से हटकर भी लिखा जा सकता है, ऐसा, जिसे किसी अजीबोगरीब फैसले की परवा नहीं।

वातावरण में कुछ ऐसा परिवर्तन आ गया कि लोग पसीना

पोंछ-पोंछ कर और-और का आग्रह दिखाते रहे। मैं भी पूरे मन से कोशिश कर रहा था।

इस बार सुस्ताने के खयाल से राग शङ्करा गुनगुनाया :

सा ग प, नी ध सां
सा नी पग, ग प गसा

बाद में बेकार साबित न हो, इसलिए सामूहिक खुशी का ख्याल कर झटपट स्वर का वर्ण बना दिया—स्वर सब नहीं समझते, वर्ण विचारते हैं। मैंने मगर हमेशा ही महसूस किया है कि कविता में स्वर समानान्तर सार्थकता गढ़ते हैं। कोरा एहसास कविता नहीं है।

प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में।

मैं सबके चेहरों पर हँसी-खुशी देखना चाहता था। भाव की अन्दरूनी मायूसी महज मेरी उलझन सुलझाती है। दो विपरीत छोरों को स्वर पास-पास लाते हैं। मैं अपने अवसाद-भरे गुजरे क्षणों में गाते वक्त जीता हूँ, तभी दूसरों के दिल हिलोरे लेने लगते हैं। कला के ऊँचे आदर्शों को विकृति से बचाने के लिए अपने आप से ले-दे की नौबत आती ही आती है। डाँट डपट की दहशत से रोंगटे खड़े हो जाते हैं, सकते में आकर चीख-से तीखे स्वरों का उत्पात सहना पड़ता है। मैं जब—

पावस जिसका श्याम वर्ण है,
शरद उसी का निर्मल दर्पण।

अथवा

पूजा-अर्चा की चिर-चर्चा,
कुञ्ज-कुञ्ज के कुसुम चयन में।

गा रहा था तब श्रोता दोफाड़ नहीं हो गए थे। एक मायूस स्वर के साथ बैठे ही बैठे सरकते चलने में हिचकिचाते न थे।

इस बार 'और' की फरमाइश पहले हुई, तालियाँ फिर पिटीं। मैंने 'छायानट' की छन्द-लय में स्वर के ताने-बाने बुने :

बना घोंसला पिंजड़ा पंछी !

अब अनन्त से कौन मिलाए,
जिससे तू खुद बिछड़ा पंछी !

आज का-सा जनवादी मोर्चा तब होता तो अनन्त का अन्त करके ही दम लेते दम साधे बैठे लोग-बाग। मगर न वहाँ किफायत पसन्द लोग थे, न जरूरतमन्द। मैं वन्दना के-से छन्दों द्वारा आनन्द मुहैया कर रहा था, बैठे-ठाले लोग झूम रहे थे। मेरे गीत कामकाजू लोगों में उछाल कर कोई आजमा ले कि ऐसे गैरजिम्मेदार, भगोड़े गीतों का ईमान घोंट दिया जाता है या नहीं ? पार्टी के खुर्राट नेताओं की सारी जद्दोजहद अपनी मनवाने की होती है। यहाँ छूट थी, एक पागल पंछी बे-मौसम के मासूम गीत गा रहा है, जिसका जमीर मना करता है, बाहर की हवा खा आए ! स्वाद बदलने के लिए पान पगुराते लोग भी पीक थूकने के बहाने दाएँ-बाएँ ताक-झाँक करते नहीं दिखते थे। हम-राहियों के दिलो-दिमाग को छू कर जमे हुए स्वर मेरा हौसला बढ़ा रहे थे। आखिरी अन्तरा था—

अग्नि जले तब विफल न इन्धन,
मुक्ति कर्म का मर्म, न बन्धन;
अजब, उड़ा जो सब से आगे,
वह अपने से पिछडा पंछी !

मञ्च आश्वस्त प्रशस्ति में पल-भर को चञ्चल हो गया—दार्श-निक गीत हैं ये ! आदतन मैंने मसखरी की—जी, वैज्ञानिक गीत मैंने कहाँ कभी लिखे ? यहाँ-वहाँ से चीजें उठाकर काम निकाल लेना सीखा है। इस जोड़-तोड़ में रियाज जरूरी नहीं होता। (ठहाका)

लोग एक और की फरमाइश क्या करते, एक-एक कर अपने दिल का सुनहरा झरोखा खोलते जाते थे, इधर मैं पंखे गिन रहा था कि एक बन्द पंखे के एवज में एक खुला गीत। अब मिआद के थोड़े-से लमहे और बचे थे। मैं 'जलधर केदारा' में शुरू हो गया—

बादलों से उलझ, बादलों से सुलझ,
ताड़ की आड़ से चाँद क्या झाँकता !

सामने जो हो, खिड़कियाँ बाहर की ओर खुलती थीं, मेरे स्वर तड़प कर चौखटे फाँद गए। कहर भरी नजरों से मुझे घूरते हुए बेड़ा

गर्क करने वाले कुछ तेज-रौ अन्दर आ गए। मैं बैठी कार में बैलगाड़ी का पहिया फिट कर आखिरी अन्तरे पर पहुँचा—

रंग आया नहीं, रश्मि-छाया घुली;
रेख खुलती नहीं, तूलिका यों तुली!
शून्य तुम, चित्र मैं क्यों वृथा आँकता?
ताड़ की आड़ से चाँद क्या झाँकता!

अब सिर्फ एक पंखे का कर्ज चुकाना बाकी रह गया था। अन्दर से खुद भी तप रहा था, ब-हर सूरत ठंडक छिड़कनी थी। जोरदार अपील के शोर में मैंने अपना आखिरी पैगाम 'सिन्धु भैरवी' में सुनाया।

'सिन्धु भैरवी' अपेक्षाकृत अल्प प्रचलित रागिनी है। इसे झूठी इज्जत का शौक ही कह लीजिए कि मैं चलन गुनगुना कर शुरू हुआ— सा, रे ग म, रे ग, रे नि सा, ध प ध म प ग रे ग, रे ग रे नि सा। (It is the bell metal that glitters under the flash of lightning.)

तुम कि तनहाइयाँ ढूँढते शून्य की,
चाँद-तारे तुम्हारे लिए हैं जले।

खुदानाखास्ता मुझे कोई शुब्हा था तो इस अनजानते मुँह में आ गए गीत पर कि कहीं यह अधबीच में ही न बैठ जाए! इसकी शख्सियत ऐसी नहीं कि सुनने वाले आहिस्ता-आहिस्ता खिंचे चले आएँ! रूह को बढ़ावा देनेवाली गहराइयों में डूबे हुए सिन्धु भैरवी के सुर हर तरह दर्जा-ब-दर्जा, खैरियत पूछ रहे थे कि जेहन में जरा भी खुद-बुद हुई कि बेड़ा गर्क! मेरी थकी-माँदी साँस चरम बिन्दु पर आकर जरा सुस्ता लेना चाह रही थी—

जो कसो, टूट जाएँ, तुनुक तार ये;
ढील दो, छन्द-लय हों निराधार ये!
साज यह जिन्दगी का, नहीं दिल्लगी,
जो छुओ, छेड़ दो, और बजता चले!

'वन्स मोर' 'वन्स मोर' के शोर और मुसलसल तालियों की गड़-गड़ाहट के बीच कुछ झेंपता, कुछ मुसकुराता हुआ, अपने वजूद की

तनहाई की हदें पार कर नमस्कार की मुद्रा में, मञ्च से उतर गया। खामोशी इजहार कर रही थी—आप अपने हॉल के पंखे गिन लीजिए, सब इतनी देर साँस साधे रहे, खैरियत है न! मैंने एक-एक का दर्द अदा कर दिया है! अब इन्हें आजाद कर दीजिए।

करीब आने पर नेपाली जी उमड़ कर मिले। दूसरों ने भी बढ़-चढ़ कर उछाला। मिश्र जी मुसकुराए।

एक ने पूछा—जब इतना अच्छा लिख लेते हैं तब इतनी छोटी-छोटी कविताएँ क्यों लिखते हैं?

हमसाया दूसरे दानिशमन्द ने बड़े तपाक से कहा—जब दिनकर जी की तरह यह भी बड़े कवि हो जाएँगे, तो देख लेना, यह भी बड़ी-बड़ी कविताएँ लिखेंगे।

× × ×

प्रत्येक कवि की एक अपनी निजता होती है, उसे पनपने फूटने दिया जाए तो काव्य के उद्यान में किसम-किसम की खुशबुएँ फैलें किन्तु सत्ता या राजनीति ऐसा नहीं होने देती, सो उसी की बनाई लीक पीटने की मजबूरी होती है। आँख बचाने वाले को बाकायदा रटी-रटाई गालियाँ दी जाती हैं—पलायनवादी, बुर्जुआ, प्रतिक्रियावादी और जाने क्या-क्या···।

अब रही बात जोश और सुकून की, उत्तेजना और शांति की। राजनीति में उत्तेजना है—दाँव-पेंच, चुनौतियाँ, ललकारें, हिंसा, प्रतिहिंसा। सीधा असर होता है उनका जनता पर। बात हलक के नीचे न भी उतरे, तलवार तो उतर जाती है।

मेरे गीतों में जीवन का दूसरा पहलू है जो शान्ति और स्थिरता का कायल है। गोल-गोल घूमना इसमें नहीं है। बाहर से कुछ छीन-झपट कर ले आने की खुशी नहीं, अपने को पाने का आनन्द है—

'आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्।'

अध्यक्ष महोदय कवि-सम्मेलन के समापन पर अपनी मार्मिक टिप्पणियाँ देते हुए मेरे बारे में अन्तिम वाक्य बोले कि—

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री बिहार के रवीन्द्रनाथ टैगोर हैं।

इस पर पहली ताली बजाने वाले नेपाली जी थे। फिर तो सारा

हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा।

मैं छिछला आदमी, इतना सुख सँजो कर कहाँ रखता ! झटपट मञ्च पर पहुँचा और अध्यक्ष महोदय के पास तुरत ही चुप हुए माइक को थपक कर—

'लेत चढ़ावत खेंचत गाढ़े,
काहु न लखा देख सब ठाढ़ें,'

—की मुद्रा में ट्यून कर हँसते-हँसते कहा : अध्यक्ष महोदय, एक छोटी-सी ढिठाई करने की इजाजत दें कि कवीन्द्र रवीन्द्र को हम दोनों में किसी एक ही ने समझा है !

—इस हसीन गुनाह पर जो तालियाँ बजीं तो फिर बजती ही रह गई।

अग्रवाल साहब भी खूब खुलकर हँसे। वहीं से मुंगेर के राजकुमार शचीनन्दन सिंह 'भ्रमर' मुझे अपने घर लिवा ले गये। कई दिन उनकी राजवाटी का राजसी आतिथ्य ग्रहण करना पड़ा।

एक रात बात छिड़ी गीत में प्रतीत होने वाले व्यक्तित्व की। मैंने स्तर भेद से इसे स्पष्ट करना चाहा कि गीत दोनों हैं, किन्तु—

इस पार प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा ? —बच्चन

और मेरे

'किसने बाँसुरी बजाई,
जनम-जनम की पहचानी
वह तान कहां से आई ?

के स्तर में अन्तर है।

सुरा पी, मधु पी, कर मधु-पान,
रही बुलबुल डालों पर बोल !
—बच्चन

और अपने

प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन नयन में !

की 'अपील' एक नहीं हैं। गीत-गीत का यह अन्तर 'अन्तरं महदन्तरम्'

है। फिर श्रोताओं को एक ही मञ्च से इन्हें सुनना और गुनना पड़ता है। लोकगीत और शास्त्रीय संगीत के एक ही श्रोता हैं। कैसी कठोर परीक्षा है।

कथ्य के अन्तर से अभिव्यक्ति में अन्तर आता है। कथ्य के चुनाव के पीछे अपना-अपना संस्कार होता है। मेरा संस्कार मुझे भौतिकता पर कायम नहीं रहने देता। ऐसा नहीं कि इस जमीन पर मैं कभी खड़ा ही न हुआ। मैं एक गीत कवि-सम्मेलनों में पहले रायगढ़, जबलपुर जैसे समृद्ध नगरों में सुना चुका हूँ—

सौन्दर्य तुम्हारा नीर-भरा,
है दरस अमृतमय तीर-भरा,
है परस वसन्त समीर भरा।
मैं क्या भूलूँ, क्या याद करूँ
क्या रक्खूँ, क्या बर्बाद करूँ,
विस्मरण मरण, संस्मरण तुम्हारा-
प्रति क्षण, प्रति पल पीर-भरा!
मैं जिऊँ, न इसकी चाह तुम्हें,
मैं मरूँ, न इसकी आह तुम्हें,
मैं जला रहा जीवन-होली,
यह मरण गुलाल-अबीर भरा।

…और, हाँ, ऐसे ही प्रशस्ति-स्वर और करतल-ताल से संवर्धित भी हुआ हूँ। किन्तु यह मेरी असली जमीन नहीं है। कालिदास ने पास-पास पार्वती के रूप और शंकर के योग का वर्णन किया है, विश्व-काव्य में उसका जोड़ नहीं है, उनकी सही जमीन की तलाश आपको करनी है।

× × ×

एक दिन अचानक दिनकर जी, कामेश्वर शर्मा 'कमल' और रमण जी के साथ 'राधा' सुनने आये। दूसरे सर्ग को उन्होंने सबसे अधिक सराहा।

मेरी टेकनीक को नजर लगाई। सचेत रहकर संवेदनाओं को दो शब्द दिए। हमारा सम्बन्ध क्रमशः प्रगाढ़ होता गया। उन्होंने 'हिमा-

लय' में मेरे 'साहित्य दर्शन' और 'शिप्रा' की विस्तृत समीक्षा की। 'चिन्ताधारा' की आचार्य शिवपूजन सहाय के साथ प्रस्तावना भी लिखी और एक ऐसा भी समय आया था जब मुझे डेढ़ सौ रुपये की आर्थिक सहायता भी दी थी।

उनके व्यक्तित्व में ऐसा आभिजात्य था कि मित्रता उनसे सम्भव न थी। उपकृत बहुतों को करते थे। उनके कुछ नर्म सचिव अवश्य थे जो यहाँ-वहाँ अपनी अन्तरङ्गता भुनाते थे। मुझे उनके साथ बिहार बंगाल से लेकर दिल्ली तक अनेक कवि-सम्मेलनों में काव्य-पाठ करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। क्या ठाठ थे उनके, जहाँ होते थे, छाए रहते थे।

मेरी अध्यक्षता में सम्पन्न होने वाले अनेक कवि-सम्मेलनों में (बेतिया, सीतामढ़ी आदि स्थानों में) भी उन्होंने काव्य-पाठ कर मेरा गौरव (जिसे मैं गो-रव कहकर हँसता रहा हूँ) बढ़ाया था। विनम्रता और सज्जनता की प्रतिमूर्ति थे। उनके अचानक चले जाने से बिहार का काव्य-शिखर ढह गया। सम्भ्रम और सम्मान यहाँ की कविता के लिए जो था, चला गया।

× × ×

जीवन कोई जीता है तो ऐसा जीता है कि उसे मृत्यु की भी सुधि नहीं रहती। किसी पर मृत्यु का ऐसा आतङ्क छाया रहता है कि जीवन के सुखद क्षण भी वह अवश्यम्भावी मृत्यु की आशङ्का में खो देता है। जीने की तरह कोई-कोई ही जी पाते होंगे। जीवन में सुख-दुःख खोजना नहीं पड़ता, आनन्द को चीन्हना-पहचानना पड़ता है। सूर्य का उगना ही काफी नहीं होता, आँखों में रोशनी होना जरूरी होता है।

आनन्द की अनुभूति सुख-दुःख के अनुभव से भिन्न है। सुख-दुःख को कहा जा सकता है, आनन्द आत्म-विभोर कर देता है। कुछ कहने नहीं देता। कवि किन्तु कह सकता है। आनन्द की अनुभूति को भी वाणी दे सकता है।

मन जिसमें टिकता है, वह हृदय कहा जाता है। समाधि से वश में किए हुए मन को भी तो बने रहने के लिए कोई अधिष्ठान चाहिए। नौ द्वारों से वह विषयों की ओर भागता है। जब समाधि होती है तब

नवों दरवाजों के बन्द होने पर ही होती है। ऐसे में मन कहाँ रहे, उसे प्रणिधान की स्थिति में हृदय में व्यवस्थित करना पड़ता है। हृदि अयम्। ऐसा होने पर ही अपने से अभिन्न रूप में आत्मा का साक्षात्कार सम्भव है। आनन्दमय होने की इस सूक्ष्म प्रक्रिया को कालिदास अनुभूति की शान पर चढ़े शब्दों में प्रकाश दे सके हैं—

'मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति
हृदि व्यवस्थाप्य समाधि-वश्यम्
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदु-
स्तमात्मान मात्मन्यवलोकयन्तम्।'

रवीन्द्रनाथ ने भी इस दिशा में पर्याप्त प्रयास किया है। आनन्द को वह भी स्वरों और वर्णों से बाँधते हैं। जो और कैसे भी नहीं कहा जा सकता, उसे स्वरों से कहते हैं, जिसे शब्दों से हृदयङ्गम कराया जा सकता है, उसे शब्दों में साकार कर देते हैं।

जीवन के सुख-दुःख स्वरों में बहे-बहे आते हैं, आनन्द निश्चल परिपूर्णता को तरल बना कर छलक-छलक पड़ता है, आँखों की राह, पुलक के माध्यम से।

मनुष्य निश्छल, निर्मल होकर देवत्व की ओर उठने लगता है। स्नेह उसे भावनाओं से भर देता है। उमंग उसकी जड़ता को उखाड़ फेंकती है। हिंसा-प्रतिहिंसा और काम-क्रोधवाले पशुत्व से वह दूर-दूर हटता चला जाता है। वन्दना की विनय, प्रार्थना की विनम्रता, और समर्पण का सुख उसे आग की निर्धूम लपट की तरह उच्च से उच्चतर की ओर उठाते चले जाते हैं। वह जितना ही सहज होता जाता है, उतना ही अपने से अभिन्न आत्मा के अनुभव का आनन्द प्राप्त करता होता है। संन्यासियों के नाम में आनन्द जोड़ने का यही तात्पर्य प्रतीत होता है। ज्ञान-रूप में विवेक नहीं, आनन्द-रूप में। आनन्द अपरोक्ष अनुभूति है।

आचार्य शङ्कर के अद्वैत का खण्डन-मण्डन इसीलिए किया जाता है कि वह शास्त्रीय ज्ञान पर आधृत है। जो उसे काटता है वह शास्त्र काटता है। शङ्कराचार्य की तरह वह 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्' की अपरोक्ष अनुभूति का दावेदार नहीं होता। अनुभव नहीं

कटता। 'अनुभवं वचसा सखि लुम्पसि ?' —श्रीहर्ष ने योंही नहीं लिखा।

× × ×

'कमरा बन्द कर क्या किया जा रहा है' ? फाँक से झाँक कर दिनकर जी ने पूछा। दरवाजा खोलने पर उनके साथ मनोरञ्जन जी भी दिखाई दिए।

'दिनकर का आकस्मिक प्रवेश रोकने के लिए कमरा बन्द था। उद्देश्य मनोरञ्जन।'

—मैंने कहा। ठहाकों के साथ हम इकट्ठे बैठे। मेरे आसन के दोनों ओर अंग्रेजी और बंगला की गीताञ्जलि थी, सामने कुमार-सम्भव।

'यह सब क्या है ?—दिनकर जी ने भवें टेढ़ी कर पूछा। मैंने कहा—

अमिय-गरल, शशि-सीकर-रवि-कर,
राग-विराग-भरा प्याला !'

फिर जोरों का ठहाका लगा। मनोरञ्जन जी को जल्दी जाना था। एक गीत गुनगुनाने लगे—

'आज प्रतिमा का विसर्जन !'

मनोरञ्जन जी से मैं काशी से ही परिचित था। वह टेनिसन पढ़ाएँ या शेली, कुछ अपनी पंक्तियाँ अवश्य क्लास में सुनाया करते थे। 'सारी जमीन थी अपनी औ' आसमान भी अपना'-वाला उनका सपना फिर-फिर सुनकर सभी छात्रों की आँखों में उतर आया था।

यहाँ, मुजफ्फरपुर के किसी महल्ले में उनकी ससुराल थी। वह जब भी यहाँ आते थे, और प्रायः ही आते थे, मुझे दर्शन देने की कृपा अवश्य करते थे। इस बार उनके आने का एक और भी कारण था : चन्दा की अंग्रेजी की कॉपी उनके पास गई थी। यही सेटर और हेड एग्ज़ामीनर थे। एक शाम बाबू साहब ने मुझसे रुकते-रुकते पूछा कि क्या मैं छपरा जा सकता हूँ !

मनोरञ्जन बाबू किसी की एक नहीं सुनते, नहीं तो मैं आपको यह जोखिम का काम हर्गिज न सौंपता।

मैंने यह धन्धा कभी न किया, परन्तु जिन्होंने मुझे सड़क से उठाकर अपने बंगले में बसा रखा था; संस्कृत कॉलेज की प्रोफेसरी जिनकी देन थी, उनकी यह एक अदना-सी बात टाल जाता, ऐसी अड़ियल आइडियोलॉजी भी मेरी न थी। मैंने एक नए अनुभव के उत्साह में स्वीकृति दे दी। यहाँ जो पैसे मिलते थे उनसे दुअन्नी का नाश्ता भर चल पाता था। संस्कृत कॉलेज में जाने पर थोड़े पैसे मिलने लगे थे, जिनसे धीरे-धीरे मैंने नुमाइशी वेश का जुगाड़ कर लिया था। पेटी-होल्डाल लिए दिए उसी शाम रवाना हो गया। सोनपुर में टी-स्टाल के सामने मेरा डब्बा रुका तो चाय-पान के लिए उतर पड़ा। लौटा तब तक पेटी-होल्डाल गायब हो चुके थे। ट्रेन छूटने तक काफी पूछ-ताछ की, कोई नतीजा न निकला। मैं शाम के झुटपुटे में, उदास-निराश मुहर्रमी सूरत लिए मनोरञ्जन बाबू के क्वार्टर में पहुँचा, उस घड़ी वह सितार बजा रहे थे—राग जयजयवन्ती। नमस्कार चमत्कार के सांकेतिक आदान-प्रदान के तुरत बाद जब वह संकोचवश सितार को एक ओर रखने लगे, मैंने निराला जी का एक गीत जयजयवन्ती में ही गाकर सुनाया—

मौन रही हार !'

—प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृङ्गार !'

घर में उनके एक लड़की थी। साहित्य-संगीत में उसकी अनन्य अभिरुचि थी। मनोरञ्जन बाबू से कहकर उसने मेरी कई कविताएँ नोट कीं। रात बीती, दिन में मेरे आराम की भरपूर व्यवस्था कर वह कॉलेज चले गए। न उन्होंने कभी पूछा कि मैं कैसे आया हूँ और न मैं कभी कुछ कहने का साहस जुटा सका। वह मेरा प्रथम दुस्साहस जो था ! उनकी अनुपस्थिति में मैंने एक लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा और उसे उनकी पुत्री को सौंप कर मुजफ्फरपुर लौट आया। पन्द्रह दिनों बाद मुजफ्फरपुर आने पर मुझे वह यही बताने आए थे कि तुम्हारा काम हो गया। दिनकर जी को भी उन्होंने कुछ जानने न दिया। यह भी न पूछा कि तुम चुपचाप क्यों चले आए थे !

इस बीच रसगुल्ले और नमकीन के साथ चाय का ट्रे मैंने चन्दा को पुर्जा भेजकर मँगवा लिया था। हँसी-खुशी में ट्रे खाली हुआ ! दिनकर जी ने आज शाम को संभवतः आशा राय के यहाँ आने के लिए कहा,

वहाँ वह काव्य-पाठ करने वाले थे।

मैं मकड़ी का जाला झाड़ रहा था। जकड़े हुए था दरवाजे को। यह हर रोज का धन्धा था मेरा। मैं रहता तो था तनहाइयों के जंगल में, लोग ताकते-झाँकते थे अन्धे कुएँ में। वहाँ भी न दिखता तो इस कमरे की तलाशी ली जाती थी। यहाँ मेरा सर्द सफेद साया, आँख मूँद कर देखने पर, दिख जाता था।

यहाँ मुझसे तू-तड़ाक से बातें करनेवाला कोई न था। कद्र की या नहीं, कद्रदाँ जाने। मेरी जानिब से ऐसी कोई चूक बेशक न हुई जिसकी वजह से दिल में हिचक महसूस होती। तारीफ और वाहवाही पाने का हकदार मैं था नहीं; तब तक कोई वैसा काम मैंने कहाँ किया था! और तभी तक क्यों, 'वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी वो अब भी है!' सृजनात्मक जीवन की अभी शुरुआत ही थी; जुम्मे-जुम्मे आठ रोज हुए थे लिखते-पढ़ते। एक अजब-सी रिक्तता मेरे मन पर छाई रहती थी। परतों के बाद परतें हटा कर अपनी असलियत समझ लेना चाहता था। अब यह किसे मालूम न था कि मेरा साया रेगिस्तान में भटके कारवाँ के पीछे ही कहीं देखा जा सकता था।

ऐसे में एक शाम मुक्तजी अचानक तशरीफ लाए। मैं सन्न। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। कुछ खिचड़ी-विचड़ी पका रखी थी, उन्होंने राजी-खुशी उसी में शरीक होने का अश्वासन देकर शीराजी खुलने का मौका न आने दिया।

मुक्तजी को चाय और पान का अजहद शौक। बोले; बन्धु, पहले एक-एक प्याली चाय। फिर पान जमाकर बाथ-रूम। तब इतमीनान से खाना-वाना हो तो कैसा?

एक तरफ उनकी ऐसी अन्दरूनी, दिलचस्प गुफ्तगू, दूसरी तरफ मेरी बदहाली कि तब तक मैं ठाला बैठा था, चाय-पान तक के लिए पैसे न थे। मैंने सहज और सादी जुबान में महज एक लमहे के लिए उनसे इजाजत ली और, मियाँ की दौड़ मस्जिद तक, सीधे स्टेट बैंक पर हल्ला बोल दिया। एक दिन चन्दा ने कहा था—पिछले दशहरे की सलामी पर जो रुपए आए थे, एक हिस्सा उन्हें भी मिला था।

चन्दा ने जाने-बूझे अन्दाज में पूछा—'कितने ?'

'बस, दस-पाँच रुपए।'

नर्म, मुलायम और धीमे लहजों को वह बखूबी पहचानती थीं,—'फिर कोई मेहमान आ गए हैं क्या ?'

'बहुत बड़े !'

'जभी तो···चाय-नाश्ता भेजूँ ?'

'नहीं, चाय बाहर पिलाऊँगा। सम्भव है, रोज दो-रोज रुकें, यहाँ हंगामा करना ठीक नहीं।'

तब कल्याणी केबिन की चाय ही लाजवाब हुआ करती थी। लौटते समय पनडब्बा भी भर लिया। अभी हम कल्याणी चौराहे से चलकर मुश्किल से महावीर-स्थान तक रेंगे होंगे कि जोरों की बारिश शुरू हो गई,—एक बारगी मघा की झड़ियाँ। हम दोनों सिर से पाँव तक भीगे, केश झटकते, ऐनक पोंछते अफरा-तफरी में अकेले या साथ-साथ महनामथ मचाते, लोगों से अलग-थलग मशवरा करते, मसौदा गाँठते डेरे पहुँचे। आज के आदमी को यकीन दिलाना नामुमकिन होगा कि अभी महज घंटे भर पहले हम पहले पहल आमने-सामने हुए थे।

मुक्तजी अज्ञेय के साथ उन दिनों पटना से 'आरती' निकाल रहे थे। श्री कलक्टर सिंह 'केसरी' के कहने पर मैंने दो निबन्ध (१—आलोचना का आदर्श और २—हिन्दी काव्यलोचन का क्रमिक विकास) छपने भेजे थे जो आरती के दो अङ्कों में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रकाशित हुए थे। नलिनविलोचन शर्मा ने, मुमकिन है, मेरे बारे में कुछ और बताया हो। बहरहाल मुक्तजी सीधे मेरे ही पास आए थे **आरती** की लौ का धुआँ छाँटने, ज्योति बाँटने। मैं तो यहाँ खुद ही ठीकरी चुनता था। सीध बाँधना आता न था। सो हाथ का नेवाला हाथ में ही लिए-लिए उनकी प्रखर वाग्मिता गटकता रहा।

'There's not a minute of our lives should Stretch
Without some pleasure now'

वह जिस कदर तफसील से इतना कुछ कह चुके थे, मैं पौदे छाँटने वाली मशीन के अन्दर ज्यों-त्यों घुस गया था। अब बराबर की छँटाई

को सोच कर चूल ढीली हो रही थी कि उन्होंने यहाँ के कुछ रईसों-जमींदारों के नाम गिनाए, जिन्हें राजेन्द्र बाबू का सिफारिशी सन्देश सुना कर वह संरक्षक-सहायक बनाना चाहेंगे।

तन-तनहा तहकीकात करने में टैम न लगा। शाइस्तगी का तकाजा था, हुलस कर हाँ में हाँ मिलाता हुआ कहता—

आपकी दूर-अन्देशी को तहे दिल से दाद देता हूँ, मगर बिहार से 'आरती' जैसी सुन्दर साहित्यिक पत्रिका दान-खाते के बल-बूते निकालते रहना मुमकिन है क्या ?

बिहार में पत्रकार ही साहित्यकार कहा जाता है और पत्रकारिता का अर्थ राजनीतिक कलाबाजियों का मुकम्मिल भागीदार होना है। राजनीति ने साहित्य से सरोजिनी नायडू को छीन लिया और कितने ही दरबारियों को आसमानतारा बना दिया। अपवाद भी है। अज्ञेय जी राजनीति को घटा फाड़ कर निकल आए और साहित्य के आकाश में एक और चन्द्रोदय हुआ। श्री अरविन्द ने तो राजनीति का कीचड़ ही धो दिया 'सावित्री' लिखकर !

मैं मगर बेमौसम के फूल की तरह फूला भर रहा। 'नाम कुछ और हाय, काम कुछ और है'। नाम 'मुक्त,' बन्धन कठोर माया का।

मुक्तजी अत्यन्त सुन्दर आकृति (जिसीने उन्हें माया के शिकंजे में कसने पर मजबूर किया होगा।) और प्रसन्न प्रकृति के व्यक्ति तथा सहज संवेदनशील कथा-उपन्यासकार हैं। बंगला भाषा और उसके अनुपम कथा-साहित्य से गहरा लगाव होने के कारण उनकी भावुकता-पूर्ण कलाकृतियाँ रस और माधुर्य्य को न छोड़ सकीं, इसी रसार्द्रता ने उन्हें आतङ्ककारी यथार्थ से दूर रक्खा और इसी मिठास ने उन्हें प्रतिबद्ध आलोचकों की आँखों पर चढ़ने न दिया। मैंने वर्षों पहले इन्दौर की 'वीणा' में उनकी कोई एक कहानी पढ़ी थी। वह निराला की पहली 'अनामिका' के पहले प्रशंसक आचार्य्य चन्द्रशेखर शास्त्री के पहले ही पुत्र भी हैं और संस्कृत में काव्यतीर्थ हैं। अंग्रेजी और बंगला भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। वह मृदुभाषी, स्वच्छ-हृदय और प्रियदर्शी हैं।

पेट के कोल्हू में किसे न पिसना पड़ता, किन्तु जिसकी संवेदनाएँ ऐसी संकीर्णताओं में नहीं मरतीं; जो दुर्भाग्य को निःसङ्कोच नहीं

दबोचने देता; जो जीवन-निर्वाह के लिए भी कभी गलत कदम नहीं उठाता, साहसिक सूझबूझ के कामों में आनाकानी करना जिसने न जाना; सही अवसर को पहचानने में जिससे भूल-चूक हो सकती है, परन्तु महत्वपूर्ण सम्भावनाओं की अनदेखी करना जो अपनी अवमानना के समान मानता हो, मुक्त जी वैसे ही निर्मम मोही, निश्चिन्त चिन्तन-परायण और कर्मठ प्रफुल्ल हैं। वह झूठी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए सचाई का गला घोटनेवाले जीव नहीं हैं।

'गाथा' की पहली काव्य-कथा मेरे पास लिखी पड़ी थी। उन्होंने सुनी तो उसे बेहद दमदार रचना बताकर पुस्तकाकार छापने का इरादा जाहिर किया बशर्ते मैं दो-चार और वैसी ही तीखी और धारदार चीजें लिख कर उन्हें दूँ। अभी उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, पुस्तक निकल जाने पर वह मुझे सिर्फ सौ रु० पारिश्रमिक दे सकेंगे। मैं निकम्मा था। संस्कृत कॉलेजवाली नौकरी अभी दिल्ली की तरह दूर थी। रीति-रिवाज और परम्पराओं पर कठोर आघात करने भर आक्रोश सहज ही सञ्चित हो गया था। मैंने एक हफ्ते में किताब पूरी कर दी। साहित्य और समाज में बदलाव की ऐसी छुटपुट कोशिश कोई मानी नहीं रखती ताहम इस मुद्दे पर गुस्सा भड़कने पर वह नजरअन्दाज न हुआ। सात बैठकों में उगला हुआ वह जहर नलिन जी को भी खूब जँचा। उन्होंने **गाथा** की ऐसी शानदार भूमिका लिखी, जैसी वह फिर कुछ न लिख सके। गाथा छपी तो डा० प्रभाकर माचवे ने हंस में उसकी उल्लेख्य समीक्षा की। उसमें एक वाक्य कुछ इस प्रकार का था—बिहार को दिनकर और जानकी वल्लभ-जैसे कवि प्राप्त थे, अब एक आलोचक भी उसे उपलब्ध हो गया।

बाबू साहब कांग्रेस के नाम से बिदकते थे। राजेन्द्र बाबू की सिफारिश का उन पर उल्टा असर हुआ। किन्तु रायबहादुर श्रीनारायण महथा (जो अंग्रेजों-जैसी अंग्रेजी लिखते थे) 'आरती' के संरक्षक बने और कुछ दूसरे धनी-मानी भी।

फिर कितनी ही बार वह मेरे यहाँ आए और मैं उनके यहाँ गया।

इस सन्दर्भ में मधुर हास्य का एक चटुल प्रसङ्ग अचानक याद आ गया है। उस दिन उन्हीं के घर पर था। वह अपने एक लड़के को बहुत लाड़ कर रहे थे कि लड़का कितना तेज तर्रार है। एक रोज का वाकया

सुनाया। वह उसे गोद में लिए-लिए घर की कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ दिखा रहे थे। लड़के ने पूछा; यह सब किसका है? मुक्तजी ने कहा—मेरा है और किसका? लड़के ने बड़ी आजिजी से अगला सवाल किया—

'यह सब मेरा कब होगा?'

मुक्त जी भर्राई आवाज में बोले—

'बेटे, जब मैं मर जाऊँगा तब यह सब का सब तुम्हारा हो जायगा।'

'अच्छा!' लड़का खुशी से उछल कर ताली पीटने लगा—

'तो आप कब मरेंगे?'

आज अस्पताल में पड़ा-पड़ा क्या-क्या याद कर रहा हूँ! वह शायद यहीं (दिल्ली में) कहीं रहते हैं। बच्चन और अज्ञेय-दोनों ध्रुवों से वह एक-से जुड़े हैं। बच्चन जी बीमार हैं; अज्ञेय जी कल चले गए। तब के अज्ञेय बहुत याद आ रहे हैं। उनसे मिला स्नेह मेरी पूँजी है। इतिहास भूले-बिसरों का होता है। उनकी ताजगी फिजा में खुशबू बिखेरती रहेगी। उन्हें मुँह खोलते देख फारसी का एक शेर याद आ जाता था जिसका मतलब है कि अरे ओ, यहाँ कोई भाषा समझने वाला हो तो बुला लाओ, इस जगह आया हुआ एक यायावर कुछ कहना चाहता है!

इकबाल की बुलन्दी भी याद आ जाती थी—

उसका अन्दाजे नजर अपने जमाने से जुदा
उसके अहवाल से मरहम नहीं पीरानेतरीक

[उसका दृष्टिकोण अपने समय के दूसरे दीदवरों से कुछ हटकर है। उसके हालात सूफी जईफों को नहीं मालूम।]

व्यक्ति अब कहाँ कहीं है? हर कोई समाज से जुड़ा है; समाज की अच्छाई-बुराई से जुड़ा है। स्वतन्त्र चिन्तन की अब गुंजाइश कहाँ रह गई है? विज्ञान ने ज्ञान को बुरी तरह लताड़ा है। ज्ञान मर्माहत है।

वाल्मीकि ने जंगल में लिखा। न वहाँ गाँव के गली-कूचों की गन्दगी थी, न शहर की भीड़-भाड़, चहल-पहल, आपाधापी। अतुल एकान्त की वह शाश्वत सर्जना विश्व साहित्य में अपना सानी नहीं रखती; पाँच हजार वर्षों से जन-मानस में एक समान रस घोल रही है।

मुझे देखने आनेवाले लोग अक्सर यह कहते देखे जाते हैं—काश कि आप यहाँ, दिल्ली में, होते !

सूर-तुलसी-कबीर कोई भी तो दिल्ली में नहीं रहे; इस युग में भी न टैगोर; न शरद, न प्रेमचन्द, न निराला।

लोग तात्कालिक अर्थ और यश के लाभ के लिए यहाँ आते हैं। अखबार की सुर्खियों और टी०वी० की झलकियों में झलमला कर बुझ जाते हैं। वर्तमान में जीते हैं। स्वर्ण अतीत या उज्ज्वल भविष्य नहीं बन पाते। यन्त्र जल्दी ही उनका कोई समशीर्ष, समकक्ष गढ़ लेता है। यन्त्र की उत्पादन-क्षमता का लोहा मानना पड़ता है। 'रामचरित मानस' का उत्पादन असम्भव है तो उसके दोष-दर्शी ऐनक तो वह बेशुमार गढ़ सकता है। तीन धूर्तों की वाचिक करामात से बैल गधा तो हो सकता है !

हाँ, तो अब कोई चाह कर भी अपने को समाज से अलग-थलग नहीं रख सकता। समाज की तकदीर से उसकी तकदीर गुँथ गई है; समाज की समस्याओं से उसकी समस्याएँ उलझ गई हैं। वह लाख तनहाई के गीत गाए, गाना तनहा नहीं हो सकता, उसे समाज का सामना करना ही होगा।

× × ×

लम्बे अरसे के बाद तब मेरी आँखें फटी की फटी रह गईं और मैं काठ मारे हुए की तरह कलेजा थामे खड़ा रह गया जब मेरे यहाँ एक अनहोनी हुई; खामोशी में एक लहर उठी; हादसे के दर्म्यान एक और हादसा हुआ। उमा ने एक मुनिया जनी : रोली; और ठीक उसी क्षण चित्राङ्गदा आनन-फानन खत्म हो गई। जन्म और मरण एकदम एक साथ, निमिष भर का भी फासला नहीं, आगे देखा न था। ठगा-सा रह गया।

वेदान्त पढ़ता रहा, बौद्ध धर्म का मर्म मथता रहा, जन्म मरण का रहस्य पल्ले न पड़ा; गले में अटका रहा, हलक के नीचे न उतरा। रोशनी देने वाले ने आँखों के नीचे अँधेरा बिछा दिया। घटिया लिखाई-पढ़ाई का कारोबार बहाल रहा। रू-ब-रू जिन्दगी और मौत से मुकाबले का इरादा कब का छोड़ा था ! मुठमेड़ में मात खा गया। जन्म और मरण के बीच एक सूत का भी फासला नहीं है, अपनी आँखों

देख कर एक धक्का-सा लगा। सिसकियाँ होठों को तितली बनाने लगीं। भरोसे की चट्टान दरक गई, टूट-बिखर गई।

सत्य का साक्षात्कार कितना कठिन है ! मेरे दूध के दाँतों के साथ गीता उगी थी, धम्मपद निकला था, जीभ अब भी इकबालिया बयान दे सकती है। राम की उम्र में निर्वेद की गिरफ्त और वैराग्य की चपेट में आ गया था। योगवासिष्ठ के पन्ने दीमक की तरह चाटता रहा था। पर्व-पर्व महाभारत पलट गया था। सब बेकार। सत्य की कचोट किसी ओट की कायल नहीं।

दिन भर भूखा-प्यासा रह गया। ज्ञान का एक कच्चा धागा भी हाथ न लगा। उमा माँ बनने की पीड़ा झेल रही थी। चित्राङ्गदा अपनी खुली पलकों की नोक से मेरी रेतीली आँखें खोद कर दो बूँद निकालने के लिए कठिन संघर्ष कर रही थी। सफल न हुई। उमा माँ बनी, वह निर्जल ही चली गई।

× × ×

मैं कल से ही छाया को अशोक के मुँह लटकाए लम्बे पत्तों और शिरीष की सूखी छीमियों को ललचाई निगाह से देखते देख रहा था। अस्पताल का एकरस वातावरण तीन महीने झेल कर हम कल ही ग्रीन पार्क के लार्ड-हाउस (सात हजार रुपए महीने के एक वातानुकूलित बंगले) में आए हैं। बच्चन जी का आवास पास ही, गुलमुहर पार्क में है। चन्दा की सबसे छोटी बहन मुन्नी भी यहीं कहीं रहती है। यह सब है, पर मेरे चेहरे पर हर घड़ी मुर्दनी-सी छाई रहती है। खिड़की से सड़क की चहल-पहल देखता हूँ, सुबह-शाम लॉन की घास पर थोड़ा चल-फिर भी लेता हूँ; मगर कुल मिलाकर बिछावन पर पड़े रहने की मजबूरी खामोश रहकर बर्दाश्त करनी ही पड़ती है।

ऐन दरवाजे पर अंगूर की लहलही बेल है जिसमें गुच्छ के गुच्छ अंगूर फले हुए हैं। बाईं ओर करवीर और जवाकुसुम के झाड़ हैं। छोटी क्यारियों में मल्लिका के गुल्म और बहुरंगे गुलाब के कँटीले पौदे हैं। गेट के पास गुलमुहर, अमलतास और शिरीष की कतार है। छाया की दृष्टि डाल-डाल, पात-पात पर मधुकरी की भाँति मंडलाती रहती है। यह इनकी बहुत पुरानी फूलमती आदत है। पेड़-पौदों से गहरा लगाव है इनका शुरू से ही।

सन् अड़तालीस के चौदह जून को हमारा ब्याह हुआ था। अभी कल की-सी बात लगती है। तब मेरा अपना-पराया कहाँ कौन था? चन्दा मेरी सगी बहन से भी बढ़कर हैं, उन्होंने छाया को कार से उतारा था; मुँह-देखाई की रस्म में सोने की एक अंगूठी भी भेंट की थी। अभी कल की ही तो बात है, उस अवसर पर निराला जी पधारे थे। मैं सिहरती आत्मा की निस्पन्द नीरवता में ठगा-सा देखता रह गया था। वह दोनों हाथों से इन्द्र-धनुष उठाए हुए थे—लाल रंग की बनारसी साड़ी, पीले-सुनहले आम, बर्फ की डली-सी सर्फ-सफेद ताल मिसरी, हरी-हरी चूड़ियाँ, गुलाबी सैंडिल,···

सम-स्वर में कल्लोलित सागर का दूरागत संगीत जुहू पर पृथ्वीराज जी के बंगले से सुनकर मेरा उछाल लेता मन जैसे सहसा अकिञ्चन हो उठता था, आज अभी हो गया।

इतना अर्थ जुटाने में, कौन जाने, फिर उन्हें अपनी किसी नई पुस्तक का कॉपी राइट ही न बेचना पड़ा हो!

यह युग अपने कोश से परम्परा, आस्था, धर्म-जैसे निरर्थ शब्द निकाल चुका है और निराला का सत्य के साथ ही आविर्भाव हुआ है।

उनकी धर्म-निरपेक्षता धर्म के मर्म में से प्रकट हुई है, वह अति-बौद्धिकता की विपरिणति नहीं है।

उन्होंने अपनी सांस्कृतिक विरासत के गौरव के साथ वैदिक छन्दों के साक्ष्य में मुक्त छन्द रचे थे, वह उनकी अर्थहीन विश्रृङ्खलता या विध्वंसकारी उच्छृङ्खलता न थी। मर्मज्ञों को आश्चर्य-चकित भर कर देने से किसी महत् उद्देश्य की पूर्ति सम्भव न थी। हिन्दी की लीक पीटती एकरस सृजन शक्ति को झकझोर कर जगाना ही उस क्रान्तिकारी कदम का असली तात्पर्य था।

आगे आदिकवि के साहचर्य्य में आया था जब प्रथमा का विद्यार्थी था। कालिदास से तब देखादेखी भर हुई थी। फिर शास्त्री और आचार्य तक उनका सतत सानिध्य बना रहा था। आचार्य हो चुकने पर निराला मिले। बाल्मीकि ने कालिदास को समझने का पथ प्रशस्त किया था, अब उन दोनों ने निराला के काव्य-कान्तार में सञ्चरण करने की अनुमति दे दी थी। एक भावाकुल जीवन-यात्रा के लिए

वागर्थ का यह सम्बल कुछ कम न था।

काशी में जब निराला जी की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई थी, हम लोग—डा० रामविलास शर्मा, सुमित्राकुमारी सिन्हा, अजित कुमार, गङ्गा प्रसाद पाण्डेय, ओङ्कार शरद वगैरह साथ ही ठहरे थे। वहाँ डा० रामविलास शर्मा के कहने पर सबने सारी रात मेरी कविताएँ सुनी थीं। अब भी कभी-कभी खामोशी की लहर में उस यादगार रात का स्वर-समारोह मेरे कानों में भँवर बनाता है।

यहाँ निराला को कहीं अकेला ठहराता, मेरे पास ऐसा कोई दूसरा कमरा न था। एक अनिर्वचनीय वेदना करुण संगीत की तरह वातावरण में व्याप्त थी। बाहर बराम्दे में मेरे पिता-श्री रह रहे थे। दिग्दिगन्त पार कर सूर्य का प्रकाश हर ओर फूले फूलों की सुगन्ध के साथ यहाँ टिक गया था। मैं स्वप्न-मग्न आँखों में बल-पूर्वक सत्य को बिठाकर उद्भ्रान्त पाँवों इधर से उधर घूम रहा था। फूलों की झील में नहा कर ताजगी का ताज पहने हुए हवा ही यहाँ निराला की सेवा में तत्पर थी, पंखा कहाँ था ?

मैं अपनी प्रकृति में धूल की परतें ही जमाता रहा। ऐसे अमीर-उमराव मेरी आत्मा की गोधूलि में बजती बाँसुरी सुनते, सम्भव न था। मैं अपने वन्य मनोरथों को चरवाहे की तरह मैदानी परती में हाँकता फिरा था, संकोचवश बाबू साहब से इस शादी की चर्चा तक नहीं की थी, किसी किस्म की सहायता माँगने की तो बात ही क्या ? मुफलिसी का यह नजारा तब देखने को न मिलता जब मुँह खोल देता। मेरे हमीर-हठ के कारण निराला को राजकीय सम्मान न मिल सका। पिता-श्री के पास ही पलंग डाला गया।

मेरी अकिञ्चनता को उनके मार्जित व्यवहार ने गरिमा दी, नहीं तो मेरा डूबा-डूबा-सा मन किनारे फलांग जाता और मैं उनके लिए आँखों में छाए बादलों को उड़ाकर होठों पर जुगनू चिपका लेता : 'आप कृपया निराला जी को अपने पास ठहरा लीजिए, मेरे अथाह शून्य उनकी समग्रता के सम्मुख सतह पर उतराने लगे हैं।'

निराला पर नजर गड़ाते ही कुतुबमीनार (मेहरौली, दिल्ली) की याद आ जाती है। पहले तो विष्णुध्वज कुतुबमीनार बन गया फिर इस लौह-स्तम्भ पर जिस चन्द्र की विजय-प्रशस्ति अङ्कित है, वह

कौन था, इस विषय में ऐकमत्य नहीं है। यों इतिहासकार चन्द्रगुप्त मौर्य्य से द्वितीय चन्द्रगुप्त तक छलाँग लगाते हैं। कोई कनिष्क में चन्द्र ढूँढता है, कोई आन्ध्र के चन्द्रांश और बंगाल के चन्द्रवर्मन में, और कोई चन्द्रगुप्त प्रथम को ही स्तम्भ में अङ्कित चन्द्र मानता है।

निराला के बारे में भी बहुत तरह की बातें हैं। यहाँ गोस्वामी जी को दुहराना होगा—

"राम कवन प्रभु पूछऊँ तोही
कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही
एक राम अवधेश कुमारा
तिन्ह कर चरित विदित संसारा

प्रभु सोइ राम कि अपर कोऊ जाहि जपत त्रिपुरारि
सत्यधाम सर्वग्य तुम्ह कहहु विवेकु विचारि।"

एक निराला वह हैं जिन्हें मार्क्सिष्ट दृष्टि से उजागर करने का श्रेय एकमात्र डा० रामविलास शर्मा को प्राप्त है। दूसरे हैं, जिनके अनुसार वह जन-युग में अप्रासङ्गिक हो चुके हैं। तीसरे हैं जो निराला द्वारा 'कुकुरमुत्ता' उगाए नहीं उगता' कहे जाने के बाद भी कुकुरमुत्ता को सर्वहारा का प्रतीक बताते हैं; चौथे···

यह यहाँ जो अधलेटे पड़े हैं, कोई और निराला हैं। कद्रदानी फरमाने नहीं कहता, दरयाफ्त करने का इत्तफाक न हुआ हो तो मिट्ठू की जबानी मुख्तसिर-सा हाल मालूम कर लें कि इन्होंने मुझे वैसे ही ढूँढ़ निकाला था जैसे एक जमाने में परमहंस देव ने नरेन्द्र को। इन्हीं के कहने पर मैंने संस्कृत की संगोष्ठी छोड़कर हिन्दी के जंगल में रोना शुरू किया था। इन्हीं की प्रेरणा से मैंने अंग्रेजी और बंगला-साहित्य में मन रमाया। मुझे सदा अपने बेटे से भी बढ़कर माना है। निराला की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर सुभद्रा कुमारी चौहान के कहने से मैंने ही 'भारति जय विजय करे' को भैरवी में और 'वर दे वीणावादिनि वर दे' को भीमपलासी में गाकर स्वर्णजयन्ती का शुभारम्भ किया था। उसी दिन रात के कवि सम्मेलन में बच्चन और दिनकर की होड़ बँधी थी। मैंने केदारा में अपना 'किसने बाँसुरी बजाई ?' गीत सुनाया तो निराला भावाविष्ट-से उठ खड़े हुए और

मुझे 'मनोहरा स्वर्ण पदक' देने की माइक पर घोषणा की। लगातार पत्र लिखते रहे। इतने और कभी किसी को नहीं लिखे। सन् ३५ के परिचय के बाद जितनी कविताएँ लिखीं, सब की सब अपने हाथ से लिखकर मुझे भेजते रहे।

पिछली बार मुजफ्फरपुर आए थे तो डाकबंगले में ठहरे थे। कई दिन रुके थे। मेरे अभिन्न मित्र जयकिशोर नारायण सिंह ने एक दिन दावत दी थी। एक दिन साँसद नवल किशोर सिंह इन्हें अपने गाँव ले गए थे। भाषण में दिनकर के साथ मेरा नाम लेने से यहाँ के साहित्यिक विक्षुब्ध हो गए थे। समकालीन विध्वंसक विचारों से कतराना मेरा लक्ष्य न था। कोमलता मुझे उसी हद तक पसन्द थी जिस हद तक वह दुर्बलता न हो। आवेगों की तीव्र अभिव्यक्ति मात्र कविता नहीं है। रचना-प्रक्रिया में कलात्मकता भी शामिल है। उमंगों को अनुभव अनुशासित करता है।

तो यह निराला लोक-व्यवहार में भी निपुण हैं। एक ही दृष्टि में मेरी स्थिति भाँप गये हैं कि इस रिश्ते में किसी भी बहाने मैंने एक पैसा भी नहीं लिया है, तभी यहाँ कोई ऐसा शुभ-लाभ चिह्न नहीं है जो कल ही हुए किसी ब्याह का कुछ अता-पता बताए। हाँ, महावर रंगे साक्षात् लक्ष्मी के पाँव अवश्य सघन संवेदनवश सरस्वती-सदन के अँधेरों में घूम-घूम कर उजाले का आविष्कार करते हुए अपनी पहचान बना रहे हैं। जब भी उनकी माँ सोच में डूबी-डूबी अपनी-मरी अधमरी इच्छाओं को थपकती हुई अश्रुपूरित नेत्रों से रामायण बाँच रही होंगी :

'जेहि बिधि तुम्हहि रूप अस दीन्हा
तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा!'

इनके सुपुत्र रामकृष्ण त्रिपाठी की शादी के मौके पर इन्हीं के विशेष आग्रह पर मैं पन्द्रह दिन लखनऊ में रह गया था। बेटे की बारात ननिहाल ने सजाई थी; आप लड़की के बाप बने बैठे थे। जीवन भर दूसरों के लिए स्वार्थ-त्याग करते रहे थे। यह एक ऐसा अवसर था जब दूसरे भी निःस्वार्थ भाव से कुछ करते। कुछ किया भी था। लखनऊ में निराला वैसे विपन्न न थे जैसे इलाहाबाद आकर हो गए। 'राम की शक्तिपूजा' बेशक आधी बनारस में और आधी

इलाहाबाद में रची गई थी, किन्तु तुलसीदास, सरोजस्मृति, वनबेला-जैसी रचनाएँ तो लखनऊ की ही देन हैं।

निराला जितने भी महान हों और उनकी काव्य-रचना जैसी भी उदात्त, मैंने उन्हें अपनी ही शक्ति और प्रसन्नता से पढ़ा था, पाठ्य पुस्तक होने की विरस विवशता के कारण कदापि नहीं। मैंने उनके महत्त्व की परख अपने ही अनुभव से की है जो पढ़ने से कहीं अधिक उन्हीं के मुँह से सुनने पर होता रहा है।

घर के सामने जिला स्कूल है। निराला के मुतल्लिक अपनी समझ पर सभी को शक था; मगर गहरी नजर के बगैर भी उनकी शोहरत के सभी कायल थे। मेरे पास एक ग्रूप फोटो-ग्राफ का आफर आया, निराला ने मंजूरी दे दी। तभी अचानक चाय की फरमाइश की। मैंने चन्दा को खबर कर दी। ड्योढ़ी से आने में पन्द्रह मिनट की देर हो गई। इस बीच निराला ने किसी बंगाली टी-स्टाल से स्ट्रौंग टी लाने भेज दिया। इधर चार कप का पॉट स्टाल से आया, उधर छह कप का पॉट रसगुल्ले, नमकीन की कई वेराइटी के साथ, चन्दा का शाही ढंग से सजाया, आ गया। निराला ने मेज की लताफत पर एक नजर डाली और कहा : हँसते क्या हो? देखते जाओ। और देखते ही देखते पहले स्ट्रौंग टी का पॉट खाली कर दिया। चन्दावाले पॉट पर ऊनी कवर था, निराला ने फ्लेवर को सराहा, फिर रसगुलों से नमकीन तक पर हाथ साफ कर सिगरेट सुलगाई। बाजारवाले प्याले बेहद छोटे थे, दो घूँट में साफ हो गए थे, यहाँ के कप मग की शक्ल के थे। अपने बेटे—रामकृष्ण जी के ब्याह में हंडी भर लड्डू मेरे साथ खाए थे, यहाँ छह में से एक कप चाय तक के लिए भी नहीं पूछा। मैं कुछ-कुछ पूछता रहा, वह सिप (sip) करते रहे, कभी-कभी सिगरेट के कश भी खींच लेते थे।

'मैंने कहा : 'आपके गीतों की आत्मा आदरणीया मनोहरा जी का स्वर्गवास सन्' १८ में हुआ था और 'जुही की कली' की रचना सन् '१६ में, तो यह बेपर की कैसे उड़ाई गई है कि आप मनोहरा जी की मृत्यु के बाद श्मशान में घूम रहे थे जहाँ आपको 'जुही की कली की प्रेरणा मिली?'

'दरअसल बात यह है कि 'जुही की कली' मेरी पहली प्रसिद्ध

रचना है; किन्तु उसे प्रसिद्धि बाद में मिली। तारीख तो मुझे याद नहीं, सन् सोलह ही रहा होगा। अंग्रेजी के साथ संस्कृत पढ़ता था। एक दिन इसी आशय का एक श्लोक, शिखरिणी छन्द में लिखा, पढ़ने को मिला। समायातो दूरात्···या ऐसा ही कुछ था। पवन और पुष्प का Personification उसमें भी था। अच्छा लगा, प्रेरणा मुझे उसी से मिली, मैं उन दिनों महिषादल, बंगाल में था, मलयानिल वहीं बहता है।

यहाँ निराला रुके और ठठाकर हँसे···समझ लो, मैं ही मलयानिल हूँ। और वन-उपवन-सर-सरित गहन गिरि-कानन ट्रेन से पार करता हुआ···

बात अधबीच में टँगी रह गई। अमरीकन चार्ली में बसे हंसपंखी कपड़े पहने हुए गन्धर्व-जैसे दिव्यतर व्यक्तित्व के धनी बाबू साहब अचानक आ गए। उनकी इन्सानियत की सुगन्ध पोर-पोर से निकल कर इर्द-गिर्द बैठे सभी के मनों के चप्पे-चप्पे पर तैर गई। श्वास-श्वास से आस्था और आदर्श की स्वर्ण-रजत किरणें फुहारे की तरह झर रही थीं।

निराला के सक्रिय अस्तित्व का औपचारिक परिचय देकर मैंने अपनी वाणी की टिमटिमाती हुई बाती दैवी वृत्तियों के अधीश्वर बाबू साहब की ओर घुमा दी। परस्पर का परिचय मतवाला युग से अद्यतन उपलब्धियों तक सिमटा, फैला, धूप और चाँदनी छिटकाता, नद-नदियों का कलनाद दुहराता हुआ कि यहाँ मेरे माध्यम से प्रायः ही निराला से साक्षात्कार होता रहता है; उनकी प्रचण्ड जिजीविषा और दुर्धर्ष संघर्ष की चर्चा आए दिन चलती ही रहती है—इस आशय के अनेक वृत्त निवेदित करते हुए बाबू साहब मेरी ओर मुखातिब हुए : अभी आप लोग शायद जुही की कली पर कुछ चर्चा कर रहे थे!

जी, वाकई। मेरी ख्वाहिश इस सिलसिले में कुछ अच्छी जानकारी पाने की थी। जाने-माने कृतिकार की कृति के बारे में खास तौर पर ऐसी गुत्फगू हुआ करती है। दरअसल बात दिन-तारीख की थी कि वह कब लिखी गई।

एक किस्सा मशहूर है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जुही की कली की भाषा और उसके ऊँचे दर्जे के रचाव की तो खुले

दिल से तारीफ की थी मगर उसे सरस्वती में छापने से इसलिए इन्कार कर दिया था कि उन्हें स्वछन्द छन्द पसंद न था।

और इस तरह इन्हें फकत चन्द रोज मायूसी की छाँव में दम लेने पर मजबूर होना पड़ा। आचार्य द्विवेदी ने, यों इनका एक लेख सन् २० के अप्रैल में प्रकाशित किया था – बंगभाषा का उच्चारण।

अब यह पता नहीं कि 'जुही की कली' इस लेख के पहले छपने भेजी गई थी या बाद में? क्योंकि वह पहली बार सन् '२२ में 'आदर्श' में छपी थी और सन् '२३ में मतवाला में। एक और चौंकानेवाली बात यह है कि सन्' २०-२१ में प्रभा में इनकी छन्दोंवाली दो रचनाएँ छप चुकी थीं।

शाम का सुरमई रंग बरामदे में उतरने लगा था। हवा सरसराई तो देखा, बाबू साहब पसीना पोंछने लगे। मैं पानी का छिड़काव कर झटपट ताड़ का पंखा उठा लाया और रघुबीर को झलने कहा। दरख्तों की तरफ से जो झोंका आता था, खाली बदन निराला के चौड़े सीने से टकरा कर पीछे हट जाता था। मैं तो जनम से हवा में बिखरी मिट्टी की खुशबू पीता आया था, ऐसी गुमनाम परेशानियों की शिनाख्त भी नहीं कर पाता था।

निराला दिन-तारीखों की खातिर दिमागी जद्दोजहद से कतरा रहे थे। खिच कर बोले।

Seven Cities warred for Homer, being dead,
Who, living, had no roof to shroud his head.

मैंने उन्हें बनारस की याद दिलाई: जबलपुर का मेरा जिगरी दोस्त डा० रमेशचन्द्र मिश्र आप काई-जदा पत्थर पर बैठकर आप की पीठ और पूरे बदन में चन्दन-सोप घिस रहा था, जब मैं विश्वनाथ-दर्शन कर लौटा था। उस समय आपकी तबीयत बहुत बुलन्द थी—आपने बरजस्ता मुख्तसरसी अपनी बायोग्रॉफी ही लॉज भर के लड़कों को सुना दी थी। कार्पेंटर ने आपके जनम का साल पूछा तो आपने १८९६ बताया। आहिस्ता-आहिस्ता भटनागर ने दरयाफ्त किया—

आपकी पहली कविता?

आपने 'जुही की कली' का नाम लिया। रमेश ने आपकी गर्दन

के गिर्द लोटे का पानी उछालते हुए शुद्ध हिन्दी में अगला सवाल पूछा :

'जुही को कली' का रचना-काल ?'

आपने छुटते ही सन् '१६ बतलाया। याद है, उसी शाम प्रसाद जी के यहाँ वह ऐतिहासिक काव्यगोष्ठी जमी थी जिसमें आपने 'तुलसीदास' सुनाया था और प्रसाद जी ने—कामायनी का लज्जा-सर्ग ?

जैसे सियाही में चिनगारी तैर गई हो, शीशे का बुरादा गोधूलि की धूल में घुस गया हो, निराला ने जोर देकर कहा :

हाँ-हाँ, सब याद है। 'जुही की कली' सन् '१६ में हो मेरी कापी में खिल गई थी। मगर उसे हवा में फड़फड़ाने का मौका वर्षों बाद मिला।

अब बाबू साहब भी हँसने लगे थे। 'कल जल्दी ही आऊँगा' कह कर अपना भारी-भरकम शरीर जोर लगाकर उभारने लगे। उनसे बालिश्त भर ऊँचे उछले आसमान में सितारे झिलमिल करने लगे थे। चन्दा का, फल—मेवों और किसिम-किसिम के नमकीन से भरा ट्रे दुबारा आ गया था। मैंने चलते-चलते बाबू साहब को अपने 'होमर' के सिलसिले में कीट्स की कुछ पंक्तियाँ सुनाईं—

Much have I travell'd in the realms of gold,
And many goodly states and kingdoms seen,
Round many western islands have I been
Which bards in fealty to Apollo hold.
Oft of one wide expanse had I been told
That deep-brow'd Homer ruled as his demesne.

सब कहते हैं—निराला के भूरे मटमैले सपने रंगोली न बने; उनके सरोवर में कीचड़ हो कीचड़ है; कमल के फूल कोई किन्नर चुरा ले गया, उनके दियने की वाती बौनी हो गई है; प्रकाश परे खिसक कर दूसरी तरफ फोकी हँसी बिखेरने लगा है।

मैं कहता हूँ, अपनी-अपनी दृष्टि है। सूरज 'डूब' जाता है तो सुबह-सवेरे नई किरण लुटाने कौन आता है? निराला का साहित्य मानव-मन में आत्मविश्वास उत्पन्न करता है; मनुष्य की विसुध सोई पड़ी महत्ता को प्रकाश के उष्ण स्पर्श से चौंकाकर जगाता है; निर्भयता

और प्रसन्नता प्रदान करता है।

Odyssey में होमर की पंक्तियाँ हैं "दिव्य प्रतिभा वाले उस कवि को यहाँ बुलाओ डेमोडेकस, जिसे ईश्वर ने ऐसी अलौकिक शक्ति दी है जैसी दूसरे किसी को नहीं दी, कि उसकी आत्मा उसे जैसे और जो गाने के लिए प्रेरित करती है वह वैसे और वही गाकर जन-मन को अनुरञ्जित करता है।"

—यह उक्ति निराला पर ही शत प्रति-शत घटित होती है। निराला देववाणी (इन्सपायर्ड टाक) को झटक कर आम आदमी की बोली बोलने के लिए व्यग्र नहीं दिखते—

Oh ! let us at least use the language of men !

—उनका रहस्य रहस्यवाद नहीं है। कोई किसी को समझा नहीं सकता। कुतर्क से बाज आए तो रहस्य परत-दर-परत खुलने लगता है; बौद्धिक उल्काएँ बुझ जाएँ तो आत्मा के पारदर्शी प्रकाश में उपलब्धियाँ अनायास सम्प्रेषित हुई जान पड़ती हैं।

—बाबू साहब को शिष्टाचार के नाते नोले बंगले तक छोड़ने चला गया था। लौटने पर निराला ने कहा—यहाँ बूटी छानने का तो सामान न होगा ?

मैंने शर्म से सिर झुका लिया : माजून मिलती है।

'क्या कहा ?'—अपनी पेटेंट शाही तर्ज में पूछा। मैंने सिटपिटा कर जवाब दिया ? यहाँ मिठाइयों की किसी-किसी दुकान में, सुनता हूँ, भंग की बर्फी मिलती है। आप कहें तो मँगवा लूँ ?"

निराला ने निष्कारण वत्सल भाव से मेरे संकुचित अभिलाष के अनुरूप ही निःशब्द सिर हिला कर सन्देह-दोलारूढ़ मन को आश्वस्ति दी।

किसी भी नशे से मुझे सख्त नफरत है, जान कर भी निराला से झिड़की खाने की नौबत कभी न आई, यह मेरी खुशकिस्मती ही कही जाएगी।

निराला तो दूसरे झूल-पड़ों के मुकाबले बेहद खुरदुरे हैं – गीतिका में अभिव्यक्त कृतज्ञ कोमल भाव प्रकृति के साथ उनके अन्तःकरण के

सामञ्जस्य से फूले फूलों-जैसे हैं—

मूँदीं जब जग ने आँखें
खोलीं री इनने पाँखें
उड़ने को नभ को ताकें
उपवन की परियाँ आली !

निराला की कविता-शेफाली मकरन्द-पराग से भर कर तभी पूरी तरह खिली, जब दुनिया उसकी ओर से कतई बेखबर, आँखें मूँदे रही, मगर उसका अपने ही भीतर कुछ ऐसा अद्भुत विकास हुआ कि वह इस बेसुधपन या उपेक्षा की रंच भर भी परवा किए बगैर खुशबू की पाँखें फैला कर ऊपर, और ऊपर, उड़ती ही चली गई।

बाजार करने मैं कम ही निकलता हूँ। आज फिर भी बाग-बाग होकर कदम बढ़ाता चला गया और आखिरकार बरफीवाली दुकान ढूँढ़ ही निकाली। बालापोश हटाकर बालूशाही की चार टिकियाँ और बालाई भी ले ली। मथुरा के पंडा जी पिछली बार आए थे, बताया था कि बूटी छानने के बाद कम-से-कम पाव किलो बालाई गले की तरावट के लिए, जरूरी होती है। हलवाई लड़का तबीयतदार था। पूछने पर बताया, तमगा मिल जायगा मेरी दुकान को। आप कल ले आइए, मैं उन्हें मलाई और संतरे के रस में बनी बूटी छना दूँगा।

निराला जी ने मेरी दूर-अन्देशी सराही। घण्टे भर बाद घूमने निकले। मैं उन्हें बेला वाली सड़क से खेड़े की राह बागात दिखाने ले गया। लीचियों के बागान उन्हें बेहद भाए। गुलाबी गदराई लीचियों से झुकी-झुकी छरहरी टहनियाँ लुभावनी लग रही थीं। ग्रीष्म का परिणाम-रमणीय दिवस मैंने कितने ही दिनों में देखा था। किधर से भी अलगोजे की आवाज सुनाई दी। निराला ने कहा—तड़के आएँगे इधर घूमने। अच्छा लगा। आवाज ने फिर रोका—कामोद बजा रहा है। शायद रियाज कर रहा है; तानों में स्वर टूट-बिखर जाते हैं।

रिक्शे पर बैठते-बैठते बोले—कामोद जानते हैं ?

मैंने कहा—जी, मैं इसे तिलक कामोद नाम से जानता हूँ। अपना

एक गीत इसी में गाता भी हूँ—

चन्द्र किरण बन आऊँ आज मैं !

केदारा और छायानट की तरह इसमें भी दोनों मध्यम लगते हैं। पकड़ है—

रे प,मं प, ध प, ग म प ग म रे सा !

निराला ने हँस कर पूछा—

'कहाँ सीखा ?'

'सीखने का अवसर कहाँ मिला ? इसे सौभाग्य ही कहिए कि रायगढ़ की तरह यहाँ का माहौल भी शास्त्रीय सङ्गीतमय है। पण्डित ओङ्कारनाथ ठाकुर, पं० नारायण राव व्यास और पटवर्द्धन जी यहाँ प्रायः ही आते रहते हैं। सब को सुनता हूँ। बात-बात में मोती पिरोना सीख गया हूँ। मुँह उजाले उठ कर कभी-कभी दाण्डेकर जी का रियाज भी सुन लेता हूँ।

सन् '३६ में लाहौर में था। डो० ए० वी० कॉलिज की स्वर्णजयन्ती पर एक कविसभा आयोजित हुई थी जिसमें वाल्मीकि-व्यास से निराला-पन्त तक की कविताओं का पाठ हुआ था। निराला का गीत मैंने गाया था। पण्डित तुलसीदत्त 'शैदा' ने मुझसे पूछा कि मैं आपका कौन-सा गीत सुनाना चाहूँगा। मैंने अपने इस जीवन में पहले-पहल आपका जो गीत सन् '२८ की 'माधुरी' में छपा, पढ़ा था, वह था—

देख दिव्य छवि लोचन हारे !
रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रम रुचि,
पलक तरल तम, मृग दृग-तारे !

यही 'विलावल' में गुनगुना कर सुना दिया। गीत शैदा साहब को पसन्द आ गया। उन्होंने 'छायानट' में इसकी बन्दिश तैयार कर गाने को कहा। पकड़ थी—

प रे ऽ रे ग ऽ ग म ऽ म प ऽ ग म रे, सा रे सा। मैं तो हर जगह आपकी ही आड़ में खड़ा होता रहा हूँ। आपकी स्वर्णजयन्ती के अवसर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा में, आपकी ही भाषा और संस्कृति पर निबन्ध पढ़कर मैंने प्रशस्ति प्राप्त की थी। इन दिनों आप पर आठ

सौ पृष्ठों का एक समीक्षात्मक ग्रन्थ निकाल रहा हूँ। प्रायः दो सौ पृष्ठ छप भी चुके हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से श्री नलिनविलोचन शर्मा तक ने आप पर कुछ नया लिखा है। मैं डेढ़ बरस से जुटा हुआ हूँ। सरप्राइज देने का इरादा था, तभी कभी चर्चा नहीं की।

'छपे पृष्ठ दिखाइएगा।'

'अवश्य। यह तो गङ्गा के ही जल से गङ्गा की अर्चना है। आपके यश के कलश के भरोसे एक विशाल मन्दिर के निर्माण में लगा हुआ हूँ। प्राप्ति-अप्राप्ति की आँखमिचौनी खेलता हुआ मेरा प्रयत्न कभी सफलता का दावेदार न हुआ; मृत्यु की पगडंडियों पर चलता-चलता जीवन निर्जन निःसङ्ग के द्वार पर खड़ा हो गया है। रात का उजला अँधेरा राह दिखाता है; दिन की काली धूप में पाँव डगमगाते हैं।'

निराला रात की रात छपे फर्मे पलटते रहे। मेरी मुस्तकिल-मिजाजी प्रस्तावना के रूप में थी। एक मुँह से, एक ही भाव तोलने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० प्रभाकर माचवे, आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, प्रो० दामोदर ठाकुर, जगदीशचन्द्र माथुर, प्रो० जगदीश पाण्डेय आदि के एक दर्जन से अधिक निबन्ध थे।

पेट पाट कर मैं तो गहरी नींद सो गया था। रतजग्गे से निराला की मंजिल कटी। मैं मौन बाँधे रहा। पिछले पहर झपकी आई होगी। उठे तो साढ़े आठ बज चुके थे।

मुझ में गाँठ की अक्ल नहीं, बेपेंदी का लोटा हूँ। फोटोग्राफर निराला के उठने का बेसब्री से इन्तजार कर रहा था। साढ़े आठ बजे फोटोग्राफी की ठहरी थी। पड़ोसियों से बैर बिसाहना ठीक न था, नहीं तो अभी मना कर देता। निराला जी मिनटों में तैयार हो गए। उस रोज का वह यादगार फोटोग्राफ अब भी वैसे का वैसा ही है।

× × ×

अमलतास के फूलों में धूप घुस आई थी; गुलमुहर सुन्दरता की यातना को फूलों में बदल रहे थे। मेरी आँखों से विस्मय के संकेत टकरा रहे थे। टकटकी बँध गई थी देह का गुरुत्व अनदेखा कर मत्त गयन्द छन्द में बाबू साहब को आते देख कर। पाँव जैसे बालू का ढूह पार

कर रहे हों, रतनारी आँखों के प्रदीप जैसे हवा को चुनौती दे रहे हों! बे-कमोकास्त इकबाल के शेर याद आने लगे—

शायद कि जमीं है वह
किसी और जहाँ की
तू जिसको समझता है फलक
अपने जहाँ का!

× × ×

'वो' ज़माने में खुदा का
आखिरी पैगाम है!

× × ×

'सूरज भी तमाशाई,
तारे भी तमाशाई'!

बाबू साहब ने फिर फीरोजी रंग का धूप-चश्मा लगा रक्खा था। हीरे की अँगूठी और ही रंग ला रही थी। बैठे तो लगा, तपती छत में सुनहरी घटाएँ छा गई हैं। मुरझाए मन को हरा करनेवाली बिल्लौरी मुसकान छिटकाते हुए पूछा—

'कोई निष्कर्ष निकला?'

'जी, निकला ही समझिए। भले विवादास्पद हो, विशिष्ट तो है ही वह!'

'कौन?'

'जुही की कली!'

'इसमें दो मत नहीं। आपकी कल की बातों ने मुझे 'माधुरी' की पुरानी फाइलें उलटने के लिए उकसाया था। मैंने एक समय निराला जी के उन दिनों के लेखों को रस लेकर, ध्यान से पढ़ा था। एक बजे रात तक मेरी खोज-ढूँढ़ चलती रही। आखिर दोनों ही मिल गए। जिस अङ्क में 'मेरे गीत और कला' निबन्ध छपा है, उसमें आपकी भी एक रचना है।'

'जी हाँ' उन दिनों मैं 'माधुरी' में लगातार छप रहा था।'

'निराला जी ने उसमें लिखा है—'जुही की कली' मेरी पहली

रचना है।' इतने से बात कुछ खुलती न थी। मुझे भी ई० सन् '१६ की याद आ रही थी। पुरानी फाइलों की सूची बाँचता रहा। साढ़े बारह बज गए। फिलहाल सबेरे के लिए टालना चाह रहा था कि सन् सताईस की फाइल में 'पल्लव और पन्त' लेख मिल गया। उसमें निराला जी ने, जैसा कि आप कह रहे थे, सन् '१६ का साफ-साफ जिक्र किया है। 'जुही की कली' "मेरी कॉपी में खिल चुकी थी" लिखा है। छप चुकी थी, नहीं लिखा है। भाव के आवेश में 'जुही की कली' मेरी कॉपी में खिल चुकी थी,– ऐसा कुछ लिखा है।'

'मेरी जन्मतिथि" को लेकर भी ऐसा ही विवाद, सुना है, फिर उठा है। मैंने जो तब कहा था, अब भी कह रहा हूँ। बकते हैं उन्हें बकने दीजिए। 'सरोजस्मृति' में मैंने चर्चा की है, मेरी जन्म-कुण्डली सरोज ने सन्' बीस-इक्कीस में कभी फाड़ फेंकी थी। पण्डित राम नरेश त्रिपाठी अपनी 'कविता-कौमुदी' में मेरी कविताएँ संकलित करना चाह रहे थे। बायोडाटा की फरमाइश की तो मैंने साल और महीना तो ठीक-ठीक लिख दिए, जन्मतिथि की याद न रहने से जो लिख गया, लिख दिया। एक दिन कृत्तिवास पढ़ते समय, माथा खुजला कर स्मृति को कुरेदा तो जान पड़ा, 'जुही की कली' वसन्त पञ्चमी को ही लिखी गई थी।

मुझे जैसे मेंहदी में रसा-बसा रंग दिख गया : कविता का जन्म वसन्त पञ्चमी को ही हुआ होगा और यह भी कि व्यक्ति का जन्म चाहे जब हुआ हो, मेरे कवि की जन्म-तिथि तो वसन्त-पञ्चमी ही होगी।"

खोखले प्रश्न पर मेरा विश्वास हावी होता गया। संकल्प के क्षेत्र में बिखरे बीज अंकुरित-पल्लवित होते रहे; वसन्त-पञ्चमी पर मेरी स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई, प्रति वर्ष कुछ-न-कुछ होता ही रहता है।"

बाहर शिरीष और मौलसिरी के वृक्ष पर कौए काँव-काँव कर रहे थे। दीवार से चिपका हुआ एक गिरगिट रंग बदल रहा था। बादलों से धूप उतर रही थी। थमे-बुझे क्षण चञ्चल और आलोकित हो उठे थे। ठंडे पानी में रस की अनुभूति तैरने लगी थी जब बाबू साहब ने रात्रि के भोजन के लिए अपने घर पर निराला जी को आमन्त्रित किया।

मेरी वाणी की प्रगल्भता झर गई, रक्त में मलय चन्दन को महकती हुई ठंडक घुलने लगी—जाने क्या उत्तर देंगे निराला !

मैं 'सेतु बन्ध' (महाकाव्य) की एक आर्या गुनगुनाने लगा—

'परिवर्धते विज्ञानं संभाव्यते यशोऽऽर्ज्यन्ते गुणा:
श्रूयते सुपुरुषचरितं किन्तद् येन न हरन्ति काव्यालापा: ।'

फिर सँभल कर कहा। दरअस्ल मैं इसके आगे की एक गाथा सुनाना चाह रहा हूँ—

इच्छाइ व धणरिद्धी
जोव्वणलब्धव्व आहिआईअ सिरो
दु:खं संभाविज्जइ
बन्धच्छाआइ अहिणवार्थगति: ।

'जुही की कली' की संरचना के सन्दर्भ में इसकी याद आई है। प्रवरसेन कहते हैं—जब छन्द की सुन्दरता से काव्य का शरीर गठित होता है तब उसका भाव-पक्ष सुन्दरतर हो, मुश्किल है। जैसे अपनी इच्छा भर ऋद्धि होना मुश्किल है, जैसे यौवन से जो श्री अर्जित हो सकती है उसमें आभिजात्य बचाए रखना मुश्किल है, क्योंकि दीवानी जवानी के पाँव ऊँचे-नीचे पड़ने लगते हैं, उसे कुलीनता की कैद, तनहाई रास नहीं आती।

मतलब यह कि मुशव्वह मुश्किल को आसान किए देते हैं; अपूर्व भावों का प्रवाह शास्त्रीय नियमों को छाप कर छलक जाता है !

'संस्कृत के कवियों ने रचना को हर पहलू से देखने की कोशिश की है।'—निराला के नीरव तार स्वर-विह्वल हो उठे : 'स्वप्न-लोक की सीमा तक उन्होंने सत्य का सन्धान किया है। उनका मौन भी अनिर्वचनीय है।'

—मिजाज पाकर बाबू साहब की तरफ मुखातिब हुए—

'मीट बनवाइएगा।'

बाबू साहब ने उसी वक्त खवास से खबर भिजवा दी। निराला जी से हँस कर कहा—

'हमारे चौके में तो वह नहीं पकता। मगर हमारे पण्डित-पुजारी

उक़ाब को भी मात देने वाले हैं। मन्दिर से बन कर आ जायगा।'

मेरा तो पीपल-पात-सरिस मन डोला। सोच रहा था, क्या प्रतिक्रिया होगी उनके गहन मन पर! पर उनका विनोदी उत्तर सुन कर जैसे अँधेरी रात में हरसिंगार फूल उठे।

बाबू साहब को छोड़ने गया तो चन्दा, ऊर्म्मिला, प्रमिला और लीला से एक साथ ही भेंट हो गई। कोरस में बोलीं—'निराला जी से कविताएं सुनवाइएगा न!'

मैंने कहा—जरा-सी बात के फेरने से मामला इधर का उधर हो जायगा। फरमाइश करने पर तो मेरी जान कफस में पड़ जायगी!

ऊर्मिला हँसी—हाय! फिर क्या होगा?

मैंने कहा—बेड़ा बाँधना मेरा काम है, बेड़ा पार लगाना तुम्हारा!

ऊर्मिला ने मुँह बिचकाया, आप तो कुछ बताते नहीं हैं, पहेलियाँ बुझाते हैं!

चाय प्रमिला पिला लेगी। तुम चुपचाप हारमोनियम लेकर 'वरदे वीणावादिनि', 'रूखी री यह डाल वसन वासन्ती लेगी', 'स्नेह-निर्झर बह गया है' वगैरह जो-जो गीत तैयार हैं, सुनाना शुरू कर देना, फिर देखना, क्या होता है!

ऐसा ही हुआ। सुई की नाक में ऊँट समा गया। कोई यकीन लाए या न लाए, जो-जो काम मेरे ऊपर डाले गए थे, एक-एक करके पूरे कर दिए। ऊर्मिला और लीला शास्त्रीय संगीत में प्रवीण हैं। आकाशवाणी से प्रसारित होती हैं। अभी दो ही गीत गाए होंगे कि निराला जी ने अपनी ओर हारमोनियम खींच लिया। हारमोनियम बहुमूल्य और गजब का सुरीला था। निराला जी ने षड्ज और पञ्चम सुर खोल कर एक पक्के रियाजी की तरह राग बहार पर उँगलियाँ चलाईं—

निनिपम, मग, म, ध, निसां, मपगप, ध, निसां।
। । । ।

म-ध की संगति बड़ी प्यारी थी। सागर-स्वर सुनाई दिया—

फिर सँवार सितार लो!
बाँध कर फिर ठाठ अपने;
अङ्क पर झंकार दो!

चन्दा सितार सीखती थीं, झंकृत हो उठीं।

कौन कहे, कब से घात में थे सब ! चातक ने यों दो-चार कणों की ही आशा की थी; किन्तु यह क्या, यहाँ तो बिना गरजे-तरजे मेघ ने झड़ियाँ ही लगा दीं ! शील और ऐश्वर्य भी 'एकै आँक मोर मन एहू' की मस्ती में हरेक अदा आँखों से कबूल कर रहे थे। मेरी तो नाड़ी छूट रही थी—बादल कब बागी हो जाए !

आकाश की ओर उमग उड़ने को हुआ तो एक ने 'वह तोड़ती पत्थर' गाने को कहा। दर असल अभी चंद रोज पहले की ही बात है, नाक पर मक्खी न बैठने देनेवाले मेरे एक तरक्की-पसन्द दोस्त मुझे फाड़ खाने को दौड़े थे—जब मैं मजदूरिन की पथरीली वेदना राग देश—(रे, म प, नि ध प प ध, प म, ग रे ग सा) में बहा रहा था। वह उसे 'भूषण भणत' वाले तेवर में जोशोखरोश के साथ, मुक्त छन्द बना कर दहाड़ते थे। धुँधले का वक्त था। धीरज बाँध कर रह जाना पड़ा। ताल—मात्राएं समझाने में माथा मारना बेकार गया। मैंने चिढ़ाया—

दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता।

भी ताल-निबद्ध है। आप संगीत का प्रभाव-विस्तार समझते ही नहीं हैं। गुलगपाड़े या तीखी चीख से मधुर सुर में पिघलाने और सम्मोहित करने की कहीं अधिक शक्ति है। काव्य-गोष्ठी समर भूमि तो नहीं है, चाँदमारी के चाहक फिर भी चूकते नहीं, शब्दवेधी बाण चलाकर श्रोताओं का दिल दहला देते हैं। तरक्कीपसन्द तिनके

—गाने पर कविता का मजा किरकिरा हो जाता है ! आप नाक पिनपिनाइए, निराला ये कविताएँ गरज कर पढ़ते होंगे। शोषक वर्ग काँप उठता होगा।

और आज उसे ही गाने का अनुरोध सुरीली आवाज ने एक झटके में निराला से कर दिया। निराला ने दरबारी का सुर भरा।

निराला की प्रकृति के ही अनुरूप इस राग का स्वरूप गम्भीर है। मैं 'देश' में जो रस (?) देता था वह निराला के इन बेइन्तहा मन्द्र मधुर सुरों की गूँज में बेआवाज-सा जम-थम गया। पंखुरियाँ झर गई थीं,

कँटीले डंठल पर गुलाब सिर हिलाता रह गया था।

दृष्टि के अनुसार शिल्प-सृष्टि का संस्कार निराला में है। स्थापित मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह के साथ साहित्य, संगीत और कला के क्षेत्र में उन्होंने नए मूल्यों को स्थापित भी किया है। वह शिलाओं को अपनी धारा अवरुद्ध करने की इजाजत नहीं देते किन्तु प्रवाह की प्रमुखता को बरकरार रखने के लिए दोनों किनारों को सर उठाए रखने की छूट बेशक देते हैं। विवेक में प्रतनु आलोक को भी पंक्ति-बद्ध जड़ताओं के ऊपर उछाल लेते देखना चाहते हैं।

अपने भीतर खुद से ही निर्मम और कठिन लड़ाई लड़ते लौह की काया टूटने-दरकने लगी है। अकूत निराला की अन्तर्व्यथा है। फिर भी रोदन और चीत्कार और आह-कराह को जिन्दगी भर सख्ती से नकारनेवाले की अजन्ता-उंगलियाँ जब बाजे की पटरियों पर नाचने लगती हैं और पतले होंठों पर बिना जतन-जुगत के, जिन्दगी की गहरी गुत्थियों पर संवेदना-सिक्त मुसकान छिटकानेवाले दाँतों की सफेद परछाइयाँ डोलने लगती हैं तब उनके संघर्षशील, असन्तुष्ट और असहाय अनुभवों का राज खुलता है। वह अपने दूसरे समकालीनों की तरह चतुर और सुविधाभोगी होते तो यह अकृत्रिम और अशिथिल सुरीली मुसकान कब की पुँछ गई होती! उनका स्वर कर्कश हो गया होता और अबुझ यशोलिप्सा से दग्ध और निर्जीव भी।

रात साढ़े दस तक चलनेवाली यह काव्य-संगीत-गोष्ठी काठ बंगले में एक जीवन्त स्मृति छोड़ गई है। चालीस साल पहले जहाँ राजसी गद्दे पर फकीर निराला बैठे थे, जिन सँवरे स्वरों में ओज गाया था, वहाँ कुछ धुँधली-सी लकीरें अब भी उभरी दिखती हैं, यहाँ निराला ने जिन्दगी से कतराई हुई सचाई नहीं गाई थी; मुर्दा फलसफे पर सुरों का सुरधनु नहीं ताना था, आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रतीक पुरुष ने प्रकृति की निष्पाप सरलता को शब्दों और सुरों से दुलराया भर था।

निराला की कला-सृष्टि निरपेक्ष नहीं है। वह वस्तुगत परिवेश से जुड़ी है। सामाजिक धरातल पर उसके सन्दर्भ-सूत्र साफ दिखाई देते हैं। इतने पर भी वह किसी वाद के शिकंजे में कसी हुई नहीं है। उनका व्यक्तिगत सन्दर्भ भी असाधारण है।

भोजन के वक्त मैं पशोपेश में पड़ गया। फर्श पर एक ही मोटा आसन बिछा हुआ था। चारों बहनें परोसने-खिलाने पर तैनात थीं। बाबू साहब सामने बैठे थे। छुट्टी पाना टेढ़ी खीर था। खोल ओढ़ कर अपने को बरी कराया जा सकता था कि तबीयत नासाज है मगर मेरी झुठाई को अहमियत देनेवाला वहाँ कोई न था। निराला ने ढेर सारी सब्जियों पर एक नजर डाले बगैर ही मीट वाला कटोरा खाली कर दिया।

मैं यहाँ आठ साल से रह रहा हूँ। इतने लम्बे अन्तराल में एक भी ऐसा नहीं आया था जिसका यहाँ सामिष भोजन से स्वागत हुआ हो! निराला के माध्यम से आज जाना, बाबू साहब किसी अन्धजाल में फँसनेवाले प्रकाश-विहग नहीं हैं। वह उस स्थिति को उपलब्ध हो गए हैं, जहाँ मन अपनी आत्यन्तिक गहराइयों से जुड़ जाता है, सतही झिलमिली उसे नहीं चुँधियाती।

उदयशङ्कर की पूरी पार्टी को, यहाँ इसी प्रकार जमीन पर आसन जमाकर खाते देखा था, मदाम सिमकी, जो फ्रेंच लेडी थीं, साड़ी पहनकर बैठी थीं।

शुद्ध सुगन्धित सात्विक भोजन—फलों का सलाद, मलाई, छेने की मिठाइयां, दही···

'मलय पवन फूलों की खुशबू दूर-दूर तक फैलाने के लिए विकल है! हाय, ये वन में क्यों खिलते हैं!

'गुलाब होगा तो काँटे भी होंगे। बिना काँटे का गुलाब? कागज का होगा। काश कि जहाँ निराला हैं, मैं होता, और मेरी जगह निराला! तभी वह मेरी बचगानी विकलता परख पाते।

बाबू साहब बोले—

'गुलाब की वर्षा नहीं होती। अधिक फूल चाहिए तो अधिक पौदे उगाने होंगे?

'निराला जी, 'वह तोड़ती पत्थर' को आपने दरबारी कान्हड़ा में गाया था? किस घराने की तालीम है आपकी?'

'घराना-वराना कुछ नहीं। बंगाल में सीखा था, वहीं का प्रभाव है! यों, मैंने शुद्ध दरबारी के नहीं, शहाना कान्हड़ा के सुर लगाए थे।

मेरे चिरंजीव भातखण्डे स्कूल के स्नातक हैं। जब मैं लखनऊ में था, रातांजंकर (आजकल वही वहाँ के प्रधान हैं) के यहाँ अक्सर आता-जाता था। मेरे चिरंजीव उन्हीं के शिष्य हैं। गोमती-किनारे घूमने जाने की मेरी आदत-सी थी। एक रोज रातांजंकर ने अपनी बनाई शहानाकान्हड़ा की एक बन्दिश (झूमरा ताल में) सुनाई थी, मुझे अच्छी लगी। मैं गुनगुनाता हुआ भूसा मण्डी लौटा। मैंने आभोग-कान्हड़ा और शहाना-कान्हड़ा—दोनों के सुर लिखते वक्त गुनगुनाए थे।'

'इन दिनों बनारस में रह रहे हैं?'

'हाँ, अभी तो हैं।...

"जी अब चलते हैं!" बोले और उठकर खड़े हो गए। रास्ते में कहा, बाबू साहब कलाप्रेमी ही नहीं, कला के मर्मज्ञ भी हैं। जहाँ बिजली के कोड़े के इशारे पर जीने के लिए करतब दिखाने की मजबूरी हो, वहीं खूँटा उखाड़ कर गजब तोड़ना पड़ता है। आप को बाबू साहब ने 'छोहा' कर रखा है, छोड़ने की कोई खास वजह नहीं दिखती।

निराला जी—

सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।

लहर सागर से अलग नहीं है पर वह सागर नहीं है। आना-जाना लहर की नियति है, समुद्र जहाँ है, वहाँ है!

'क्या मतलब?'

'बाबू साहब के मानने में कोई कसर नहीं है। उन्होंने मुझ अज्ञात-कुल-शील को आदर भी दिया, स्नेह भी। किन्तु साँपों के जंगल में "उमाशङ्कर" जिस सहजता से धूनी रमा सकते हैं 'जानकीवल्लभ' नहीं। जानकीवल्लभ को तो वनवास के दिनों में ही जंगल में मंगल मनाने की छूट दी जाती है।'

अब हम अपने आवास पर पहुँच गए थे। निराला ने विशेष विवरण जानना चाहा। मैंने बताया—मैं अकेला था, तब की बात और थी। अब यहाँ पूरे परिवार के साथ रहने की कोई सुविधा नहीं दिखाई देती। अस्सी साल के पिता, साठ साल की विधवा बहन,—इन्हें अपनी सुविधा के लिए गाँव में कैसे छोड़ा जा सकता है? और

एक ही कमरे में रक्खा भी कैसे जा सकता है ?

'हाँ, वो तो है···

'बाबू साहब 'आत्माराम' हैं। दुनियादारी उन्हें छू भी नहीं गई है। मैं अपनी कठिनाइयों के ब्योरे पेश करूँ तो वह शायद कोई हल निकालें। मगर मैं क्या करूँ कि उनके पास घण्टों वेद-वेदान्त, साहित्य-संगीत की चर्चा तो कर सकता हूँ दुखड़ा नहीं रो सकता।

उन्हीं की वजह से मुझे संस्कृत कालेज की सरकारी नौकरी मिली है। नौकरी में मन नहीं लगता, दोनों जून की रोटियों के लिए सब करना पड़ता है। जब नौकरी नहीं थी, क्या-क्या न झेलना पड़ा था। मेरे गीतों में वेदना है, वह छायावाद का युगीन उपहार नहीं, मेरे कष्ट-क्लिष्ट जीवन की अश्लिष्ट ध्वनि ही है।···

× × ×

मेरे हालात तहरीर के काबिल नहीं हैं। मेरी जिन्दगी जैसे एक ऐसी बात है जिसमें कोई बात ही नहीं है। फिर भी जब दिन खाली जाते, साँसें टूटने लगतीं। यूं तो ऐसी निकम्मी सांसों का क्या ? तार तब भी तड़कने को होते तो कोई अनदेखा हाथ लपक कर गाँठ लगा देता। और इस तरह लेखन में एक अच्छी शुरुआत न सही, लम्बी खामोशी की जहमत भी नहीं उठानी पड़ती थी। जीवन के यथार्थ पर लीपापोती किए बगैर कूड़ा-कचरा जमा करना भी मुमकिन नहीं है। कलम घसीटने की बीमारी सामाजिक-आर्थिक पहलू बचाकर छिछली भावुकता को ही विशिष्ट बनाने में जुटी रही, युग-सत्य से टकराने की जुर्रत कहाँ ? व्यक्तिगत उपलब्धि हुई तो यही कि ज्यादती और विरोध का सीना तानकर सामना करता रहा। बेबुनियाद आक्षेप झेलने में मजा आने लगा। सम्मेलनों में मेरी अतिरिक्त साहित्यिक प्रतिष्ठा ने भी हवाई पैंतरों में नवल उत्तेजना भर दी थी। ऐसी-ऐसी मान्यताओं के बनाने-टूटने का एहसास मूर्ति तोड़नेवाले संग-दिलों को ही होना बाजिव है। मैं घुस-पैठ का तरफदार न रहा। घेराबन्दी न की, न किसी की मानी, फिर उससे बाहर निकलने को क्यों कर जरूरत महसूस होती ? दोहरी जिम्मेवारी मेरी थी कि अपनी निष्ठा और ईमानदारी लिखना और हजारों श्रोताओं की करतल ध्वनि से उसे लोक-संवेद्य प्रमाणित करना। राजनीतिक प्रतिबद्धता का कायल न

रहा, कितनी ही राजनीतिक कविताएं लिखीं ! जीवन के विविध पक्ष छूट जाते हैं, ऊबाऊ एकरसता हावी हो जाती है जब प्रतिबद्धता का आग्रह दुराग्रह का रूप ले लेता है। एक ही आइडिया के आसपास भटकने वाले जीवन के बहुरूपियेपन को नकारने की ज्यादती ही तो बरतते हैं ! सख्त-से दिखते दो निहायत नाजुक किनारे जीवन-प्रवाह को सन्तुलित रखकर दूर-दूर तक बहा ले जाते हैं। किनारे अपनी जगह टिके रहकर ही प्रवाह को प्रखर गति देते हैं, उन्हें छलाँग कर जीवन काफी कशमकश के बाद भी चार हाथ के फासले पर अपनी समाधि बना लेगा जिसे वह एक हद तक जड़ जमाना समझता हो तो कोई क्या कर सकता है ? प्राच्य-प्रतीच्य का अन्तर जीवन-दृष्टि और तदनुरूप समाधान को लेकर है।

× × ×

मेरी नादानी की वजह से निराला जी पाँचवें ही दिन प्रस्थान का निश्चय कर बैठे। किरण सूरज के थके-माँदे दिल की जलन भी तो हो सकती है ! मन की ममता लुटाता है सुमन, तब सुगन्ध धुलती है पवन में ! निष्ठुर काल मेरे जीवन के जो पृष्ठ न उड़ा सकेगा उन पर पेपर-वेट की तरह निराला की भीगी स्मृतियाँ ही होंगी। निराला क्या बार-बार होता है ? हुआ, हो गया !

मैं न रहूँगा जब, सूना होगा जग !
जानोगे तब, यह मङ्गल-कल रव सब—
था मेरे ही स्वर से सुन्दर, जगमगा
चला गया सब साथ !

मौसमी फूलों की बहार कोई और शय है ! जो पाँव उठाकर चले, पैर घिसते पहुँच गए ठीक-ठिकाने ! निरालों के गिर्द 'रुत आए, रुत जाए !', निरालों को ठाढ़ा देना नहीं होता, पकवाई देकर कच्ची खाने की नौबत नहीं आती। पौंड—एलियट की जुजबंदी से अन्धा युग रौशन हो, यहाँ दोनों की पगड़ी अटकने का हरघड़ी अन्देशा है ! ...

खादी की धोती की एक जोड़ी, कुर्ते के लिए मटका और एक चादर लाने जिसे भेजा था, वह निराला के सामने ही पैकेट लिए आ खड़ा हुआ। पूछने पर बता दिया—आपकी विदाई के लिए कपड़े मँगवाए हैं।

फिर क्या, भड़भूजे ने भाड़ में सूखी पत्तियाँ झोंक दीं। उठकर टहलने लगे—बिदाई? हवास ठिकाने है न? व्यवहार रामकृष्ण से निभाना। मुझे कोई बिदाइ नहीं चाहिए। हाथ खाली था, चाब न निकाल सका। बहू के लिए काफी कुछ लाना मुमकिन न हुआ। मुँह अँधेरे बनारस कैंट पहुँचने वाली शाम की गाड़ी से ही चल दिए।

जानता था, एक-ब-एक जाने कभी भी कह देंगे। चुपचाप चरणों में सुदामा की पोटली रख दूंगा, जब गाड़ी चल पड़ेगी। मित्र की मूर्खता से मन को मन में ही रह गई। निराला को मनाना आसान न था। मुमकिन है, पैकेट ने ही उन्हें तुरत चल देने को उकसाया हो! यहाँ के माहौल में, बाबू साहब के साथ मन लग गया था। मैंने भी मनसूबा बाँधा था कि···

त्याग—एक छोटा-सा शब्द किसी भी उपलब्धि से नहीं तुलता। अपनी मर्जी से कोई नहीं त्यागता, छिन जाने पर सभी हाय-हाय करते हैं!

मेरा पड़ोसी मित्र इतना चालाक है कि अपना उल्लू सीधा कर लेता है और दूसरे के जरा काम नहीं आता। कोई उस पर जान खो दे पर वह स्नेह की नजर भी न पा सकेगा। यों अब बहुत ही ऊँचा चढ़ गया है, मुझ-जैसों से अपनी ओर से बातें भी नहीं करता। मेरी बात बड़ी कर दी, मैं अपनी ही नजर में छोटा पड़ गया। आग भभूका बन जाता अगर मैं उसकी गलती उसे समझा देता। वही रहा, निराला चले गए।

Oh giver of Boons!
A great bull, a wooden staff, an axe a tiger skin,
ashes, snakes and a skull,
These be Thy chief possessions and adornments.
Varied is the wealth of other Devas,
But Thou careth not for these,
Which Thou with but a turn of Thine eye,
Hast on them bestowed.
The mirage of wordly things does not delude Him
Whose enjoyment is with the Self.

महोक्षः, खट्वाङ्गं, परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयन्तव वरद तन्त्रोपकरणम्
सुशस्तां तामृद्धि दधति तु भवद्भ्रू प्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषय मृगतृष्णा भ्रमयति।

× × ×

एक नम झोंका आया। हवा ही आती है यहाँ। आती है तो खिड़कियों, दरवाजों और छत की शहतीरों को झुला जाती है। सुधियों की विसुध हवा…

पद्मा की समाधि मकड़ी के जालों से घिर गई होगी। हृदय का रुधिर थर्रा कर जम जाता है। मैं किनारे पर ऊँघता हुआ, मृत्यु-से डरावने समय-प्रवाह की लोल लहरें गिन रहा हूँ।

कुत्तों की माँ मेरी गोद में मरी थी, उसके दो-दो सयाने बेटे थोड़े ही दिनों में अपने काले और लाल रंग से मेरे दहले दिल को नहला कर उसी धुन्ध में माँ को ढूँढ़ने निकल गए थे। मैं मुड़-मुड़ कर देखता रहता हूँ बेतहाशा भागे जाते क्षणों को, निष्फल यत्नों, अशक्त संकल्पों और अनिश्चित उड़ानों को। मेरे पंख आलस्य और अहंकार में तुड़-मुड़ गए। औरों की देखादेखी मैं अपने टूटे डैनों को हवा के थपेड़ों से टकराने की इजाजत न दूँगा।

नन्दिनी के बाद पद्मा ही देवी सरस्वती-सी एक-वर्ण उज्ज्वल और मानवीय संवेदनाओं से भरी, पवित्रता की मातृ-प्रतिमा थी। माँ, मैं तुम्हारी दिव्य आकृति विस्मृति की गङ्गा को अर्पित करता हूँ। मेरी आँखों के डोरे अब तुम्हारे पूजित चरणों से न लिपट पाएँगे; कृष्णायतन पर अब तुम्हारी चटक चाँदनी नहीं छाएगी। तो भी माँ पद्मा, निराशा और विषाद से परे एक और शक्ति है जो जिन्दगी के अन्धे मोड़ और त्वरित घुमाव पर मुझे तुम्हारी मृग-कातर दृष्टि और निरीह निर्मलता से मिलती रहेगी। तुम समाधिस्थ हो, झाँसा देकर पलकों से ओझल नहीं हुई। मनुआँ तुम्हारे ही आसपास मिट्टी के ढेर में दबी पड़ी है। तुमने कभी उसे मारा था। समाधि का क्षेत्र भले ही छोटा दिखता हो, वह अलक्ष्य भी है, असीम भी।

× × ×

एक दिन दोपहर में, जी में जाने क्या आया, आँखें कभी मूंदता,

कभी खोलता हुआ स्थिर कर लिया कि अब और रमना के सुरम्य वातावरण पर बोझ बनना ठीक नहीं। देखो न, ग्यारह महीने गुजर गए, माँ की प्रेरणा से इधर जो सौ रु० मासिक देने लगे थे, नहीं दे पाए। बड़ा मुश्किल काम है सब समझ कर भी रुपए माँगना। आठ साल तक मुँह खोलने से इन्कार करता रहा, अब क्या करूँ? ज्ञान-ध्यान हासिल करना भी तो कम नहीं है। मैंने यहाँ के हल्के एकान्त में जी भर कर पढ़ा और लिखा। बाबू साहब के निर्मल मन में दूसरे जमींदारों-जैसा फन-फरेब, जोड़-तोड़ नहीं है। तभी आफिस का भी वही हाल है। शैल की माँ के निधन का तार आया था तब तनख्वाह के कई महीनों के बकाया (केवल डेढ़ सौ) रुपयों के लिए तीन दिनों तक रुका रहना पड़ गया था।

बन्दापरवर के भरोसे बन्दा बना रह आया था। कभी दो पैसे भी हाथ पर होते तो मालेमुफ्त दिल बेरहम की अदा मेरी कोई भी देख सकता था। इसी मुख्तसर-सी कमाई की बदौलत मैं ख्वाबों में हातिमताई को चुनौती देता होता था। धोती के ऊपर पैरहननुमा लम्बा कुर्त्ता और चप्पल पहन पर काले घुँघराले बाल लहराता हुआ अलस्सबाह हवाखोरी के लिए जिस सड़क से गुजरता, किसी को भी मेरी खस्तगी का एहसास नहीं हो सकता था कि आखिर मैं किस खातिर दीदा व दानिस्ता खाक उड़ाता फिर रहा हूँ। दरहकीकत मुझे नाराजगी थी तो सिर्फ अपने आप से। मेरा दरवेशाना मिजाज किसी अहबाब से माँगना तो दरकिनार, अल्लाह ताला से भी दौलत का तलबगार न रहा। कोई काम और उसकी वाजिब मजूरी जरूर चाहता था। नाकद्र जमाने में नाकाम होना अकेला मेरा ही मुकद्दर न था।

जो चारों ओर चार डिक्शनरियाँ रख कर खत लिख पाता है, काम के मारे उसीका नाकोंदम है। सरकार उसी पर मेहरबान है, पब्लिक उसी को घेरे चल रही है। ढाई हाथ का बौना चीड़ बना फिरता है।

आवास और भोजन के अलावा केवल पच्चीस रु० पाकर मैं आठ साल ईश्वर की कृपा के गीत रचता और गाता रहा था। मायूस मन की मनाही थी, यों लोगों से मिलना मुझे नापसन्द न था।

बीच-बीच में अत्यन्त अवज्ञा के साथ ज़माने के रंग-ढंग पर आलस्यपूर्ण दृष्टि डाल लेता था। संसार से अनभिज्ञ और अपरिणाम-दर्शी तो था ही, दिन काटता रहता था कुछ लिख-लिखकर। जिन्होंने गैरत दाँव पर लगा दी, नीचतम उपायों का अवलम्बन किया, वह ऊँचे, और ऊँचे चढ़ते ही चले गए।

आठ वर्षों में आठ पुस्तकें लिख डालीं—गीतिकाव्य, कथाकाव्य, महाकाव्य—सब। गद्य में भी, कहानियाँ, निबन्ध, आलोचना, (चाँद, माधुरी, आरती, साधना, रूपवाणी, कमला, हिमालय आदि में प्रकाशित) ललित निबन्ध, संस्मरण आदि। बेशक यह सब किया, पर वही ढाक के तीन पात। साहित्य-पथ का सतत यात्री होकर भी सब दिन सिर झुकाए-झुकाए ही चला, कभी सामने न देखा। मेरी इस यात्रा ने कभी उत्सव का रूप नहीं लिया। मैं रथ से नहीं निकला था, मेरे प्रस्थान पर सूरज-चाँद-सितारों ने गगन गुँजा कर कभी प्रकाश-गान नहीं गाया।

रमना की प्रभात-सन्ध्याएँ, प्रकाश और अन्धकार—सब मेरी चेतना से एकाकार हो गए थे।

बाबू साहब के विराट देव-तन से मन के भिन्न-भिन्न भावों का गूढ़ और नित्य सम्बन्ध था। उन्हें मेरी बाह्य अकिञ्चनता अखरती अवश्य थी, तभी कभी उन्हें माँ ने स्वप्न भी दिया होगा और वह मुझे सौ रुपए और प्रतिमास देने भी लगे थे।

किन्तु मँहगाई कहीं झुकना नहीं जानती थी और अब मैं परिवार के साथ रहने लगा था। अकेले-अकेले की बात और थी। असह सह्य।

मैंने देर तक सोचा : मुझे अब रंग-सुगन्ध-भरी हवा और आनन्द-भरे माहौल का मोह छोड़ना ही होगा। अब इस खुले आकाश के प्रसन्न प्रकाश से आँखें चुरानी ही होंगी। धुँधलका पुकार रहा है। माटी रहस्यपूर्ण संकेत से पक्की दीवारों को निहार रही है।

तो अब एक बार और मिलकर बाबू साहब को बता दूँ कि आपसे मिलना ही सत्य न था, बिछड़ना भी सत्य है। मेरी साहित्य-साधना के उपयुक्त आप द्वारा दिया हुआ यह प्रशान्त एकान्त ही सत्य न था, जीवन की दारुण प्रवञ्चनाएँ कहती हैं कि धूल-धूल गन्दे अँधेरे के

सायों को इतनी निर्मलता सह्य नहीं है। औकात और हैसियत भूल गया था यहाँ, अब जिन्दगी की असलियत से आँखें चार करने की इजाजत चाहूँगा।

मैं बहुत भी कहूँगा तो यही—घर बसाने की इजाजत लेने आया हूँ। हुजूर के शोर-शराबे में मेरी आवाज खो न जाए इसलिए तनहाई का सहारा लिया है। वक्त की रफ्तार में मैं पीछे छूट गया हूँ। ऐसा नावाकिफ रहा हकीकत से कि 'नीके दिन' का इन्तजार ही करता रह गया। रूह को सुकून नसीब नहीं, तो यही सही। परिवार को मेरे इस मुस्तकिल निकम्मेपन का एहसास तो न हो, उसने मेरी तेज साँसों से कितनी-कितनी उम्मीदें बाँध रखी हैं! यहाँ आठ साल मैंने कैसे गुजारे, किसी को नहीं जानने दिया। यह भी नहीं कि आसमान में मेरे ही ख्वाबों का धुआँ फैला है, कहीं सफेद घना कुहासा नहीं छाया है कि कोई पौ फटने का और इन्तजार करे!

बासुकी का विष उतारने वाली मधुर वाणी बोलने में माहिर मैं नहीं हूँ।

हाथ में कुल्हाड़ी लेकर वक्त के बढ़ई को आते देख इस पेड़ के दिल पर क्या गुजरती है ? :

हम्म कटे की कुछ नहीं,
पंखेरू घर भाग!

•

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य-सर्जना

- **काव्य** (प्रकाशित) :
  1- रूप-अरूप, 2- तीर-तरंग, 3- शिप्रा, 4- मेघ गीत, 5- अवन्तिका, 6- संगम, 7- उत्पल दल, 8- राधा (प्रणय पर्व, पुरुषार्थ पर्व, दर्शन पर्व, विनोद पर्व, निर्वेद पर्व), 9- आधुनिक कवि :(भाग-14), 10- बाल लता, 11- धूप तरी, 12- श्यामा-संगीत.
  (अप्रकाशित) : 13- राधा (प्रभास पर्व, उत्सर्ग पर्व), 14- हंस किंकिणी, 15- सुरसरि, 16- शिशिर-किरण, 17- वैसाखी, 18- प्यासी पृथ्वी, 19- धूप दुपहर की (ग़ज़ल-संग्रह), 20- सप्तपर्ण,
- **गीति-नाट्य** : 21- पाषाणी, 22- तमसा, 23- इरावती
- **उपन्यास** : (प्रकाशित) 24- एक किरण : सौ झाइयाँ, (अप्रकाशित) 25- दो तिनकों का घोंसला, 26- कालिदास, 27- अश्वबुद्ध,
- **कहानी** (प्रकाशित) : 28- कानन, 29- अपर्णा, 30- लीला-कमल, 31- बाँसों का झुरमुट, (अप्रकाशित) 32- चलन्तिका.
- **कथा-काव्य** : 33- गाथा,
- **नाटक** : (अप्रकाशित) 34- अशोकवन 35- सत्यकाम, 36- ज़िन्दगी, 37- आदमी, 38- प्रतिध्वनि, 39- देवी, 40- नील झील
- **ललित-निबन्ध** : (प्रकाशित) 41- मन की बात (अप्रकाशित) 42- जो न बिक सकीं,
- **संस्मरण-आत्मकथा** : 43- स्मृति के वातायन, 44- निराला के पत्र, 45- नाट्यसम्राट् : श्री पृथ्वीराज कपूर, 46- हंसबलाका, 47- कर्मक्षेत्रे : मरुक्षेत्रे, 48- एक असाहित्यिक की डायरी, 49- अष्टपदी, 50- नीललोहित : **अप्रकाशित**
- **समीक्षा** : 51- साहित्य-दर्शन, 52- चिन्ताधारा, 53- प्राच्य-साहित्य, 54- त्रयी, 55- महाकवि निराला (सम्पादित), 56- मानस-चिन्तन (सम्पादित) अप्रकाशित : चण्डीदास, 58- अनकहा निराला, 59- स्थायी भाव और सामयिक साहित्य
- सम्पादन : राका, बेला.

॥ अष्टपदी ॥

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री



प्रीति मन्दिर प्रकाशन